स्वामी दयानन्द का
राजनीतिक दर्शन

लेखक

डॉ. लाल साहब सिंह

प्रवक्ता, राजनीति विज्ञान विभाग,
रणवीर रणंजय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
अमेठी, सुलतानपुर (उ.प्र.)

'आर्य-संसार' का वार्षिक विशेषांक
नवम्बर-दिसम्बर 1989

1990

प्रकाशक

आर्य समाज, कलकत्ता

19, विधान सरणी,
कलकत्ता-700006

प्रथम संस्करण—1990 ई०

□

मूल्य : पचास रुपये मात्र

□

प्रकाशक :

राजेन्द्र प्रसाद जायसवाल, मन्त्री

आर्य समाज कलकत्ता

19, विधान सरणी

कलकत्ता-700006

□

मुद्रक :

चन्द्रकान्त झा

एसोशिएटेड आर्ट प्रिण्टर्स

7/2, बीडन रो,

कलकत्ता-700006

□

प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ

अवध विश्वविद्यालय फैजाबाद (उ० प्र०) द्वारा राजनीति विज्ञान विषय में डॉ० ऑफ फिलॉसफी उपाधि-हेतु स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का संशोधित एवं परिवर्धित स्वरूप है ।



समर्पण

प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ के प्रेरक,

वैदिक धर्म-प्रचार, शिक्षा-प्रसार और समाज-सुधार के व्रती; स्वदेशी, स्वभाषा और स्वराज्य के समुपासक; महर्षि दयानन्द के अनुयायी; आर्य प्रतिनिधि सभा उ० प्र० के अध्यक्ष, केन्द्रीय धारा सभा (1926 ई०), लोकसभा, विधानसभा और विधान परिषद् के सम्माननीय सदस्य, साहित्यवाचस्पति, आर्यनरेश

स्वर्गीय राजर्षि श्रीमान् राजा रणञ्जय सिंह

अमेठी (सुलतानपुर, उ० प्र०)

की

पुण्य स्मृति में सादर समर्पित

—लाल साहब सिंह

❀ प्रकाशकीय ❀

आर्य-संसार आर्य समाज कलकत्ता का मासिक मुखपत्र है। आर्य समाज कलकत्ता का वार्षिकोत्सव प्रतिवर्ष दिसम्बर के अन्तिम दिनों में मनाया जाता है। इस नव दिवसीय उत्सव की सारी विशेषताओं के साथ एक विशेषता यह भी है कि इसी समय आर्य-संसार का वार्षिक विशेषांक आर्य संसार के पाठकों एवं आर्य समाज कलकत्ता के सहयोगी महानुभावों को भेंट किया जाता है। यह आर्य-संसार का प्रायः नवम्बर-दिसम्बर का संयुक्तांक होता है। पिछले २०-२१ वर्षों से आर्य समाज कलकत्ता ने अपने इस विशेषांक को इस प्रकार अधिक उपादेय बनाने का प्रयास किया है कि इस अवसर पर विशेषांक के रूप में हम किसी ऐसे दुर्लभ उपयोगी ग्रन्थ का प्रकाशन करते हैं जो व्यावसायिक दृष्टि से प्रकाशकों के लिये आकर्षक नहीं होता। इस शृंखला में अब तक १८-२० ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। इस साहित्यिक एवं प्रचारात्मक सेवा का मूल्यांकन तो हम इस क्षेत्र के सुधी-अनुभवी विद्वानों पर छोड़ रहे हैं, किन्तु इतना आत्म-सन्तोष तो अवश्य है कि यह अपने में नगण्य उपलब्धि नहीं है।

आर्य समाज कलकत्ता कोई व्यावसायिक प्रकाशक तो है नहीं, फिर भी प्रचार की दृष्टि से हिन्दी और बंगला में छोटे-बड़े बहुत से ग्रन्थों का प्रकाशन होता ही रहता है और सुधी पाठकों के उत्साह एवं प्रेरणावर्धक विचार हमें आगे बढ़ने में सहायता देते रहते हैं।

कोई दस वर्ष पूर्व १८८१ ई० में हमने आदरणीय विद्वान् डॉ० योगेन्द्र कुमारजी शास्त्री का शोध-प्रबन्ध—'त्रैतवाद का उद्भव और विकास" प्रकाशित किया था। पिछले वर्ष आर्य समाज के प्रतिष्ठित नयी पीढ़ी के उदीयमान विद्वान् डॉ० ज्वलन्त कुमारजी शास्त्री से हमें प्रस्तुत ग्रन्थ का परिचय मिला। ग्रन्थ की उपादेयता सुस्पष्ट थी, किन्तु नवयुवक विद्वान् लेखक का शोध-प्रबन्ध व्यावसायिक दृष्टि से कितना प्रेरणाप्रद होगा, यह भी हमारे लिये अधिक अपरिचित न था। हमने बानगी के रूप में दो-तीन अध्याय देखे। लेखक का प्रयास, विस्तृत अध्ययन, गम्भीर

विश्लेषण शैली, सामग्री-संकलन की क्षमता एवं पटुता ने मुझे आकृष्ट कर लिया। स्वामी दयानन्दजी एक वीतराग निस्पृह संन्यासी थे, महान् विद्वान् और सुधारक महापुरुष थे। उनके साहित्य में राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष पर चिन्तन-मनन और वर्त्तमान की राजनीतिक चिन्तनधारा में उन्हें पिरोने का प्रयास एक कार्य है, किन्तु सैद्धान्तिक राजनीति विज्ञान के साथ व्यावहारिक राजनीति विज्ञान को स्वामीजी के ग्रन्थों, पत्रों, विज्ञापनों आदि से अन्वेषण करना डॉ० लाल साहब सिंह की प्रशंसनीय उपलब्धि है। इस ग्रन्थ में सैद्धान्तिक राजनीति विज्ञान के साथ ही व्यावहारिक राजनीति विज्ञान का सूक्ष्मेक्षिकया विवेचन इतना विपुल एवं उद्धरण-बहुल है कि ग्रन्थ के प्रत्येक पृष्ठ पर विद्वान् लेखक के गम्भीर अध्ययन एवं परिश्रम की छाप ऋषिभक्त हृदय को अनायास ही छू लेती है।

हम इस राजनीतिक दर्शन के आदरणीय लेखक को साधुवाद देते हैं और ऋषिभक्त होने की सहधर्मिता के आधार पर आशा करते हैं कि इनकी सारस्वत-साधना से सधी हुई लेखनी भविष्य में और भी सुन्दर सृजन करेगी।

आर्य-संसार का विशेषांक १५०-२०० पृष्ठों की सीमा में रहता है। प्रस्तुत ग्रन्थ ४०० से भी अधिक पृष्ठों में पूर्ण हुआ है। महर्घता और बहु-विध व्यय-बहुलता के इस युग में बजट से बहुत अधिक व्यय हो गया है। आर्य समाज कलकत्ता के अधिकारियों को मैं अपनी ओर से व्यक्तिगत धन्यवाद देता हूँ। उन्होंने हमारे निर्णय पर अपने बजट से बाहर होकर इतना व्ययसाध्य कार्य बड़ी उदारता और उत्साह से करने की हमें स्वीकृति दी, यह उनकी भी ग्रन्थ की गुण ग्राहकता और ऋषि-भक्ति का प्रबल प्रमाण है। प्रभु की कृपा से हमारे अधिकारियों में यह उदारतापूर्ण शक्ति-भक्ति बनी रहे, यह मंगलकामना करता हूँ।

हमने ग्रन्थ को सुन्दर बनाने का पूर्ण प्रयास किया है ताकि प्रकाशन एवं मुद्रण की दृष्टि से कोई त्रुटि-विच्युति न हो जाय। हम एशोशियेटेड आर्ट प्रिन्टर्स और श्री राजकुमार जी मल्लिक का भी धन्यवाद करते हैं, जिनके सहयोग से यह ग्रन्थ इतने सुन्दर रूप में प्रकाशित हो सका है। ग्रन्थ के कलेवर के कारण प्रकाशन में विलम्ब के लिये हम अपने कृपालु पाठकों से क्षमाप्रार्थी हैं। विदुषां वशंवदः

उमाकान्त उपाध्याय
सम्पादक, आर्य-संसार

पुरोवाक्

• • •

हमारे वर्त्तमान राजनीतिक चिन्तन का आधार पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन एवं उसकी वे परम्पराएँ हैं, जो भारतीय राष्ट्रीय संस्कार और संस्कृति के मूलाधारों से सर्वथा असम्पृक्त हैं। यही कारण है कि भारतीयों में वांछित राजनीतिक मूल्यों का सृजन तथा सुदृढ़ राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण नहीं हो पा रहा है। इसका दुष्परिणाम सर्वत्र अस्थिरता, संघर्ष, हिंसा तथा मूल्यहीनता के वातावरण के रूप में व्याप्त है। अतः, समय की माँग है कि भारतीय संस्कृति एवं संस्कार-युक्त राजनीतिक चिन्तन का अनुशीलन किया जाय, जो भारतीय ही नहीं, अपितु विश्व-राजनीति की समस्याओं के समाधान में सर्वथा सहायक सिद्ध हो सके।

इसी विश्वास और आवश्यकता के आधार पर मुझे आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन में उन्नीसवीं सदी के पुनर्जागरण के पुरोधा, स्वामी दयानन्द सरस्वती का राजनीतिक दर्शन सर्वथा मौलिक, अद्वितीय एवं उपादेय प्रतीत हुआ है। उनके राज-दर्शन में वे समस्त शाश्वत तत्त्व सन्निहित हैं, जिनके द्वारा वर्त्तमान समस्याओं का सम्यक् समाधान सम्भव है।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन मूलतः भारतीय राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य संग्राम एवं तज्जनित नवचेतना का परिणाम है। स्वामी दयानन्द आधुनिक भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओं में मूर्धन्य हैं। इन्होंने राष्ट्रवादी चिन्तन को आध्यात्मिकता का कलेवर प्रदान कर भारतीयों में राष्ट्र-प्रेम, स्वदेशी, स्वभाषा (हिन्दी), स्वधर्म (वैदिक), स्वराज्य एवं स्वसंस्कृति के प्रति अनुराग उत्पन्न किया, साथ ही विदेशी राजनीतिक तथा मानसिक दासता के प्रति घृणा और विरक्ति भी। पाश्चात्य मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तक सेण्ट पॉल, मार्टिन लूथर, काल्विन आदि की भाँति ही स्वामी दयानन्द भी सन्त राजनीतिक दार्शनिकों की परम्परा में आते हैं। वे प्राचीन एवं अर्वाचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के संगम-स्थल हैं। उनके चिन्तन में वैदिक एवं मनुस्मृत्यादि आर्षग्रन्थों के सन्दर्भ विद्यमान हैं।

यह सत्य है कि दयानन्द ने सक्रिय राजनीति में कभी भाग नहीं लिया था, तथापि उनके चिन्तन ने भारतीय राष्ट्रवाद को उसी प्रकार प्रेरणा दी है, जिस प्रकार महात्मा सुकरात, प्लेटो और अरस्तू के चिन्तन ने यूनान को; मैकियावेली ने इटली के पुनर्जागरण को, थॉमस हाब्स और जॉन लॉक के दर्शन ने इङ्गलैण्ड को, रूसो ने फ्रांस को राज्य-क्रान्ति को, जर्मनी के हीगेल तथा काण्ट ने यूरोपीय राष्ट्रवाद को एवं कार्ल मार्क्स के चिन्तन ने सोवियत रूस की क्रान्ति को प्रेरणा प्रदान की है। दयानन्द का प्रयास मात्र व्यक्तिगत ही नहीं, अपितु संस्थागत (आर्य समाज) भी था, जिसके पुरोगम में शीघ्र ही जनान्दोलन का श्रीगणेश तथा स्वामी श्रद्धानन्द तथा पंजाब केशरी लाला लाजपत राय जैसे अनेकशः क्रान्तिदूतों का आविर्भाव हुआ। उनकी प्रातःकालीन आध्यात्मिक प्रार्थनाएँ भी राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत हैं। उन्होंने ही सर्वप्रथम 'वेदों की ओर लौटने' तथा 'आर्यावर्त्त आर्यों के लिए' का नारा दिया, कालान्तर में जिसकी राजनीतिक निष्पत्ति 'भारत भारतीयों के लिए है' के रूप में हुई।

दयानन्द ने राज्य का आधुनिक अर्थों में प्रतिपादन मात्र ही नहीं किया है, अपितु शासन को कला और वैज्ञानिक पद्धति का वेदशास्त्र एवं आर्षग्रन्थ सम्मत दार्शनिक विवेचन भी किया है। यही नहीं, अपितु मानव-कल्याण-हेतु (लौकिक एवं पारलौकिक) शासन को जो कुछ भी करणीय है, उनका उल्लेख करते हुए दयानन्द ने लोक कल्याणकारी राज्य की आधुनिक अवधारणा का निष्पादन भी किया है। उनके राजनीतिक दर्शन में निहित शाश्वत तत्त्व का क्रमबद्ध, श्रेणोबद्ध तथा विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना हो इस शोध ग्रन्थ का उद्देश्य है, जिसके अनुशीलन तथा अनुसरण से वर्तमान राजनोतिक पद्धति, प्रक्रिया एवं प्रवृत्ति में अपेक्षित सुधार तथा राष्ट्रीय और अन्तर-राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान किया जा सकता है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ तेरह अध्यायों में विभक्त है तथा एक परिशिष्ट के रूप में दयानन्द की प्रजातान्त्रिक अवधारणा का विवेचन करते हुए उन पर आरोपित साम्प्रदायिकता का खण्डन किया गया है। प्रथम अध्याय 'भूमिका' में दयानन्द कालीन भारत की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति की समीक्षा करते हुए भारतीय नवजागरण की कतिपय प्रमुख प्रवृत्तियों का संक्षिप्त मूल्याङ्कन किया गया है।

द्वितीय अध्याय 'राज-धर्म' को अवधारणा तथा धर्म की सम्प्रभुता के विवेचन से सम्बन्धित है और तृतीय अध्याय में स्वामी दयानन्द के 'राजत्व के सिद्धान्तों' का अध्ययन किया गया है, जिसमें राज्य की उत्पत्ति, प्रकृति तथा स्वरूप आदि का उल्लेख है। अध्याय चतुर्थ, पंचम षष्ठ तथा सप्तम 'शासन-व्यवस्था' के प्रमुख कारकों एवं संस्थाओं से सम्बद्ध है, जिसके अन्तर्गत राजा, तोनों सभाओं, मन्त्रो, अधिकारी-कर्मचारी एवं दूतों की अर्हता, संख्या, नियुक्ति (चयन), कार्य-विधि, उद्देश्य तथा कार्यों (राज्य के कार्य) आदि का विस्तृत विश्लेषण किया

गया है। अष्टम अध्याय 'स्थानीय स्वशासन' के सम्बन्ध में है, जिसमें ग्राम, पुर, नगर आदि स्थानीय इकाइयों के संगठन आदि का उल्लेख है। नवम, दशम तथा एकादश अध्याय में क्रमशः राज्य की न्याय-व्यवस्था, रक्षा-व्यवस्था तथा अर्थ-व्यवस्था के बहुआयामीय पक्षों एवं तथ्यों का विस्तृत विवेचन किया गया है, जबकि द्वादश अध्याय दयानन्द के 'राष्ट्रवाद' विषयक स्वदेशी, स्वभाषा, स्वधर्म, स्वराज्य तथा चक्रवर्त्ती आर्य राज्य की अवधारणाओं के विश्लेषण से सम्बन्धित है। अन्तिम अध्याय 'उपसंहार' में स्वामी जी के चिन्तन के बहुपक्षीय अवदानों की समीक्षा करते हुए लेखक ने वर्त्तमान परिस्थितियों में महर्षि के राजनीतिक दर्शन की उपादेयता एवं समीचीनता पर प्रकाश डाला है।

मैं परमपूज्य गुरुवर्य डॉ० नागेन्द्र नाथ पाण्डेय (विभागाध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग, गनपत सहाय स्नातकोत्तर महाविद्यालय सुलतानपुर) के प्रति श्रद्धावनत हूँ, जिनके कुशल निर्देशन में यह शोध कार्य सम्पन्न हो सका है। आर्यसमाज के प्रसिद्ध मनीषी तथा वैज्ञानिक परिव्राजक डॉ० स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती (भूतपूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद), आर्य साहित्य के गवेषक डॉ० शिवपूजन सिंह कुशवाह (वेद मन्दिर, ज्वालापुर, हरिद्वार), श्रद्धेय आचार्य प्रवर प्रो० रघुवीर सिंह (भूतपूर्व अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर) तथा डॉ० श्रीमती शांतिदेव बाला (भूतपूर्व रीडर, राज० वि० विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय) के प्रति आभार व्यक्त करना अपना परम धर्म समझता हूँ जिनके द्वारा प्रदत्त शोध-सामग्री, प्रेरणा, सुझाव और आशीर्वाद के फलस्वरूप यह कार्य सम्भव हो सका है। मैं उक्त मनीषियों एवं विद्वद्वर्य महानुभावों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए प्रसन्नता का अनुभव करता हूँ।

शोध सामग्री-संकलन के सन्दर्भ में प्रख्यात आर्य विद्वान् और शोध प्रज्ञ लेखक डॉ० भवानी लाल भारतीय (भूतपूर्व प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,

दयानन्द चेयर फॉर वैदिक स्टडीज, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़) ने लेखक को चण्डीगढ़ में अपने घर पर अत्यन्त आत्मीयभाव से सप्ताहान्त आवासादि की व्यवस्था कर तथा पश्चात् पत्र व्यवहार द्वारा जो प्रेरणा और निर्देश दिया है, उसके प्रति मैं कृतज्ञभाव से ओत-प्रोत हूँ। इसी प्रसंग में मैं अपने महाविद्यालय के सहयोगी परममित्र एवं आर्यसमाज के युवा विद्वान् वक्ता डॉ० ज्वलन्त कुमार शास्त्री (प्रवक्ता, संस्कृत विभाग) के प्रति आभारी हूँ, जिन्होंने मेरे प्रमाद, आलस्य और अकर्मण्यता पर प्रहार कर मुझे शोध-कार्य एवं ग्रन्थ-लेखन-हेतु निरन्तर गतिशील बनाए रखा तथा अपने सक्रिय सहयोग से मेरी सामर्थ्य वृद्धि की है।

सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार तथा दयानन्द शोध-पीठ, पंजाब वि० वि० चण्डीगढ़ के अधिकारियों एवं कर्मचारियों को साधुवाद देता हूँ, जिन्होंने शोध-सामग्री-संचयन-हेतु मुझे अत्यन्त सहयोग और सहायता प्रदान की है। मैं उन समस्त विद्वान् लेखकों का आभारी और कृतज्ञ हूँ, जिनकी कृतियों, प्रपत्रों तथा लेखों आदि के अनुशीलन से इस शोध-ग्रन्थ का कलेवर निर्मित हुआ है।

स्वामी दयानन्द के राजनीतिक दर्शन विषयक मेरे शोध-प्रबन्ध को प्रकाशित करने की प्रेरणा आर्य समाज के ख्यातिलब्ध मनीषी, लेखक और चिन्तक माननीय प्रो० पं० उमाकान्त उपाध्याय ने दी। इस ग्रन्थ के वैशिष्ट्य हेतु दिए गए उनके निर्देश, स्नेहमयी प्रेरणा और विचार-सरणि के आधार पर मैं अपनी शोध-कृति का पुनर्लेखन, प्रमाण सहित उपबृंहण तथा समग्र रूप में सांगोपांग प्रस्तुतीकरण कर सका। अतः उनकी इस अहैतुकी कृपा के लिए मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

मेरे शोध-ग्रन्थ को प्रकाश में लाने तथा पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का सम्पूर्ण श्रेय आर्य समाज कलकत्ता (19, विधान सरणी) के सम्माननीय अधिकारियों एव आर्य सभासदों को है। इनके इस

अप्रतिम सहयोग के बिना यह पुनीत कार्य सम्भव ही नहीं था। अतः इन समस्त आर्य भद्र महानुभावों के प्रति मैं हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

पूज्या माता जी श्रीमती अनारकली देवी तथा श्रद्धेय पितृवर्य श्री राजदेव सिंह, जिनका अमित वात्सल्य और आशीर्वचन ही मेरा जीवन-सम्बल है, के प्रति कृतज्ञतावबोधक शब्द मेरे पास नहीं है। उनके ऋण से इस जन्म में मुक्ति सम्भव नहीं है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से उनका प्रसन्न होना स्वाभाविक है। सहधर्मिणी श्रीमती शारदा सिंह, अनुज अशोक, सन्तोष और दुर्गेश, पुत्री प्रवीणा एवं प्रज्ञा तथा पुत्र शरदेन्दु के सहयोग आदि के विषय में अधिक कुछ कहना तो स्वात्म-प्रशंसा होगी, अतः इनके प्रति मैं अपनी अशेष शुभ कामनाएँ व्यक्त करके ही विरत होता हूँ। मेरी उपलब्धि इनकी भी उपलब्धि है।

मनुष्य स्वल्पज्ञ है, अतएव इस कार्य को सावधानता से करते हुए भी कहीं-कहीं लेखन एवं मुद्रण सम्बन्धी त्रुटि हो जाना सम्भव है। यदि सुधी पाठक इसे पढ़कर भारतीय नवजागरण के पुरोधा स्वामी दयानन्द सरस्वती के राजनीतिक दर्शन की स्पष्ट छवि अपने मानस में प्रतिष्ठित कर सकें, तो लेखक का श्रम सफल होगा। इस ग्रन्थ पर विद्वद्गणों की समीक्षा, सुझाव और प्रतिक्रियाओं का मैं स्वागत करूँगा।

कार्त्तिक अमावस्या, दीपावली
ऋषि दयानन्द निर्वाण दिवस
2046 वि०
29 अक्टूबर, 1989 ई०

लाल साहब सिंह

संकेत-सूची

आर्याभि०	आर्याभिविनय
आर्यो०	आर्योद्देश्य रत्नमाला
ऋ० भा०	ऋग्वेद-भाष्य
ऋ० भा० भू०	ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका
ऋ० द० स० के प० और वि०	ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन
ऋ० द० स० के शा० और प्र०	ऋषि दयानन्द सरस्वती के शास्त्रार्थ और प्रवचन
गो० नि०	गोकरुणानिधि
द० ल० ग्र० सं०	दयानन्दीय लघु ग्रन्थ संग्रह
पू० प्र०	पूना-प्रवचन
यजु० भा०	यजुर्वेद-भाष्य
व्य० भा०	व्यवहारभानु
स० प्र०	सत्यार्थ प्रकाश
सं० वा० प्र०	संस्कृत वाक्यप्रबोध
सं० वि०	संस्कारविधि
अर्थ० शा०	अर्थशास्त्र
का० नीति०	कामन्दक नीतिसार
मनु०	मनुस्मृति
महा० शा० प०	महाभारत शान्ति पर्व
याज्ञ०	याज्ञवल्क्य स्मृति
शुक्र०	शुक्रनीतिसार

अनुक्रमणिका

प्रकाशकीय—प्रो० उमाकान्त उपाध्याय

पुरोवाक् v

संकेत-सूची xi

अध्यायक्रम पृष्ठ

1— भूमिका : 4—30

(अ) स्वामी दयानन्द कालीन भारत 4

(i) राजनीतिक स्थिति 5

(ii) आर्थिक स्थिति 6

(iii) सामाजिक स्थिति 10

(iv) धार्मिक स्थिति 12

(ब) भारत में नवजागरण का सूत्रपात 16

(i) नवजागरण का अर्थ 16

(ii) नवजागरण की प्रमुख प्रवृत्तियाँ 17

2— राज-धर्म की अवधारणा : 31—49

(i) राजनीतिक दर्शन की पाश्चात्य अवधारणा 31

(ii) राजनीतिक दर्शन की भारतीय अवधारणा 33

(क) दण्डनीति (ख) अर्थशास्त्र

(ग) नीतिशास्त्र (घ) राज-धर्म

(iii) राज-धर्म की दयानन्दीय अवधारणा 35

(iv) भारतीय चिन्तन में धर्म की संकल्पना 38

(v) धर्म की सम्प्रभुता 42

3— राजत्व का सिद्धान्त : 50—63

(i) राज्योत्पत्ति (राजा की उत्पत्ति) की अवधारणा 50

(ii) वंशानुगत एवं एकतन्त्रीय स्वेच्छाचारी राजत्व का खण्डन 53
(iii) शासक-वर्ग सेवक है, स्वामी नहीं 55
(iv) राज्य का सावयव-सिद्धान्त 58
(v) दण्ड ही राजा है 60

4— राज्य (राजा) के उद्देश्य एवं कार्य : 64—86
(i) प्रजा का पालन, रंजन, संरक्षण एवं अभिवृद्धि करना 66
(ii) आन्तरिक शांति एवं सुव्यवस्था की स्थापना तथा वाह्य शत्रुओं से राष्ट्र की रक्षा 68
(iii) भौतिक सुख-साधनों की अभिवृद्धि 69
(iv) वर्णाश्रम-व्यवस्था का सुचारु संचालन 70
(क) वर्ण का अर्थ और प्रकार (ज) वर्ण-निर्धारण (ग) आश्रम-व्यवस्था 71
(v) शिक्षा की व्यवस्था करना 72
(क) अनिवार्य शिक्षा (ख) विद्यालय-व्यवस्था (ग) स्त्री-शिक्षा
(vi) स्वास्थ्य-संरक्षण 78
(vii) वन-सम्पदा का संरक्षण और प्रदूषण को समाप्त करना 79
(viii) अन्य कार्य 80

5— राजा : 87—106
(i) राजा की अर्हताएँ 88
(ii) राजा दुर्व्यसनों का त्याग करे 89
(iii) राजा का चयन 91
(क) प्रजा द्वारा चयन (ख) सभा द्वारा चयन (ग) सभा एवं प्रजा दोनों द्वारा चयन (घ) राज-पुरुषों और प्रजा-पुरुषों द्वारा चयन
(iv) राज्याभिषेक, राज्य-काल एवं पदच्युति 95
(v) राजा की शिक्षा 97
(vi) राजा की दिन-चर्या 100

6— सभा : 107—127

(i) सभा का अर्थ 107
(ii) सभा के प्रकार 108
(iii) सभा का महत्त्व 109
(iv) सभासदों की संख्या 110
(v) सभासदों की अर्हताएँ 111
(vi) सभासदों का चयन 113
(vii) सभासदों द्वारा शपथ-ग्रहण 114
(viii) सभा की कार्य-विधि 115
(क) सभा में प्रवेश (ख) कार्यवाही-हेतु आवश्यक कोरम (गणपूर्ति) (ग) निर्णय-प्रक्रिया (घ) निर्णायक मत एवं जनमत-संग्रह
(ix) तीनों सभाओं के कार्य 118
(क) राजार्य सभा के कार्य 120
(ख) धर्मार्य सभा के कार्य 122
(ग) विद्यार्य सभा के कार्य 123

7— शासन-संचालन के प्रमुख अभिकरण : 128—148

(अ) मन्त्री : 130
(i) मन्त्रियों की संख्या 130
(ii) मन्त्रियों की अर्हताएँ 130
(iii) मन्त्रियों की नियुक्ति 131
(iv) मन्त्रणा-विषय 131
(v) मन्त्र-गोपन 132
(vi) मन्त्रियों के कार्य 132
(ब) अधिकारी एवं कर्मचारी : 133
(i) संख्या 134
(ii) अर्हताएँ 134
(iii) नियुक्ति 135
(iv) वेतन-पेन्शन 136
(v) आचार-संहिता 138

(vi) राजपुरुषों के कार्यों का गोपनीय निरीक्षण तथा दण्ड की व्यवस्था 139
(vii) विभाग-विभाजन 140
(viii) अधिकारियों एवं राजकर्मियों के कार्य 142
(स) दूत-व्यवस्था 143

8— स्थानीय स्वशासन : 149—153

9— न्याय-व्यवस्था : 154—192

(अ) विधि की संकल्पना 154
(i) विधि का अर्थ 155
(ii) विधि के उद्देश्य 156
(iii) विधि के स्रोत 157
(vi) विधि-निर्माण-प्रक्रिया 157
(v) विधि का अनुपालन 158
(ब) न्याय की संकल्पना 160
(i) न्याय का अर्थ एवं महत्त्व 160
(ii) न्यायिक संगठन 162
(iii) न्यायाधीशों की अर्हताएँ 164
(iv) न्याय प्रशासन में स्त्रियों की सहभागिता 165
(v) न्यायालय में न्यायाधीश का व्यवहार 165
(vi) न्याय-कार्य का समय 166
(vii) विवादों के प्रकार (भेद) 167
(viii) साक्षी 168
(ix) शपथ 169
(x) बहस एवं साक्ष्य-प्रक्रिया 170
(xi) स्त्रियों का साक्ष्य स्त्री (रानी या वकील) ले 172
(xii) निर्णय—न्यायाधीश निष्पक्षता का त्याग न करे 173
(स) दण्ड-विधान : 175-192
(i) सम्यक् दण्ड की अवधारणा 175
(ii) दण्ड का उद्देश्य 176

(iii) दण्ड प्रकार (भेद) 177-182
(क) झूठे साक्षी को दण्ड (ख) चोर, डाकू एवं साहसिक (बलात्कारी) को दण्ड (ग) वेद-शास्त्र-विरोधी अधर्मी को दण्ड (घ) व्यभिचारी स्त्री-पुरुष को दण्ड (ङ) आर्थिक अपराधी को दण्ड (च) मद्यप, पशु हिंसक तथा जुआरी को दण्ड (छ) राजपुरुषों को दण्ड (ज) राजा-रानी को दण्ड।
(iv) विवेक-सम्मत दण्ड-व्यवस्था 183
(v) दयानन्द-प्रतिपादित दण्ड-व्यवस्था कठोर नहीं है 184

10— रक्षा-व्यवस्था : 193—236

(अ) सैन्य संगठन 193
(i) सेना के प्रकार 194
(ii) सैनिकों की संख्या 194
(iii) सैनिकों की अर्हताएँ 195
(iv) सेनापति एवं सेना के अन्य अधिकारी 196
(v) युद्ध में स्त्रियों की सहभागिता 197
(vi) सैनिकों का शिक्षण-प्रशिक्षण 198
(क) व्यूहन (ख) शस्त्रास्त्र-प्रयोग-प्रशिक्षण
(ग) तार-विद्या
(vii) सैनिकों के भोजन, चिकित्सा एवं मनोरंजन की व्यवस्था 201
(viii) युद्धोपरान्त सैनिकों का सम्मान और उनके परिवारों की व्यवस्था 203
(ब) दुर्ग-व्यवस्था : 205
(स) युद्ध-प्रकरण : 206-218
(i) युद्ध के उद्देश्य 207
(ii) युद्ध में ईश्वर पर विश्वास आवश्यक 209
(iii युद्ध-निर्णय 210
(iv) युद्ध-काल 211

(v) युद्ध-हेतु प्रस्थान 211
(vi) युद्ध-काल की मर्यादा 212
(vii) रणनीति एवं युद्ध-संचालन 213
(viii) मनोबल 217
(tx) शत्रु-राष्ट्र से युद्धोपरान्त व्यवहार 218
(द) पर-राष्ट्र-सम्बन्ध के मूलतत्त्व 221-228
(i) गोपनीयता 222
(ii) मित्र उदासीन और शत्रु-राष्ट्र 223
(iii) चार उपाय (साम, दाम, भेद तथा दण्ड) 225
(iv) षड् गुण (सन्धि, विग्रह, यान, आसन द्वैध तथा आश्रय) 225
(v) गुप्तचर-व्यवस्था 228

11— अर्थ-व्यवस्था : 237—282

(अ) राज्य द्वारा कर-संग्रह 239
(i) कर-संग्रह की प्रक्रिया एवं प्रणाली 240
(ii) कर-प्रकार 242
(iii) कर-प्रयोजन 243
(क) राज्य का आय-व्यय (बजट) 243
(ख) राज्य द्वारा दान आदि में प्रदत्त धन या वस्तु की शर्तें 246
(ब अर्थ-व्यवस्था के प्रमुख कारक 247
(i) शिल्प 247
(क) शिल्प-विद्या की विषय-वस्तु 248
(ख) पदार्थ-विद्या का ज्ञान (ग) नौविमानादि यानों का निर्माण (घ) तारास्य-यन्त्र का निर्माण (ङ) तकनीकी प्रशिक्षण-हेतु भारतीयों को विदेश भेजने की योजना
(ii) व्यापार 261
(iii) औचित्यपूर्ण ब्याज 263
(iv) कृषि 264
(क) कृषि-शिक्षा (ख) उर्वरकों का प्रयोग
(ग) अच्छी वर्षा और सिंचाई की व्यवस्था

(v) पशु-पालन 367
(क) पशु-हिंसा एवं मांस-भक्षण का विरोध
(ख) पशु-बलि-निषेध (ग) गो-रक्षा-हेतु अंग्रेजों से वार्ता (घ) गो रक्षा हेतु हस्ताक्षर अभियान
(vi) बेकारी की समस्या 273

12— स्वामी दयानन्द का राष्ट्रवाद : 283—349

(अ) स्वदेशी 286
(ब) स्वभाषा (आर्य-भाषा हिन्दी) 290
(i) दयानन्द के पूर्व हिन्दी की स्थिति 290
(ii) दयानन्द द्वारा हिन्दी-सेवा-व्रत 292
(iii) दयानन्द द्वारा हिन्दी-सेवा के कारण 293
(iv) दयानन्द द्वारा हिन्दी-प्रयोग 294
(v) दयानन्द द्वारा देवनागरी-लिपि के प्रयोग पर बल 296
(vi) दयानन्द और हण्टर-भाषा-आयोग 297
(vii) दयानन्द के प्रयासों का प्रभाव 299
(स) स्वधर्म (वेदवाद) 301
(i) दयानन्द के पूर्व वेद-भाष्यों की स्थिति 301
(ii) दयानन्द द्वारा वेद-भाष्य 304
(iii) वेद-भाष्य-हेतु आवश्यक निर्देश 304
(iv) दयानन्द द्वारा सायणादि के वेद-भाष्यों की आलोचना 05
(v) दयानन्द के भाष्य का स्वागत 306
(vi) दयानन्द की वेद सम्बन्धी प्रमुख मान्यताएँ 308
(vii) भारत का लूथर दयानन्द 318
(viii) वेद-भक्ति और राष्ट्र-भक्ति एक दूसरे के पूरक 320
(द) स्वराज्य 322
(i) स्वराज्य का अर्थ 322

(ii) दयानन्द द्वारा भारत की पराधीनता के कारणों पर विचार 323
(iii) स्वराज्य-प्राप्ति हेतु दयानन्द के कार्य 325
(क) स्वराज्य-हेतु ईश्वर से प्रार्थना 325
(ख) ब्रिटिश शासन-व्यवस्था की आलोचना 326
(ग) भारत के गौरवशाली अतीत की पुनर्व्याख्या 328
(घ) धर्माडम्बरों एवं सामाजिक कुरीतियों का खण्डन 329
(ग) चक्रवर्ती आर्य-राज्य 331
(i) चक्रवर्ती आर्य राज्य की संकल्पना के आधार 331
(ii) आर्य और आर्यवर्त्त शब्द का अर्थ 333
(iii) चक्रवर्ती राज्य स्थापना हेतु आवश्यक शर्तें 334
(iv) चक्रवर्ती राज्य की संगठनात्मक रूपरेखा 335
(v) चक्रवर्ती राज्य के उद्देश्य एवं कार्य 336

16— उपसंहार : 350—380

(अ) दयानन्द का धार्मिक क्षेत्र में योगदान 352
(ब) दयानन्द का सामाजिक क्षेत्र में योगदान 354
(स) दयानन्द का शैक्षणिक क्षेत्र में योगदान 357
(द) दयानन्द का आर्थिक क्षेत्र में योगदान 359
(य) दयानन्द का राजनीतिक क्षेत्र में योगदान 361
(i) आधुनिक राजनीतिक चिन्तन में जार्षग्रन्थ प्रमाणवाद एवं ऐतिहासिक उपागम के प्रयोगकर्त्ता 361
(ii) आधुनिक भारत में धर्मानुप्राणित राजनीति के प्रणेता 362
(iii) मानववादी राजनीतिक दर्शन का प्रतिपादन 364

(iv) लोकप्रिय सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन 366
(v) प्रजातन्त्रीय सीमित राजतन्त्र का प्रतिपादन 367
(vi) कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का प्रतिपादन 368
(vii) विधि-शासन एवं स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष न्याय-व्यवस्था का प्रतिपादन 369
(viii) राष्ट्र-रक्षा पर बल 370
(ix) राष्ट्रवादी अवधारणा का विकास 370
(x) देशी राजाओं का सुधार 371
(xi) भारतीय स्वतन्त्रता की पृष्ठभूमि का निर्माण 372
(xii) स्वतन्त्रता-संग्राम-सेनानियों के जनक एवं प्रेरणास्रोत 373
(xiii) विश्व-नागरिकता, विश्व-संगठन एवं विश्व-शांति के अग्रदूत 374

परिशिष्ट : 381

(अ) स्वामी दयानन्द की प्रजातान्त्रिक अवधारणा 381
(ब) स्वामी दयानन्द पर साम्प्रदायिकता का आधारहीन आरोप 391

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची : 394—403

—:o:—

अध्याय I

: भूमिका :

भारतीय चिन्तन में पुनर्जागरण-काल के महान् विचारक, सत्यासत्यान्वेषक, सदाचार, सद्विचार और सद्भाव के प्रतिमूर्ति, औदोच्य ब्राह्मण, परिव्राट सम्राट दयार्द्र स्वामी दयानन्द सरस्वती (सन् 1824-1883 ई०) का सामान्यतः एक धार्मिक एवं सामाजिक सुधारक के रूप में ही सुस्थापित करने की परम्परा रही है। यह सत्य भी है, कि महर्षि ने धार्मिक कर्मकाण्डों, अन्धविश्वासों, बाह्य आडम्बरों आदि का खण्डन करते हुए वैदिक धर्म के उत्थान पर विशेष बल दिया है तथा ईश्वर, आत्मा एवं प्रकृति के त्रैतवाद के एक सुस्पष्ट सिद्धान्त का प्रतिपादन भी किया है। यही नहीं, अपितु वे जाति-व्यवस्था, अस्पृश्यता, बाल-विवाह, सती-प्रथा आदि सामाजिक कुरीतियों की कटु आलोचना, स्त्री-शिक्षा एवं स्वातन्त्र्य, स्त्री-पुरुष-समानता तथा गुण, कर्म और स्वभावानुकूल वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्तों का प्रणयन करते हुए राज्य द्वारा अनिवार्य शिक्षा के अधिवक्ता भी रहे हैं।

परन्तु, सर्वोपरितः स्वामी जी अपने युग के एक महानतम राजनीतिक विचारक हैं—यह एक निर्विवाद सत्य एवं तथ्य है, जिस पर बहुत ही कम लोगों ने ध्यानाकर्षित किया है। वस्तुतः, यदि पूर्वाग्रह-मुक्त होकर दयानन्द के राजनीतिक चिन्तन का विश्लेषण किया जाय, तो ज्ञात होगा कि वे एक उच्चतम कोटि के राजनीतिक दार्शनिक हैं, जिन्हें मनु, भीष्म, याज्ञवल्क्य, शुक्र, बृहस्पति, कौटिल्य एवं कामन्दक प्रभृति मनीषियों की राजनीतिक चिन्तन-परम्परा में रखा जा सकता है।

लगभग सातवीं शताब्दी के पश्चात् भारत में धर्म, समाज और साहित्य के क्षेत्र में चिन्तन तो प्रभूत मात्रा में हुआ, किन्तु राज-धर्म

अथवा राज-दर्शन के क्षेत्र में हमें मनु, भीष्म या कोटिल्य के राजनीतिक चिन्तन की भाँति कोई अन्य मौलिक रचना प्राप्त नहीं होती है। दर्शन के क्षेत्र में शंकर का अद्वैतवाद, रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद तथा न्याय-दर्शन और नव्य-न्याय-दर्शन आदि पुष्पित-पल्लवित हुए, परन्तु भारतीय मनीषी और आचार्य राजनीतिक दर्शन एवं राज्य-व्यवस्था के प्रति उदासीन प्रतीत होते हैं। प्राचीन एवं मध्यकालीन धर्मशास्त्रकारों तथा अर्थशास्त्रकारों द्वारा प्रतिपादित शासन-पद्धति के सिद्धान्त एवं व्यवहारों का धीरे-धीरे ह्रास होने लगा। राजा एवं राज्य-कर्मचारियों के समक्ष जो राज्योद्देश्य प्रस्तुत किया गया था, जो उच्च नैतिकता और मानव-मूल्यों से ओतप्रोत था, अब दोषपूर्ण और क्षीण होने लगा था। सातवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक के काल में भारतीय राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय उपलब्धि नहीं रही है। इस काल में राजनीतिक चिन्तन से सम्बन्धित कतिपय प्राचीन ग्रन्थों के भाष्य हुए[1] तथा सोमदेव के "नीतिवाक्यामृतम्" जैसी कुछ रचनाओं का प्रणयन भी हुआ, जिनमें सामान्यतया प्राचीन राजनीतिक विचारों का पिष्ट-पेषण ही किया गया है।

परन्तु, लगभग बारह शताब्दियों के दीर्घ अन्तराल के पश्चात् उन्नीसवीं शताब्दी के नवजागरण-काल में, स्वामी दयानन्द ही सर्वप्रथम ऐसे दार्शनिक हुए, जिन्होंने न केवल समाज और धर्म के परिशोधन पर बल दिया है, अपितु शिक्षा, अर्थव्यवस्था तथा राजनीति आदि से सम्बन्धित सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया है। आधुनिक भारत के निर्माता की उपाधि से अलंकृत राजा राम मोहन राय के धर्म और समाज, समाज-सुधार विषयक कार्य अवश्यमेव स्तुत्य हैं, परन्तु राजनीति और राष्ट्रीयता से सम्बन्धित चिन्तन के क्षेत्र में वे भी महर्षि दयानन्द-तुल्य कार्य नहीं कर सके।

यह सत्य है, कि दयानन्द ने राजनीतिक चिन्तन से सम्बन्धित अलग से किसी ग्रन्थ की रचना नहीं किया है, तथापि अपनी प्रसिद्ध

कृति 'सत्यार्थप्रकाश' में 'राज-धर्म' और 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में 'राज-प्रजा-धर्म-विषय' शीर्षक से दो पृथक्-पृथक् अध्यायों में अपना राजनीतिक मन्तव्य विस्तार से प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त महर्षि की राजनीतिक मान्यताएँ हमें उनके पूना तथा बम्बई के प्रवचनों, पत्रों-विज्ञापनों, विभिन्न शास्त्रार्थों तथा वेद-भाष्यों (सम्पूर्ण यजुर्वेद तथा ऋग्वेद के सप्तम् मण्डल के कुछ भाग (7·62·2 तक ही) में यत्र-तत्र विकीर्ण रूप से प्राप्त होती हैं। यही नहीं, अपितु महर्षि के राज-दर्शन और प्रखर राष्ट्रवाद के तत्त्व उनकी प्रार्थना सम्बन्धी रचना 'आर्याभिविनय', संस्कार-कर्म से सम्बन्धित 'संस्कार-विधि', गो-रक्षा विषयक 'गोकरुणानिधि', संस्कृत सीखने से सम्बन्धित 'संस्कृत वाक्य प्रबोध' तथा 'व्यवहारभानु' एवं 'आर्योद्देश्य रत्नमाला' जैसे अति लघुकाय साहित्यों में भी विद्यमान हैं।

महर्षि ने अपनी उक्त कृतियों में शासन-व्यवस्था की कला और विज्ञान के सूक्ष्म तत्त्वों—राजा, सभा, मन्त्री, कर्मचारी, दूत, न्याय, रक्षा, अर्थ-व्यवस्था, राज्य और सरकार के उद्देश्यों, कार्यों, प्रकारों एवं विधि, सम्प्रभुता आदि का स्पष्ट एवं आधिकारिक विवेचन किया है। उन्होंने भारत के अतीत के गौरव-गान-द्वारा राष्ट्रीयता की भावना को उद्दीप्त कर स्वराज्य, स्वदेशी, आर्य-भाषा, आर्य-धर्म तथा आर्य-संस्कृति के प्रति जो उद्गार व्यक्त किया है, वह उन्हें मात्र सैद्धान्तिक ही नहीं, वरन् यथार्थवादी राजनीतिक दार्शनिकों की कोटि में संस्थापित कर देता है। स्वामी दयानन्द ने भारतीयों की लुप्तप्राय अस्मिता और प्रतिष्ठा को पुनःस्थापित कर हमें राष्ट्र-गौरव एवं स्वातन्त्र्य-हेतु संघर्ष करने का पाठ भी पढ़ाया है।

पाश्चात्य साम्यवादी दार्शनिक कार्ल मार्क्स ने एक बार कहा था कि, "दार्शनिकों ने विश्व-व्याख्या का ही प्रयत्न किया है, परन्तु महत्त्वपूर्ण तो विश्व-परिवर्त्तन है।[2]" दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि मार्क्स ने दार्शनिकों से यथार्थवादी चिन्तन की अपेक्षा

की है। हम निःसंकोच कह सकते हैं कि महर्षि ने अपने चिन्तन के क्रियान्वयन-हेतु महाराणाओं की धरती पर अपनी अन्तिम श्वास तक जो अथक प्रयास किया है, वह मार्क्स की अपेक्षाओं से भी अधिक है। अपने राज-दर्शन को व्यावहारिक रूप देने के प्रयास में ही, अन्ततः उन्हें विष-पान भी करना पड़ा, जो राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में संत दार्शनिकों (सुकरात आदि) की नियति रही है। सम्भवत . इसीलिए महर्षि को आधुनिक भारत का 'स्मृतिकार' तथा सामाजिक चिन्तन का 'अग्रदूत' कहा गया है[3]। बड़ौदा रियासत के तत्कालीन दीवान श्री माधव राव ने केदारेश्वर मन्दिर में दयानन्द के राजनीति-विषयक व्याख्यान को सुनकर उनके राजनय के गहन ज्ञान की प्रशंसा की थी[4]। यही नहीं, अपितु मुरादाबाद के तत्कालीन ज्वाइन्ट मजिस्ट्रेट मि० स्पीडिंग महोदय ने स्वामी दयानन्द के राजनीतिक व्याख्यान की उपादेयता को हृदय से स्वीकार किया था[5]। डॉ० मजूमदार ने भी दयानन्द को राजनीतिक विचारों का व्यक्ति माना है।[6]

इस प्रकार स्पष्ट है कि महर्षि दयानन्द नवजागरण-काल के एक ऐसे सन्त राजनीतिक दार्शनिक थे, जिनके राज-दर्शन के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों पक्षों की उपयोगिता को न केवल स्वदेशी, अपितु विदेशी चिन्तकों एवं राजनयिकों ने भी ईमानदारी से स्वीकार किया है। वस्तुतः, उन्होंने भारतीय समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में समग्र रूप में ऐसा अद्भुत राजनीतिक चिन्तन प्रस्तुत किया है, जिसकी तुरीयाश्रमी एवं सांसारिकता से विरक्त संन्यासी से किसी ने अपेक्षा भी नहीं की थी।

(अ) स्वामी दयानन्द कालीन भारत :

यह निर्विवाद है कि महापुरुषों का चिन्तन इतिहास को दिशा प्रदान करता है, परन्तु, यह भी सत्य है कि प्रत्येक महापुरुष भी अपने 'युग का शिशु' होता है। देश, काल एवं परिस्थितियों का उनके विचारों के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। अतः, स्वामी

दयानन्द के राजनीतिक चिन्तन का सम्यक् रूप में विश्लेषण करने के पूर्व ही उनको युगीन राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का कमशः ज्ञान प्राप्त कर लेना समीचीन होगा।

(i) राजनीतिक स्थिति

स्वामी दयानन्द के काल में भारत राजनीतिक दृष्टि से पूर्णतया परतन्त्र तथा ब्रिटिश साम्राज्यवादी कुशासन की शृङ्खलाओं में आबद्ध था। लार्ड क्लाइव ने इसकी स्थापना की थी एवं 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति[7] के आधार पर उसके परवर्ती राज्याधिकारियों—वारेन हेस्टिस, कार्नवालिस, वेलेज्ली, हार्डिग और डलहौजी आदि ने ब्रिटिश साम्राज्य को और भी सुदृढ़ एवं सशक्त बना दिया था। भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना का आरम्भ सन् 1740 से 1763 ई० तक की अवधि के अंग्रेज-फ्रांसीसी युद्धों से हुआ। इसके पश्चात् सन् 1757 के प्लासी के युद्ध, सन् 1764 के बक्सर-युद्ध, सन् 1765 के शाहआजम द्वारा ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी को दीवानी का अधिकार दिए जाने की घटनाओं से भारत में ब्रिटिश राज्य की नींव सुदृढ़ होती गई। इस प्रकार भारतीयों के आलस्य एवं प्रमाद की प्रवृत्ति[8] तथा राजाओं, नवाबों एवं सूबेदारों के पारस्परिक वैमनस्य तथा प्रतिस्पर्धा की मनोवृत्ति का लाभ उठाते हुए सन् 1757 से 1857 ई० तक के शताब्द के मध्य अंग्रेजों ने भारतीय राजनीति पर पूर्णतः साम्राज्यवादी आधिपत्य स्थापित कर लिया था। हमारे देशी सिपाहियों ने अंग्रेजों की फौजों में नौकरी कर ली और बेशर्मी से अपने आप को ही पराजित करते रहे। ऐसी स्थिति आ गयी थी कि भारतीयों में भारतीयों के प्रति भावाकुल होने की कोई मानसिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक परम्परा नहीं रह गई।

भारतीय धन-धान्य एवं गौरव से आकर्षित होकर सन् 1600 ई० में व्यापारी के रूप में जो ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत आयी और मुगल सम्राट जहाँगीर द्वारा कम्पनी के राजदूत सर टॉमस रो को

सन् 1615 ई० में सूरत, मछलीपट्टम्, बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ता में व्यापार केन्द्रों की स्थापना-हेतु जो अनुमति प्राप्त हुई, उसी प्रारम्भिक भूल का अन्तिम परिणाम कालान्तर में दासता के रूप में प्रकट हुआ। भारतीय व्यापार पर एकाधिकार-हेतु कम्पनी ने अपनी सुरक्षा के बहाने से सैनिक शक्ति सुदृढ़ कर भारतीय राजनीति में प्रवेश किया। शनैः शनैः, ईस्ट इण्डिया कम्पनी अपनी कूटनीति, धूर्तता एवं चातुर्य से एक ओर अपनी राजनीतिक सत्ता का विस्तार करती गई और दूसरी ओर अधिकाधिक मात्रा में भारतीय धन को लूट कर ब्रिटेन पहुँचाने लगी। कम्पनी-शासन के अत्याचार, बेईमानी, लूट, दमन एवं शोषण के फ़ल-स्वरूप भारत की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय होती गई।

ब्रिटिश साम्राज्य में स्वशासन का आभास दिलाने वाली प्रारम्भिक इकाई ग्राम-पंचायतें भी अस्तित्वहीन हो गई थीं। वंशानुगत, एक-तन्त्रीय एवं स्वेच्छाचारी शासन में भी जो स्वतन्त्रता और अधिकार जनता को प्राप्त थे, उन्हें भी अंग्रेजी राज्य में समाप्त कर दिया गया था। उस समय अंग्रेजों द्वारा भारतीयों को मारना-पीटना न्यायालय में कोई अपराध नहीं माना जाता था। न्यायाधीशों के निर्णयों में भारतीयों को दासों की भाँति आचरण करने के लिए बाध्य करने का स्पष्ट निर्देश होता था। आगरा के एक मजिस्ट्रेट ने यह निर्णय दिया था कि, "..... प्रत्येक भारतीय को, चाहे उसकी तथाकथित स्थिति कुछ भी हो, इस बात के लिए बाध्य किया जाना चाहिए कि मार्ग में उसे यदि कोई अंग्रेज मिल जाय, तो वह सलाम करे, और यदि कोई भारतीय घोड़े पर या गाड़ी में जा रहा हो, तो अंग्रेज को देखते ही सवारी से नीचे उतर जाय और तब तक खड़े रहकर उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित करता रहे, जब तक कि अंग्रेज वहाँ से गुजर न जाय ....।"[9]

उक्त निर्णय से स्पष्ट है कि ब्रिटिश-राज्य में भारतीयों की स्थिति दासों से अच्छी नहीं थी। सर्वत्र दमन-चक्र, अन्याय, शोषण और आतंकपूर्ण नीतियों का प्राबल्य था, जिसके उत्तरदायी कोई अन्य नहीं,

अपितु स्वयं भारतीय ही थे।[10] भारतीय जनता ने अपने अवशिष्ट राष्ट्र-प्रेम एवं स्वाभिमान के फलस्वरूप ब्रिटिश आततायी शासन के विरुद्ध यदा-कदा (1819 ई० का बरेली विद्रोह, 1831 का क्रोल विप्लव तथा छोटानागपुर, पलामू में विद्रोह आदि) असंतोष व्यक्त करना प्रारम्भ किया और अन्ततोगत्वा सन् 1857 ई० में प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम का श्री गणेश भी हुआ। परन्तु, एकता के अभाव, दोषपूर्ण योजना तथा कतिपय स्वदेशवासियों के विश्वासघात के फलस्वरूप यह स्वतन्त्रता-संग्राम असफल हो गया। अंग्रेजों ने भारतीय सैनिकों से ही भारतीय स्वतन्त्रता के अंकुर को इतनी निर्दयता से कुचल दिया कि देश में सर्वत्र आतंक जैसा दृश्य उत्पन्न हो गया। स्वयं गोपाल कृष्ण गोखले के शब्दों में, "उन्नीसवीं सदी का भारतीय राजनीतिक जीवन उत्साहहीन एवं आत्महीन हो गया था।"[11]

सन् 1857 ई० के विप्लव की विफलता के बाद ब्रिटेन-साम्राज्ञी विक्टोरिया ने भारत का शासन-सूत्र कम्पनी से लेकर ब्रिटिश संसद को सौंप दिया और सन् 1858 ई० में कम्पनी के कुशासन के साथ ही साथ भारतीयों के उत्पीड़न, दमन और शोषण के अन्त की घोषणा करते हुए न्याय, समानता और धर्मनिरपेक्षता आदि का आश्वासन भी दे दिया। परन्तु, इतिहास साक्षी है कि महारानी के उपर्युक्त आश्वासन तथा घोषणाएँ वास्तविकता से अत्यन्त दूर ही रहीं। अंग्रेजी नीति एवं व्यवहार में कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ। उनके बर्बर एवं आतंकपूर्ण कुशासन के पाश में निबद्ध भारतीय जनता स्वाभिमान-शून्य एवं राजा-महाराजा विलासिताप्रिय होकर अस्तित्वहीन हो गए थे। महर्षि के काल में भारत का राजनीतिक क्षितिज स्वतन्त्रता, समानता, न्याय एवं भ्रातृत्व से सर्वथा शून्य था। सर्वत्र राजनीतिक अशान्ति, विवशता तथा बेचैनी परिव्याप्त थी। राष्ट्राभिमान का स्पन्दन दिखाई तक नहीं पड़ता था। महर्षि दयानन्द मातृभूमि की इस परवशता से अत्यन्त क्षुब्ध थे।

(ii) आर्थिक स्थिति

प्राचीन काल से ही भारत अपने धन, वैभव तथा प्राकृतिक संसाधनों की प्रचुरता के कारण 'सोने की चिड़िया' के नाम से सुशोभित रहा है। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए महाकवि 'दिनकर' ने लिखा है कि, "भारत में आने वाले लगभग सभी विदेशी जानते थे कि भारत धन तथा ज्ञान दोनों का आगार है। .....अतः, सारा यूरोप भारत आकर सोना लूटने के लिए बेकरार हो उठा।"[12] अपनी इसी धन-पिपासा के वशीभूत यूरोपीय जातियाँ भारतीयों के सुख और स्वतन्त्रता का हरण करने-हेतु भारत में प्रविष्ट हो गईं, जिनमें अंग्रेजों को अन्तत सफलता प्राप्त हुई। महर्षि की जीवनी के बंगाली लेखक देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने इस सम्बन्ध लिखा है कि, "यूरोप,.... ....अपनी अतर्पणीय धन-लालसा को पूरी करने के लिए तूँ एक मनुष्य नहीं, दस मनुष्य नहीं, सौ मनुष्य नहीं, बल्कि बड़ी से बड़ी जाति को भी बिध्वंस तक कर डालता है। अपनी भोग-विलास की पिपासा की तृप्ति के लिए तूँ लाखों मनुष्यों के सुख और स्वतंत्रता को सहज में ही हरण कर लेता है.....भूमण्डल के जिस स्थल पर तेरे कदम जाते हैं, जिस राज्य तक अधिकार हो जाता है, वह स्थल और वह राज्य सुख-शून्य और शान्ति-शून्य हो जाता हैं .....।"[13]

अंग्रेजों ने अपनी इसी धन-लोलुपता की प्रवृत्ति को अमानवीय ढंग से क्रियान्वित करते हुए भारत में दरिद्र्य का साम्राज्य स्थापित कर दिया। उन्होंने भारतीय अर्थ-व्यवस्था की रीढ़ समझे जाने वाले कृषकों, जुलाहों, शिल्पियों एवं कारीगरों का अंग-भंग तक कर डाला। अंग्रेजों की व्यापार-नीति के विषय में एक अमेरिकन इतिहासकार के कथन को पं० नेहरू ने अपनी पुस्तक 'दि डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' में प्रस्तुत किया है, जिसके अनुसार, "शायद जब से दुनिया शुरू हुई है, किसी भी पूँजी से कभी भी इतना मुनाफा नहीं हुआ, जितना कि हिन्दुस्तान की लूट से.....।"[14] अंग्रेजों के शोषण और अत्याचार के सम्बन्ध

में 17 फरवरी, 1858 ई० को स्वयं लार्ड विलियम बेंटिक ने ब्रिटिश हाउस आफ कामन्स में भाषण देते हुए स्वीकार किया था कि "व्यापार के इतिहास में तकलीफ की ऐसी दूसरी मिसाल पाना मुश्किल है। जुलाहों की हड्डियाँ हिन्दुस्तान के मैदानों को सफेद किए हुए हैं ..... एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि पहला भारतीय शब्द जो अंग्रेजी भाषा में सम्मिलित हुआ, वह 'लूट' था।"[15]

स्वयं ब्रिटिश अधिकारियों एवं विदेशी इतिहासकारों की उपयुक्त स्वीकारोक्ति से स्पष्ट हो जाता है कि अंग्रेजों की आर्थिक नीतियाँ कितनी क्रूर थीं ? सर्वाधिक कर उगाहने के लिए मालगुजारी के क्षेत्र में अंग्रेजों ने 'नीलामी-प्रथा' का सूत्रपात किया। जो किसान कर नहीं दे सकता था, उसके साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता था। यहाँ तक कि दो नादिहन्दों के सिर टकराना या दोनों को पीठ की ओर से केशों से बांध देना, गधे या भैंस की पूँछ से उनके केश बाँध देना आदि सामान्य बात थी।"[16] ध्यातव्य है, कि मालगुजारी वसूलने का अधिकार 'नीलामी-प्रथा' के अन्तर्गत उसी को प्राप्त होता था, जो अधिक से अधिक कर वसूल कर ब्रिटिश अधिकारियों को देने का आश्वासन देता था। इसी प्रकार अंग्रेजों ने मजदूरी के क्षेत्र में एक 'प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा' का भी श्री गणेश किया, जिसके अन्तर्गत विवश मजदूरों से पाँच वर्षों के लिए एक इकरारनामे पर हस्ताक्षर करवा कर सस्ती मजदूरी दी जाती थी। प्रतिज्ञा-पत्र के उल्लंघनकर्त्ता श्रमिक को न्यायालय द्वारा दण्डित किए जाने का भी प्राविधान था। पतिज्ञाबद्ध कुली दासों से भी सस्ते पड़ते थे।

उपयुक्त व्यवस्था से, स्पष्ट है, कि अंग्रेजों के अन्यायपूर्ण, दमनकारी तथा शोषक आर्थिक नीति ने भारतीय अर्थ-तन्त्र को जीर्ण शीर्ण कर डाला था। उनके शोषणवादी नीति में उनके संयम को ही सीमा थी। लार्ड मैकॉले ने स्वयं स्वीकार किया है कि "क्लाइव के धन एकत्र करने के मार्ग में स्वयं उसके संयम के अतिरिक्त और कोई बाधक नहीं

था।''' बंगाल के राज-कोष का द्वार उसके लिए खुला था''' क्लाइव सोने और चाँदी के ढेरों में से होकर चलता था'''।"[17] क्लाइव से लेकर दयानन्द के काल तक भारत का इसी प्रकार निर्बाध गति से शोषण होता रहा। महर्षि को इस बात की हार्दिक पीड़ा थी कि सच्चे पारसमणि-तुल्य भारत को स्पर्श करने मात्र से ही जो दरिद्र विदेशी धनाढ्य हो जाते हैं,[18] उन्होंने इस देश का इतना शोषण किया है कि, '''''देश के मृतकों को काष्ठ भी उपलब्ध नहीं होता है।"[19]

स्वामी दयानन्द के उपर्युक्त शोकोद्गार से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि उनके काल में ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने सर्वथा अभारतीय अर्थनीति को अपना रखा था, जिसका उद्देश्य भारतीय धन को लूटना तथा भारतीयों का येन-केन प्रकारेण शोषण करना था, जिससे वे दीन-हीन रहते हुए सदैव अंग्रेजों के दास बन रहें। संक्षेप में, यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि भारत की लूट पर ही आधुनिक ब्रिटेन का निर्माण हुआ है।

(iii) सामाजिक स्थिति :

उन्नीसवीं सदी में हिन्दू समाज की दशा सर्वाधिक शोचनीय थी, जिससे दुखी होकर टैगोर ने लिखा है कि, "भारत में हमारी वास्तविक समस्या राजनीतिक नहीं, अपितु सामाजिक है।"[20] वास्तव में, हमारी राजनीतिक परतन्त्रता का मूलाधर सामाजिक हीनावस्था ही थी। तत्कालीन भारत भारतीय समाज, जन्म के आधार पर शतधा जातियों एवं उपजातियों में इस प्रकार विभक्त था कि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सवर्ण जातियाँ अपने को सर्वोच्च मानती हुई निम्न जाति के लोगों को अस्पृश्य मानती थीं। यही नहीं, दक्षिण भारत के ब्राह्मण कतिपय जातियों (चेरूमन तथा परैमन) से एक विशेष दूरी (24, 48 या 64 फीट) बनाए रखते थे तथा उनकी छाया तक से घृणा करते थे।[21] अस्पृश्यता के इस दारुण स्थिति से दुखी होकर ही स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, कि "हम हिन्दू भी नहीं हैं और वेदान्तिक भी नहीं। असल

में, हम हैं—'छुआछूत पंथी'। रसोईघर हमारा मन्दिर है, पकाने का बर्त्तन हमारा उपास्य देवता तथा 'मतछुओ' मन्त्र है।"[22] इसी कुरीति के कारण विदेश-यात्रा और समुद्र-यात्रा तक प्रतिबन्धित थी, जिसके परिणामस्वरूप अन्य देशीय भाषा, साहित्य, दर्शन, सभ्यता और संस्कृति से अनभिज्ञ भारतीय समाज ऊँच-नीच, सवर्ण-असवर्ण आदि नाना प्रकार की व्याधियों से पूर्णतया ग्रस्त था।

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' की मान्यता वाले भारत-वर्ष में, दयानन्द के युग में नारी को 'भोग्या' और 'नरकस्य द्वारम्' कहा जाता था। विष्णु पुराण 1-8 तथा विष्णु भागवत 6-19 में वर्णित स्त्री की महानता और पुरुषों से की गई उनकी सामंजस्यता की यह उक्ति महत्त्वहीन होने लगी थी कि, "पुरुष विष्णु है, स्त्री लक्ष्मी। पुरुष बिचार है, स्त्री भाषा। पुरुष धर्म है, स्त्री बुद्धि। पुरुष तर्क है, स्त्री भावना। पुरुष धैर्य है, स्त्री शान्ति।..... पुरुष अग्नि है, स्त्री ईंधन। पुरुष सूर्य। है, स्त्री आभा।..... पुरुष वृक्ष है, स्त्री फल। पुरुष संगीत है, स्त्री स्वर। पुरुष न्याय है, स्त्री सत्य..... ।"[23] अशिक्षा एवं अज्ञान के कारण भारतीय समाज की नारी में पर्दा-प्रथा, सती-प्रथा तथा समाज में बाल, बहु, वृद्ध एवं अनमेल-विवाह, कन्या-बध आदि अनेकानेक सामाजिक कुरीतियाँ व्याप्त थीं। यद्यपि, राजा राम मोहन राय आदि भारतीय समाज सुधारकों तथा लार्ड विलियम बैंटिक और लार्ड कैनिंग आदि अंग्रेज अधिकारियों के सत्प्रयासों द्वारा सती-प्रथा को बन्द करने तथा विधवा विवाह को वैध घोषित कर समाज सुधार की दिशा में स्तुत्य कार्य किए गए थे, तथापि तत्कालीन रूढ़िवादी समाज की दशा पूर्ववत् ही बनी रही।

पूना-प्रवचन में दयानन्द ने सामाजिक कुप्रथाओं की ओर इंगित करते हुए एक बार कहा था कि, "प्राचीन समय में स्त्रियों और पुरुषों के अधिकार बराबर थे। इस समय तो सब (प्रबन्ध) उलटे हो गए हैं। एक-आध घास का तिनका तोड़ने में देर लगती है, परन्तु हमारे

लोगों के धर्म टूटने में देर नहीं लगती। चोटी खुली रखी कि धर्म गया, अंगरखा लम्बा पहना कि धर्म गया। खाने-पीने के प्रतिबन्ध तो अत्यन्त कड़े हो गए हैं। युद्ध करने वाले लोगों का ऐसे प्रतिबन्ध के प्रति लक्ष्य देंने से खुले मन से लड़ना तो एक तरफ रह गया, परन्तु उनकी सारी पवित्रता पर चौका लगा दिया....।"[24]

महर्षि दयानन्द का उपर्युक्त उद्गार तत्कालीन समाजिक स्थिति का स्पष्ट परिचायक है। महर्षि युगीन समाज में सर्वत्र अत्याचार, छुआछूत, अबलाओं-अनाथों का करुण क्रन्दन, जड़ता, देश-भेद, धर्म भेद तथा भाषा-भेद आदि अनेकशः कुप्रवृत्तियाँ विद्यमान थी।

(iv) धार्मिक स्थिति

महर्षि कालीन भारत में धर्म का स्वरूप अत्यन्त विकृत हो गया था। सम्प्रदायवाद, जड़-पूजा, जादू-टोना, बहुदेववाद, अवतारवाद, पोप-लीला, पशु-बलि, नर-बलि तथा धर्माडम्बर आदि के कारण धर्म का वास्तविक वैदिक स्वरूप लुप्त हो चुका था। 'ब्रह्मवाक्यं जनार्दनः' तथा 'ब्रह्मद्रोही विनश्यति' जैसे शब्द-जालों की रचना करके तथा कथित ब्राह्मण-वर्ग मन्त्रों का ठेकेदार बन गया था। सत्य सनातन वैदिक धर्म का स्थान शैव, वैष्णव, शाक्त-रामानन्दी, रैदासपन्थी, नाथ-योगियों, लिंगायतों, बौद्ध, जैन, चारवाक् प्रार्थना-समाज तथा ब्रह्मसमाज जैसे विभिन्न सम्प्रदायों ने ले लिया था। जप, छाप, माला, त्रिपुण्ड, व्रत, श्राद्ध-तर्पण, भूत-प्रेत, मारण मोहन, उच्चाटन, वशीकरण जैसे अनेकशः भ्रमजालों का प्राबल्य था। एक ओर शंकर के अद्वैतवाद, रामानुज के विशिष्टाद्वैत तथा मध्वाचार्य के द्वैतवाद द्वारा अपने-अपने सिद्धान्तों एवं मान्यताओं को एकमेव सत्य घोषित किया जा रहा था, तो दूसरी ओर बाममार्गी पंचमकारों (मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन) को मोक्ष का सुगम साधन प्रचारित कर रहे थे।

धर्म की उपर्युक्त विकृति पर विचाराभिव्यक्ति करते हुए स्वयं दयानन्द ने अपने पूना के एक प्रवचन में कहा था कि "वेद-मार्ग को एक

ओर ढकेल कर पुष्टिमार्ग चमक रहा है। महन्तों और महाराजों के चारों ओर इधर-उधर चैन चल रहा है। देवालयों, मन्दिरों और मठों में पाप का जमघट लगा है। कितने गर्भ गिराये जाते हैं, कौन जाने ? यह समय पाप, दुराचार और अनर्थ का है.....।'[25] सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि दयानन्द के समय समाज में चतुर्दिक अन्धविश्वास, अज्ञान, नैतिकता का अभाव, अनेकानेक भ्रमजाल परिव्याप्त थे।

वैदिक धर्म की इस विकृतावस्था में सन् 1813 ई० में भारत में ब्रिटिश मिशनरियों की बाढ़ आ गई। प्रशासनिक समर्थन तथा आर्थिक सहयोग द्वारा ये लोग हिन्दू धर्म, दर्शन एवं संस्कृति का खुला उपहास और घिनौना चित्रण करने लगे। कम्पनी के अधिकारी ईसाइयत के प्रचार को व्यापार-वृद्धि में सहायक मानते थे। इसी सन्दर्भ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एक डाइरेक्टर चार्ल्स ग्राण्ट का मत था कि, "जहाँ कहीं भी हमारी भाषा और मन्तव्यों (ईसाइयत) का प्रवेश हो जाता है, वहाँ हमारे व्यापार में वृद्धि हो जाना स्वाभाविक है।"[26] फलतः उनके द्वारा ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार-हेतु नौकरी, विरासत में सुविधा, पृथक् न्याय की व्यवस्था आदि का प्रलोभन दिया जाने लगा। इसीलिए स्वामी श्रद्धानन्द ने कहा था कि, "..... ईसाइयत ऐसी मोहनी सूरत बनाकर भारतवर्ष में प्रविष्ट हुई कि उसका सामना करना साधारण शक्ति का काम न था। ऐसा ज्ञात होता था कि ईसाई जादूगर सब कुछ हड़प कर जाएँगे।[27]"

अंग्रेजों ने ईसाइयत के प्रचार-हेतु शिक्षाव्यवस्था में भी परिवर्त्तन किया। भारत में अंग्रेजी-शिक्षा के सूत्रधार थॉमस बेबिंगटन लार्ड मैकॉले ने सम्पूर्ण संस्कृत एवं अरबी वाङ्मय को यूरोपीय पुस्तकालय के किसी आलमारी के एक ताक पर रखी हुई पुस्तकों से भी तुच्छ बताते हुए व्यंगपूर्वक कहा है कि, "..... क्या हम सार्वजनिक व्यय से चिकित्साशास्त्र के वे सिद्धान्त पढ़ाएँ, जिन्हें सुनकर अंग्रेजी बोर्डिंग स्कूल की छात्राएँ हँस पड़ें, या वह इतिहास पढ़ाएँ, जिसमें 30 फीट

ऊँचे और 30 हजार वर्ष राज्य करने वाले राजाओं का वर्णन हो या वह भूगोल पढ़ार्य, जिसमें मधु और नवनीत के समुद्रों का उल्लेख हो।"[28] वस्तुतः, मैकॉले की शिक्षा-योजना का उद्देश्य था, एक ऐसे वर्ग का निर्माण करना, जो रूप-रंग और आकृति-प्रकृति में भले ही भारतीय हों, किन्तु आचार-विचार आदि से अंग्रेज हों। मैकॉले को यह पूर्ण विश्वास था कि "यदि हमारी शिक्षा-योजना क्रियान्वित की गई, तो तीस वर्ष पश्चात् बंगाल के कुलीन घरानों में कोई मूर्तिपूजक (हिन्दू) नहीं रहेगा।"[29] मैकॉले का यह विश्वास तब चरितार्थ होने लगा, जब माइकेल मधुसूदन दत्त, लालविहारी डे, कालीचरण चटर्जी, गोविन्द दत्त यहाँ तक कि भारतीय नेशनल कांग्रेस के प्रथम सभापति व्योमेश चन्द्र बनर्जी प्रभृत कुलीन ब्राह्मण भी ईसाई धर्म की मृग-तृष्णा के शिकार हो गए।[30]

अंग्रेजों ने ईसाइयत के प्रचार-हेतु भारतीय वैदिक वाङ्मय को भ्रष्ट करने के लिए लन्दन में स्थापित 'बोडन-ट्रस्ट' के तत्त्वावधान में मोनियर विलियम्स की अध्यक्षता में अश्लील एवं भ्रामक वेद-भाष्य करवाना प्रारम्भ किया[31], जिसमें प्रमुख भूमिका मैक्समूलर की थी। इस तथ्य की पुष्टि 16 दिसम्बर, 1868 ई० को मैक्समूलर द्वारा भारत के तत्कालीन मन्त्री ड्यूक ऑफ आर्गायल को लिखे इस पत्र से हो जाती है कि, "भारत के प्राचीन धर्म का (वेद-भाष्यों के द्वारा) पतन हो गया है। यदि अब भी ईसाई-धर्म नहीं प्रचलित होता है, तो इसमें किसका दोष है?"[32] इससे भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किए गये वेद-भाष्यों के पीछे उनके विद्या-व्यासङ्ग के अतिरिक्त वेदों की पवित्रता, सत्यता एवं वैज्ञानिकता को विकृत करने का उद्देश्य निहित था। सन् 1882 से 1887 ई० तक नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज के लेफ्टीनेण्ट गवर्नर रहनेवाले ए० सी० लायल का मत था कि, "मेरी यह कल्पना है कि हिन्दू-धर्म के पुराने देवी देवता पश्चिम के बौद्धिक आलोक की नवीन परिस्थितियों में उसी प्रकार

उतनी तेजी से समाप्त हो जाएँगे, जिस तेजी से जाल में पड़कर पानी से बाहर निकाली मछलियाँ नष्ट हो जाती हैं।" [33]

महर्षि के समय ईसाई पादरियों द्वारा हिन्दुओं का धर्म-परिवर्त्तन, अनेक प्रकार के छल-कपट द्वारा, किया जा रहा था। दयानन्द ने जयपुर राज्य-परिषद् के सभासद्, बाबू नन्द किशोर को एक पत्र में लिखा था कि, "देखो, बड़े शोक की बात है कि जयपुर में अनेक गिरजाघर बन गए और पादरी लोग राम कृष्णादि भद्रपुरुषों की निरन्तर निन्दा करते हैं और सैकड़ों को बहकाकर भ्रष्ट कर रहे हैं। उनको हटाने को पण्डित वा राजा आदि पुरुषों ने कुछ भी प्रयत्न न किया ·····।" [34] महर्षि द्वारा पत्र में अभिव्यक्त उक्त विचार, तत्कालीन समाज एवं धर्म में व्याप्त ईसाइयत की स्थिति को स्वतः स्पष्ट कर देते हैं। प्रसिद्ध फ्रान्सीसी लेखक रोमां रोला ने लिखा है कि, "जिस समय दयानन्द के मन का निर्माण हो रहा था, उस समय भारत की उच्चतम धार्मिक चेतना इतनी दुर्बल हो चुकी थी कि योरोप की धार्मिक चतना उसका स्थान-ग्रहण करने में समर्थ न होने पर भी उसकी क्षीण दीप-शिखा को बुझाने के लिए प्रयत्नशील थी।" [35] उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि महर्षि के काल में भारतीय धर्म एक ओर विभिन्न सम्प्रदायों एवं मतमतान्तरों में विभक्त हो रहा था और दूसरी ओर उसे सरकारी सम्बल प्राप्त ईसाई-धर्म भी नाना प्रकारेण नष्ट कर रहा था।

संक्षेप में, यदि दयानन्द कालीन भारत की समीक्षा की जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि भारत सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टि से पतित, विशृंखलित, जर्जर और छिन्न-भिन्न हो गया था। एक अनुप्रास प्रिय लेखक ने भारत में अंग्रेजों के प्रभुत्व की स्थापना-हेतु उत्तरदायी 'पाँच मकारों' का उल्लेख किया है, वे हैं— मर्चेण्ट, मिलिटरी, मैकॉले, मिशनरी, मैक्समूलर और मोनियर विलियम्स। [36] अर्थात्, सर्वप्रथम अंग्रेज मर्चेण्ट (व्यापारी) बनकर

भारत आए, कालान्तर में मिलिटरी (सेना) का गठन किया। पुनः, मैकॉले की शिक्षा-प्रणाली तथा ईसाई मिशनरियों के माध्यम से भारतीयों को वैदिक धर्म से विमुख करने का प्रयास किया गया। यही नहीं, अन्ततः मैक्समूलर एवं मोनियर विलियम्स द्वारा भारतीय धर्म, भाषा, साहित्य, सभ्यता और संस्कृति का अवमूल्यन करवाया। निश्चय ही, अनुप्रासप्रिय विचारक द्वारा प्रतिपादित 'पंच मकार' का सिद्धान्त ब्रिटिश साम्राज्यवाद की स्थापना एवं भारतीय दासता का मूल सूत्र है।

(अ) भारत में नवजागरण का सूत्रपात :

विश्व-इतिहास में नवजागरण का सूत्रपात अठारहवीं सदी में औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप हुआ। विद्युत् एवं वाष्प की शक्तियों के आविष्कार तथा राजनीतिक क्रांतियों के फलस्वरूप एक ऐसे नवयुग का श्री गणेश हुआ, जिसे इतिहास में आधुनिक युग कहा जाता है। यद्यपि, भारत भी इन प्रवृत्तियों से अछूता नहीं रहा, तथापि परतन्त्रता के कारण भारतीय राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, एवं सांस्कृतिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय रही। 18 वीं सदी के अन्त तक भारत में चतुर्दिक दासता, आत्महीनता, संत्रास, शोषण एवं मूल्यहीनता व्याप्त थी। यद्यपि, हमारा प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम सफल न हो सका, तथापि इसने भारतीय क्रान्ति-स्फुलिङ्ग को बनाए रखा, जो कालान्तर में ज्वाला बन गई। भारत में नवजागरण का उदय उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में सम्भव हो सका, जिसका श्रेय इतिहासज्ञों ने राजा राम मोहन राय, स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द आदि महापुरुषों को दिया है।

(i) नवजागरण का अर्थ :

भारतीय नवजागरण के विश्लेषण के पूर्व हो नवजागरण अथवा पुनर्जागरण का अभिप्राय ज्ञात करना आवश्यक प्रतीत होता है। सामान्यतया पुनर्जागरण का अर्थ प्राचीन विद्या (ज्ञान) के पुनरोदय मात्र से ही

का अत्यन्त संकुचित अर्थ है। वस्तुतः, नवजागरण उन भावनाओं एवं शक्तियों का पुनर्जन्म है, जो चिरकाल से दबी हुई थीं। नवजागरण किसी भी राष्ट्र में नवचेतना, नवस्पन्दन, स्वतन्त्रता के प्रति एक नवीन अनुराग तथा जीवन के अभिनव मूल्यों का स्रष्टा होता है। कोई भी राष्ट्र जागरण-काल में अतीत से अपनी जीवन-शक्ति प्राप्त करता है, वर्त्तमान की स्थिति से सोचता है और भविष्य की योजनाएँ बनाता है। राष्ट्रीय नव-जागरण मात्र राजनीतिक जीवन को ही आन्दोलित नहीं करता है, अपितु इसके द्वारा सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक जीवन के साथ ही साथ साहित्य एवं कला भी प्रभावित होती है। भारतीय पुनर्जागरण में उन समस्त विशिष्टताओं का परिलक्षण होता है, जो उप-र्युक्त पंक्तियों में इंगित की गई हैं।

भारतीय नवजागरण की सर्वोपरि उल्लेखनीय विशेषता उसकी आध्यात्मिकता है। इस तथ्य को प्रतिपादित करते हुए प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० वी० पी० दर्मा ने लिखा है कि, "जिस प्रकार से इटली के पुनर्जा-गरण तथा जर्मनी के धर्म-सुधार आन्दोलनों ने यूरोपीय राष्ट्रवाद के उदय के लिए बौद्धिक आधार का कार्य किया था, उसी प्रकार भारत के सुधारकों तथा धार्मिक नेताओं के उपदेशों ने देशवासियों में स्वायत्त तथा आत्मनिर्णय पर आधारित राजनीतिक जीवन का निर्माण करने की इच्छा उत्पन्न की। भारतीय आत्मा के जागरण को सर्जनात्मक अभिव्यक्ति सर्वप्रथम दर्शन, धर्म तथा संस्कृति के क्षेत्र में हुई, और राजनीतिक आत्मचेतना का उदय उसके अपरिहार्य परिणाम के रूप में हुआ।"[37] स्पष्ट है कि भारत के राजनीतिक पुनरुत्थान के पूर्व ही अनेक धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों का प्रारम्भ हुआ।

(ii) नवजागरण की प्रमुख प्रवृत्तियाँ :

भारतीय नवजागरण की उपादेयता एवं महत्ता इस बात पर निर्भर करती है कि उसने भारतीयों की परतन्त्रता एवं अकर्मण्यता को समाप्त

करने में कहाँ तक कार्य किया है ?[38] मूल्याङ्कन की इस कसौटी के आधार पर ही नवजागरण की प्रमुख प्रवृत्तियों यथा-ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी एवं रामकृष्ण मिशन के प्रमुख कर्णधारों के कार्यों का संक्षिप्त विवेचन समीचीन प्रतीत होता है :

(iii) राजा राम मोहन राय :

भारतीय पुनर्जागरण-काल में सर्वप्रथम ब्राह्मसमाज के संस्थापक और आधुनिक भारत के निर्माता राजा राम मोहन राय ने हिन्दू-धर्म एवं समाज में विद्यमान बाल-विवाह, जाति-प्रथा, पर्दा-प्रथा तथा सती-प्रथा आदि कुप्रवृत्तियों के विरुद्ध आन्दोलन का शुभारम्भ किया था। लार्ड विलियम बेंटिक के सहयोग से उन्होंने सती-प्रथा बन्द करवाने में कुछ सीमा तक सफलता भी प्राप्त की। यही नहीं, अपितु धर्म के क्षेत्र में उपनिषद्-प्रोक्त परमात्मा के मानस-पूजन के सिद्धान्त की स्थापना भी की। परन्तु, राम मोहन की धर्म-सम्बन्धित अवधारणा (ब्राह्मसमाज) विशुद्ध भारतीय न होकर ईसाइयत से प्रभावित थी। उसमें वैदिक दर्शन की मूलभूत मान्यताओं का अभाव परिलक्षित होता है। इस सम्बन्ध में, फ्रान्सीसी लेखक रोमां रोला का स्पष्ट मत है कि, 'राम मोहन ने जहाँ से प्रारम्भ किया था, वह प्रोटेस्टेण्ट ऐकेश्वरवाद था..... उसके सम्पूर्ण रूप से ईसाई-धर्म में विलीन हो जाने के खतरे के कारण भारतीय जनसाधारण का उसमें विश्वास नहीं रहा था।"[39] यही कारण था, कि राय ने उस अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति का समर्थन किया जो मैकॉले के अनुसार भारतीयों को प्रवृत्ति, सम्मति, नैतिकता एवं प्रज्ञा में अंग्रेज-ईसाई बनाने का एक सुनियोजित षडयन्त्र थी।[40] राय ने मात्र अंग्रेजी-शिक्षा-व्यवस्था का समर्थन ही नहीं किया, अपितु सन् 1822 ई० में स्वयं एक अंग्रेजी-स्कूल की स्थापना भी की तथा सन् 1823 ई० में लार्ड एमहर्स्ट, गवर्नर जनरल को एक पत्र लिखकर कलकत्ता में बंगाल सरकार द्वारा स्थापित किए जाने वाले संस्कृत कालेज को अनावश्यक एवं भारतीयों के विकास में बाधक भी बताया।[41] यह सभी कार्य उनकी पाश्चात्य मनोवृत्ति का द्योतक है।

राजा राम मोहन राय ने राजतीतिक क्षेत्र में सन् 1820 ई० में स्त्री-अधिकार, सन् 1823 तथा 1832 ई० में वैयक्तिक स्वतन्त्रा, प्रेस-स्वातन्त्र्य, राज्य के कल्याणकारी स्वरूप तथा न्यायिक संशोधन-हेतु सराहनीय प्रयास किया था।[42] परन्तु, यदि सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय, तो ज्ञात होगा कि राय के सुधार-प्रयासों में लोकैषणा की कामना एवं आत्मप्रतिष्ठा की भावना अधिक थी। उन्होंने विशुद्ध भारतीय मानस से भारतीय-नवजागरण-हेतु प्रयास करने में संकोच किया था। यही कारण है, कि एक ओर वह नेपल्स, स्पेन तथा फ्रान्स की जनवादी स्वतन्त्रता पर प्रसन्नता व्यक्त करते थे, परन्तु दूसरी ओर भारत में ब्रिटिश-राज को वरदान-स्वरूप स्वीकारते हुए उसके स्थायित्व-हेतु ईश्वर से प्रार्थना भी करते थे। उनका कथन था, "हम अपनी गम्भीर भक्ति-भावना से अन्य वस्तुओं के साथ-साथ ईश्वर को भारत में अंग्रेजी शासन के वरदान के लिए प्रायः विनम्र धन्यवाद अर्पित किया करते हैं, और प्रार्थना करते हैं कि वह शासन आगे आने वाली अनेक शताब्दियों तक अपना कृपा-पूर्ण कार्य करता रहे।"[43] यही नहीं, अपितु अपने 'आटोबायोग्राफिकल स्केच' में उन्होंने यहाँ तक लिखा है कि, "यूरोपियन लोगों को अधिक प्रतिभावान, सीधे और सभ्य जानकर मैंने उनके विरुद्ध पूर्वाग्रह छोड़ दिया है। मुझे यह विश्वास होने लगा कि यद्यपि, उनका शासन एक विदेशी जुआ है, परन्तु उससे यहाँ के लोगों की दशा शीघ्र ही निश्चित रूप से उन्नत हो जाएगी।"[44] राम मोहन के उपर्युक्त कथनों के अध्ययनोपरान्त ऐसा प्रतीत होने लगता है कि इन्हीं चाटुकारी विचारों के फलस्वरूप अंग्रेज अधिकारियों ने राय को 'राजा' की उपाधि से विभूषित किया तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने उच्चपद भी प्रदान किया।

भारतीय नवजागरण-काल में राम मोहन द्वारा व्यक्त उपर्युक्त विचारों के फलस्वरूप पूँजीवादी ब्रिटिश साम्राज्यवाद को वैचारिक एवं नैतिक समर्थन प्राप्त हो गया, जिसके परिणामस्वरूप एक ओर नव-

जागरण की वास्तविक शक्तियों को ठेस लगी तथा दूसरी ओर सामान्य और बुद्धिजीवी भारतीय जन दीर्घकाल तक ब्रिटिश-शासन के उत्पीड़न, शोषण और दमन को ईश्वरीय वरदान समझकर भोगते रहे।

(iv) केशवचन्द्र सेन

देवेन्द्र ठाकुर ने राजा राम मोहन राय के पश्चात् ब्राह्मसमाज के लिए सराहनीय कार्य किया, परन्तु तदनन्तर केशव चन्द्र सेन ने तो ब्राह्मसमाज को एक प्रकार से 'देशी ईसाई-समाज' बना दिया।[45] वह ब्राह्मसमाज को एक 'सार्वभौमिक चर्च' बनाना चाहते थे[46]। केशव को प्रभुता स्वीकारने के पश्चात् यह कहा जाने लगा कि जो केशव में विश्वास करते हैं, वह एकेश्वरवादी कहलाने योग्य नहीं है[47]। 8 अप्रैल, सन् 1879 ई० को कलकत्ता के टाउन हॉल में व्याख्यान देते हुए सेन महोदय ने अत्यन्त भाव-विह्वल होकर कहा था कि, "मेरा ईसा, मेरा मधुर ईसा, मेरे हृदय का सर्वाधिक भाववान् हीरा, मेरी आत्मा का कंठहार। बीस वर्ष तक मैंने इसे अपने संतप्त हृदय में धारण किया है[48]।" सेन महाशय के परामर्श से ही 1872 ई० के 'स्पेशल मैरिज एक्ट'-हेतु सरकार को प्रेषित प्रार्थना-पत्र में स्पष्ट रूप से यह लिखा गया था कि "हिन्दू शब्द ब्राह्मसमाजवालों पर लागू नहीं होता, क्योंकि वे वेद को प्रामाणिक नहीं मानते.....।"[49] केशव की सहमति से लिखित उपर्युक्त वाक्यांश से स्पष्ट हो जाता है कि वे स्वयं को वेदवादी हिन्दू कहलाना पसन्द नहीं करते थे। यही नहीं, अपितु उन्होंने भी भारत पर इङ्गलैण्ड के शासन को परमात्मा की विशिष्ट इच्छा का प्रतिफल कहा था, जिसके कारण ही सम्भवतः वाइसराय लार्ड लारेन्स ने सेन को भारतीय जनता का उद्धारक और त्राता कहकर अभिनन्दित किया था।[50]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यद्यपि, भारत में नवजागरण का प्रारम्भ ब्राह्मसमाज की स्थापना द्वारा राजा राम मोहन राय ने ही सन् 1828 में किया था, तथापि उनका तथा परवर्त्ती ब्राह्मसमाजी नेता केशव चन्द्र सेन का प्रयास पाश्चात्य शिक्षा, संस्कृति, सभ्यता एवं प्रभाव

से युक्त था। यही कारण है कि हिन्दी-उपन्यास के सम्राट मुन्शी प्रेमचन्द ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहा था कि, ब्राह्मसमाज ने हाँलाकि पहले कदम रखा था समाज सुधार के लिए मगर वह अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमित रह गया .....।[51] प्रेमचन्द की यह अभिव्यक्ति ब्राह्मसमाज की रीति-नीति एवं आचार-विचार के वास्तविक स्पष्टीकरण-हेतु पर्याप्त है।

(v) प्रार्थना समाज

ब्राह्मसमाज के सिद्धान्तों के अनुरूप ही, सन् 1864 ई० की केशव चन्द्र सेन की बम्बई-यात्रा के प्रभाव स्वरूप सन् 1867 ई० में महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज की स्थापना हुई, जिसमें डॉ० आत्माराम पांडुरंग, रामकृष्ण गोपाल भण्डारक, महादेव गोविन्द रानाडे आदि प्रमुख व्यक्ति सम्मिलित थे। परन्तु ब्राह्मसमाजियों की भाँति ही प्रार्थनासमाजी भी ईसाइयों के रीतिरिवाज, खान-पान, रहन-सहन तथा आचार-विचार का अनुकरण करते थे। उनके लिए वेदादि शास्त्रों की निन्दा करना सामान्य बात थी। इसीलिए इनके विषय में पूछने पर स्वामी दयानन्द का उत्तर था, "इनमें स्वदेश-भक्ति अत्यन्त ही न्यून है।"[52] वास्तव में, प्रार्थना समाज मुख्य रूप से समाज-सुधार में ही संलग्न रहा। राष्ट्रीय चेतना को उभारने में इसके द्वारा कोई विशेष उल्लेखनीय कार्य नहीं किया गया।

महर्षि दयानन्द के समसामयिक (पूर्ववर्ती ब्राह्मसमाज और प्रार्थना समाज के पश्चात् के) संगठनों में थियोसोफिकल सोसाइटी एवं रामकृष्ण मिशन का भारतीय पुनर्जागरण के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण अवदान माना जाता है। अतः, संक्षेप में, उक्त दोनों संगठनों के कार्यों की समीक्षा भी प्रासंगिक है।

(vi) थियोसोफिकल सोसाइटी

यह संयोग ही है कि स्वामी दयानन्द ने जब बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की, ठीक उसी समय सन् 1875 ई० में न्यूयार्क में थियो-

सोफिकल सोसाइटी की भी स्थापना हुई। प्रारम्भ में, इस संगठन ने अपने को वेद और दयानन्द का अनुयायी तथा समर्थक घोषित किया, परन्तु शीघ्र ही यह ज्ञात होने पर कि वे भारत में आर्यसमाज को अपने प्रचार-प्रसार का मात्र माध्यम ही बनाना चाहते हैं, स्वामी दयानन्द ने सन् 1881 ई० में सोसाइटी से सम्बन्ध-विच्छेद की घोषणा कर दी। सोसाइटी अध्यक्षा मैडम ब्लेवेटस्की को एक पत्र में महर्षि ने स्पष्ट रूप से लिखा, कि "..... मेरा नाम आपने अपनी इच्छा से जहाँ कहीं (सभासदों में) लिखा हो, काट दीजिए।"[53] यही नहीं, अपितु महर्षि ने 'थियोसोफिस्टों की गोलमाल-पोलपाल' शीर्षक से एक विज्ञापन प्रकाशित कर उनकी काली करतूतों का भण्डाफोड़ भी किया।[54] दयानन्द ने 24 मार्च 1882 ई० के अपने बम्बई-प्रवचन में भी थियोसोफिस्टों के क्रिया-कलापों का खुलासा प्रस्तुत करने के लिए कर्नल आल्कॉट एवं मैडम ब्लेवेटस्की के पत्रों को पढ़कर सुनाते हुए उनके छद्म स्वरूप को उजागर किया।[55]

वस्तुतः, अन्तर-राष्ट्रीय संगठन होने के कारण सोसाइटी ने सर्वधर्म-समन्वय पर विशेष बल दिया। भूत-प्रेत आदि से सम्बन्धित विचित्र एवं रहस्यपूर्ण गुह्य विद्याओं का प्रचार-प्रसार करना उनका अभीष्ट रहा। सोसाइटी की प्रख्यात भारतीय नेत्री श्रीमती एनी बेसेण्ट का यश जिस गति से बढ़ा उसी गति से लुप्त भी होने लगा, क्योंकि जिस जे० कृष्णमूर्ति नामक युवक को बेसेण्ट ने ईश्वरावतार के रूप में घोषित किया था, उसी युवक के माता-पिता ने मद्रास के न्यायालय में बीसेण्ट के विरुद्ध अभियोग प्रस्तुत कर दिया।[56] इसी प्रकार मैडम ब्लेवेटस्की की भूत-विद्या-सत्यता-अन्वेषण के पश्चात् जब जाली एवं असत्य पायी गई और उन पर न्यायालय में विवाद लाने की बात चलने लगी, तो वे भारत से पलायन कर गईं, जिसकी पुष्टि उनके 29 अप्रैल, सन् 1885 ई० के पत्र से हो जाती है कि, "वे (मेरे विरोधी) कुछ भी सिद्ध नहीं कर सकते, किन्तु केवल सन्देह के आधार पर मुझे जेल भिजवा

सकते थे, गिरफ्तार करवा सकते थे। तथा कौन जानता है कि वे और क्या कर सकते थे..... उन्होंने (मेरे समर्थक) पहले मुझे कुछ नहीं बताया, किन्तु बिस्तर से उठा कर सीधा फ्रेन्च स्टीमर पर सवार करवा दिया।"[57] इस प्रकार उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय नवजागरण में सोसाइटी ने कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया है, अपितु वह चमत्कार, जादू-टोना एवं भूत-प्रेतादि जैसे मिथ्या एवं अनर्गल अन्धविश्वासों की स्थापना में संलग्न रही।

(vi) स्वामी विवेकानन्द :

भारतीय नवजागरण के प्रमुख सूत्रधारों में दयानन्द के परवर्ती मनीषी स्वामी विवेकानन्द का नाम अत्यन्त सम्मान के साथ लिया जाता है। रामकृष्ण परमहंस के परम यशस्वी इस शिष्य ने सच्चे अर्थों में देश विदेश में हिन्दू-धर्म और सभ्यता की कीर्ति-पताका फहरायी थी। सन् 1893 ई० में अमेरिका के शिकागो नगर में विवेकानन्द द्वारा दिया गया व्याख्यान इतिहास प्रसिद्ध है। इन्होंने अपने प्रवचनों, पत्रों तथा रचनाओं में सामाजिक एवं धार्मिक रुढ़ियों एवं अन्धविश्वासों का खण्डन भी किया है। परन्तु, ऐसे भी प्रमाणों का अभाव नहीं है, जिनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि वे मूर्तिपूजा, बाल-विवाह आदि जैसी मूढ़ अवधारणाओं के समर्थक थे। उनका मत था कि, "यदि इस मूर्तिपूजा में नाना प्रकार के कुत्सित भाव भी प्रविष्ट हो गए हों, फिर भी मैं उसकी निन्दा नहीं करता।"[58] "जिन मूल भावों से बाल्य-विवाह-प्रथा का प्रचलन हुआ है, उनके ग्रहण करने ही से यथार्थ सभ्यता का संचार हो सकता है।"[59] यही नहीं, अपितु वे मांस-भक्षण को देश-हित में बताते हुए कहते हैं, "घास-पात खाकर पेट-रोग से पीड़ित बाबा जी लोगों के दल से देश भर गया है। अतः अब देश के लोगों को मछली-मांस खिलाकर उद्यमशील बना डालना होगा।"[60]

भारत की परतन्त्रता एवं राष्ट्रीय भावना के सन्दर्भ में भी विवेकानन्द के विचार राजा राम मोहन राय की ही भाँति थे। ब्रिटिश

सरकार की प्रसन्नता को दृष्टिगत रखते हुए, उन्होंने अपने समर्थको को निर्देश दिया था कि, "तैयार किए जा रहे भाषण में ऐसे मुद्दों पर खास ध्यान दिया जाये, जिनसे रानी (विक्टोरिया) के प्रति कृतज्ञता का भाव व्यक्त हो।"[61] वे राजनीति को मूर्खता मानते थे। उनका मत था कि, "मेरा राजनीति जैसी मूर्खता में विश्वास नहीं है।"[62] यही नहीं, अपितु उन्हें अपने देश भारत की अपेक्षा अमेरिका में रहना ज्यादा सुखकर लगता था। उनकी स्पष्टोक्ति थी कि, "·····वहाँ (भारत) की अपेक्षा मैं यहाँ (अमेरिका में) ज्यादा काम करूँगा·····यहाँ मुझे खाने-पीने की, कपड़े-लत्ते की सभी सुविधाएँ उपलब्ध हैं। फिर मैं कृतघ्नियों और बुद्धिहीनों के देश में क्यों लौटूँ।"[63]

उपर्युक्त समस्त कथनों से ध्वनित होता है कि विवेकानन्द ने अपने को राजनीति से दूर रखते हुए विशेष रूप से धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित रखा। निश्चय ही, उनके द्वारा पाश्चात्य जगत् में भारत की सम्मान-वृद्धि तो हुई, परन्तु परतन्त्र, सन्तप्त एवं रूढ़िग्रस्त स्वदेश के उद्धार-हेतु उन्होंने अपेक्षित प्रयास नहीं किया। डॉ० मजूमदार के शब्दों में, " ···विवेकानन्द को अंग्रेजी राज का गुण-गान करने के कारण सर्वप्रथम अंग्रेजो ने ही उछाला ·····यह राज-भक्ति का ही पुरस्कार था।"[64]

मूल्यांकन :

भारतीय नवजागरण के उपर्युक्त विभिन्न प्रणेताओं के विचारों के परिप्रेक्ष्य में यदि हम स्वामी दयानन्द के विचारों पर विहंगम दृष्टि डालें, तो ज्ञात होगा कि वस्तुतः, दयानन्द ही सच्चे अर्थों मे नवजागरण के अग्रदूत थे। भारत में राष्ट्रीय चेतना के बीज का अंकुरण ब्राह्मसमाजियों, प्रार्थना समाजियों, रामकृष्ण मिशन अथवा स्वामी विवेकानन्द द्वारा नहीं किया जा सका। थियोसोफिकल सोसाइटी भी एक विदेशी

संस्था थी और इसका उद्देश्य भारतीय राष्ट्रीय जागरण नहीं था, अपितु अपनी लोकप्रियता की अभिवृद्धि करना मात्र था। दयानन्द की पूर्ववर्ती, समवर्ती तथा अनुवर्ती संस्थाएँ एवं नवजागरण के प्रणेतागण पाश्चात्य प्रभावों से चमत्कृत थे और उसी चकाचौंध के कारण भारतीय धर्म, दर्शन, इतिहास, सभ्यता, संस्कृति एवं जीवन-मूल्यो से अपने को जोड़ने में असफल रहे। वे या तो परस्पर विभाजित हो गए, या ईसाइयत से प्रभावित हो गए अथवा विदेशों में कतिपत अनुयायियों को एकत्र कर सन्तुष्ट हो गए। वस्तुतः, राममोहन से सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तक भारतीय नवजागरण के कर्णधार पाश्चात्यानुवर्ती ही रहे।

इन सबके अतिरिक्त, सिंह के समान तेजस्वी, हरक्यूलिस जैसा बलवान और इलियड तथा गीता के नायक-तुल्य देदीप्यमान स्वामी दयानन्द ही राष्ट्रीय चेतना के पुनर्जन्म व पुनर्जागरण के क्षण में भारत में तात्कालिक व वर्त्तमान कर्म की सर्वापेक्षा प्राणवान शक्ति थे। उनके जीवन का आदर्श कर्म था और उस कर्म का लक्ष्य उनका देश व राष्ट्र था।[65] दयानन्द ने भारतीय सनातन चिन्तन (वेदादि आर्षग्रन्थ) से ही भारतीय नवजागरण एवं राष्ट्रवाद को प्रेरणा दी।[66] इस सत्य एवं तथ्य को स्वोकार करते हुए प्रसिद्ध अमेरिको विद्वान् डॉ० टी० जे० सदरलेण्ड ने भी लिया है कि, "यह (आर्यसमाज) विशुद्ध इण्डियन तहरीक है, जो कि ईसाई प्रभावों से सर्वथा अलग वा (यों कहो कि) ईसाई और पश्चिमीय प्रभावों से सवथा अलग हो उठी थी।"[67] वास्तव में, स्वामी दयानन्द ही ऐसे एक मात्र भारतीय पुनर्जागरण-काल के विचारक हैं, जिन्होंने विशुद्धतः भारतीय नवजागरण का अलख जगाया। उनका चिन्तन पाश्चात्य प्रभावों से सर्वथा मुक्त, स्वतन्त्र एवं सांगोपांग भारतीय था।

उपर्युक्त विदेशी विद्वान् की स्वीकारोक्ति की सम्पुष्टि स्वामी दयानन्द के नैतिक एवं अध्यात्मिक तत्वों से ओत-प्रोत उनके राष्ट्रवादी चिन्तन-स्वधर्म (वेदवाद), स्वदेशी, स्वराज्य तथा स्वभाषा (आर्य

भाषा हिन्दी) के चार स्तम्भों के सम्यक् अध्ययन से हो जाती है। महर्षि द्वारा उद्घोषित 'आर्यावर्त्त आर्यों के लिए है' के नारे की राजनीतिक निष्पत्ति, कांग्रेस के सन् 1906 ई० के कलकत्ता-अधिवेशन में, 'भारतवर्ष भारतीयों के लिए' के रूप में हुई। यह भी एक संयोग ही है, कि दयानन्द के अतिरिक्त राजा राम मोहन राय से महात्मा गाँधी पर्यन्त पुनर्जागरण और नवोत्थान के नेता अंग्रेजी शिक्षा, सभ्यता, रीति-नीति और आचार-विचार से सुपरिचित थे। मात्र स्वामी दयानन्द ही एक ऐसे अपवाद हैं, जो सर्व प्रकारेण सत्य सनातन भारतीय संस्कृति, सभ्यता एवं दर्शन के आधार पर ही भारतीय नवजागरण के सूत्रपात में आजीवन सक्रिय रहे। दयानन्द के उदाहरण से ही इस मान्यता का भी खण्डन हो जाता है कि भारत के नवजागरण का एक मात्र श्रेय पाश्चात्य विचारधारा एवं अंग्रेजी शिक्षा को ही है।

पाद टिप्पणियाँ :

1. शान्ता मल्होत्रा—पोलिटिकल थॉट ऑफ स्वामी दयानन्द—पृ० 19 मनुस्मृति का मेधातिथि-कृत भाष्य (825-900 ई० पू०), याज्ञवल्क्य स्मृति पर विज्ञानेश्वर का मीताक्षर भाष्य (लगभग 1100 ई० पू०), गौतम-धर्मसूत्र तथा आपस्तम्ब-धर्मसूत्र पर हर दत्त का भाष्य (1300 ई० पू०), कुल्लूक भट्ट कृत मनुस्मृति-भाष्य (1300 ई० पू०)
2. सी० एल० वेपर—राज-दर्शन का स्वाध्याय - पृ० 205
3. शान्ता मल्होत्रा—पोलिटिकल थॉट ऑफ स्वामी दयानन्द—पृ० 17 तथा 20
4. भवानीलाल भारतीय—महर्षि द० के भक्त, प्रशंसक और सत्संगी पृ० 69-70 श्री माधव राव ने कहा था कि, "हम लोगो को तो अब तक अपने राजनीति-ज्ञान पर गर्व था, किन्तु आपके द्वारा राजाओं के इस कर्त्तव्य-विश्लेषण को सुन कर यह स्वीकार करता हूं कि आप का राजनय का ज्ञान हम जैसों से सैकड़ों गुना बढ़कर है।"

5, भवानी लाल भारतीय—नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती—पृ० 361-362

6. बी० बी० मजूमदार—"स्वामी दयानन्द वास्तव में राजनीतिक विचारों के व्यक्ति थे। आधुनिक समय में उन्होंने ही सर्वप्रथम आर्यों की राजनीति का विषद चित्रण प्रस्तुत किया है। वेदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों, उपनिषदों एवं धर्मशास्त्रों से चुने हुए उद्धरणों के आधार पर उन्होंने भारत की प्राचीन राजनीतिक विचारावलि को पुनः प्रकाशित कर दिया।"—हिस्ट्री ऑफ इण्डियन सोशल एण्ड पोलिटिकल आइडियाज : फ्राम राम मोहन टू दयानन्द—पृ० 25।

7. लाला लाजपत राय—सन्1821 ई० में एक ब्रिटिश अधिकारी ने 'एशियाटिक' जर्नल में लिखा था, कि "फूट उत्पन्न करके राज्य करना, हमारे भारतीय शासन का मूल मन्त्र होना चाहिए।" सन् 1857 ई० के सिपाही-विद्रोह के समय लेफ्टिनेण्ट कर्नल कोक तथा 14 मई सन् 1859 ई० में बम्बई के गवर्नर लार्ड एलफिन्सटन ने भी इसी सिद्धान्त के दृढ़ता से क्रियान्वयन पर बल दिया था।—दुखी भारत—पृ० 388-389।

8. वाल्टेयर ने भारतीयों की आलसी प्रवृत्ति के सम्बन्ध में कहा था कि, "उसका मुख्य सिद्धान्त यह है कि चलने की अपेक्षा लेटना तथा लेटने की अपेक्षा सोना और सोने की अपेक्षा मरना अच्छा है।" —उमाकान्त उपाध्याय (सं०)—भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम में आर्य समाज की देन—पृ० 20 (कुमारी गार्गी माथुर के लेख से)।

9, सत्यकेतु विद्यालंकार (सं०)—आर्य समाज का इतिहास-भाग 4, पृ० 37

10. पं० रघुनन्दन शर्मा—वैदिक सम्पत्तिपृ० 319

11. डॉ० सी० बी० सिंह—भारतीय राजनीति में स्वराज्य पार्टी की भूमिका पृ० 1

12. रामधारी सिंह 'दिनकर'—संस्कृति के चार अध्याय-पृ० 401, 407

13. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय—महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित—(अनु०-घासी राम)—भाग 1, भूमिका, पृ० 3

14. जवाहरलाल नेहरू—दि डिस्कवरी ऑफ इण्डिया पृ० 416

15. विजेन्द्र पाल सिंह—भारतीय राष्ट्रवाद एवं आर्यसमाज आन्दोलन—पृ० 120

16. जयचन्द्र विद्यालंकार—भारतीय इतिहास की मीमांसा पृ० 190

17. लाला लाजपत राय—दुखी भारत पृ० 326

18. सत्यार्थ प्रकाश—पृ० 187

19. भवानी लाल भारतीय—नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती—पृ० 373

20, रवीन्द्रनाथ टैगोर—नेशनलिज्म—पृ० 94

21. लक्ष्मीनारायण गुप्त—हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन पृ० 5

22. भवानी लाल भारतीय—महर्षि दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द पृ० 164

23. लाला लाजपत राय—दुखी भारत पृ० 194

24. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन सं० 11)—पृ० 401-402

25. वही पूना-प्रवचन सं० —पृ० 408

26. सत्यकेतु विद्यालंकार (सं०)—आर्यसमाज का इतिहास—भाग 1 पृ० 154

27. भवानीलाल भारतीय (सं०)—श्रद्धानन्द ग्रन्थावली भाग 3, पृ० 16

28. सत्यकेतु विद्यालंकार (सं०) आर्य समाज का इतिहास भाग 4 पृ० 84

29. भवानी लाल भारतीय—नवजागरण के पुरोधा० पृ० 13

30. वही—पृ० 15

31. राम गोपाल शास्त्री—क्या वेद में आर्यों और आदिवासियों के युद्धों का वर्णन है ? पृ० 5-6

32. धर्मदेव विद्यामार्तण्ड—वेदों का यथार्थ स्वरूप पृ० 26

33. सत्यकेतु विद्यालंकार (सं०) आर्य समाज का इतिहास—भाग 4, पृ० 85

34. ऋ० द० स० के प० और वि० – भाग 2, पृ० 568

35. रोमां रोला—रामकृष्ण परमहंस पृ० 155

36. भवानी लाल भारतीय—नवजागरण के पुरोधा० पृ० 15-16

37. वी० पी० वर्मा—आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन पृ० 2

38. जयचन्द्र विद्यालंकार—भारतीय इतिहास की मीमांसा—पृ० 209

39. रोमां रोला—रामकृष्ण परमहंस पृ० 155

40. पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास—भाग 5, पृ० 416

41. आर० एन० सामधर—राजा राम मोहन राय—पृ० 24-25

42. के० पी० करुणाकरन—रिलीजन एण्ड पोलिटिकल अवेकनिंग इन इण्डिया—पृ० 89-113

43. वी० पी० वर्मा—आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन-पृ० 18

44. भवानीलाल भारतीय—महर्षि दयानन्द और राजा राम मोहन राय—पृ० 12 तथा दत्तात्रेय बाब्ले—दी आर्य समाज पृ० 137-138

45. रघुनन्दन शर्मा – वैदिक सम्पत्ति पृ० 428

46. गंगा प्रसाद उपाध्याय—राजा राम मोहन राय, केशव चन्द्र सेन, स्वामी दयानन्द पृ० 70

47. रोमां रोला—रामकृष्ण परमहंस—पृ० 155

48. सत्यकेतु विद्यालंकार (सं०)—आर्य समाज का इतिहास—भाग 1, पृ० 163

49. वही—पृ० 178

50. वही—पृ० 163

51. राम तीर्थ भाटिया (स०) महर्षि दयानन्द के सर्वश्रेष्ठ भाषण—पृ० 6

52. स० प्र०—पृ० 259-260

53 ऋ० द० स० के पत्र और वि०—भाग 1, पृ० 317-318

54 वही—भाग 2, पृ० 548-554

55. ऋ० द० स० के० शा० और प्र० (बम्बई-प्रवचन सं० 17)—पृ० 505

56. भवानीलाल भारतीय—नवजागरण के पुरोधा—पृ० 21

57. सत्यकेतु विद्यालंकार (सं०) —आर्य समाज का इतिहास भाग-1, पृ० 170

58. भवानीलाल भारतीय—महर्षि दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द—पृ० 86

59. वही—पृ० 156

60. वही—पृ० 260

61. वही —पृ० 300

62. बो० के० अरोड़ा—दि सोशल एण्ड पोलिटिकल फिलासफी ऑफ स्वामी विवेकानन्द —पृ० 1

63. भवनोलाल भारतीय—महर्षि दयानन्द और स्वामी विवेकावन्द—306

64. बो० बी० मजूमदार—हिस्ट्रो ऑफ सोशल एण्ड पोलिटिकल आइडियाज पृ० 267

65. रोमां रोला —रामकृष्ण परमहंस—पृ० 163

66. धनपति पाण्डेय—दि आर्यसमाज एण्ड इण्डियन नेशनलिज्म (1857-1920) पृ० 13

67. भवामी लाल भारतीय (स०) श्रद्धानन्द-ग्रन्थावली—भाग 3, पृ० 174

—: o :—

अध्याय 2

राज-धर्म की अवधारणा

स्वामी दयानन्द ने प्राचीन राजनीतिक चिन्तक मनु से प्रभावित होकर शासन के विज्ञान और कला से सम्बन्धित राजनीतिक चिन्तन-हेतु 'राज-धर्म' शब्द का प्रयोग किया है। चूँकि, प्रस्तुत ग्रन्थ का शीर्षक 'स्वामी दयानन्द का राजनीतिक दर्शन हैं' अतः राजनीतिक दर्शन शब्द की व्याख्या द्वारा स्पष्ट करना प्रासंगिक ही होगा कि दयानन्द द्वारा प्रयुक्त 'राज-धर्म' शब्द वस्तुतः उनके राज-दर्शन का ही नाम है।

राजनीतिक दर्शन की पाश्चात्य अवधारणा

पाश्चात्य चिन्तन में 'राजनीति' शब्द का प्रयोग मात्र राज्य और सरकार की गतिविधियों के परिप्रेक्ष्य में ही न होकर; मानव के सम्पूर्ण राजनीतिक क्रिया-कलापों के लिए किया जाता है। इसी सन्दर्भ में ई० जी० कैटलिन का यह मत उल्लेखनीय है कि, 'अरस्तू ने राजनीति की परिधि में राष्ट्रीय राज्य-व्यवस्थाएँ, नागरिक और अन्तर-राष्ट्रीय राज्य व्यवस्थाएँ, पैतृक व्यवस्था, धार्मिक संगठन, व्यापारिक संस्थान और कर्मचारियों के संगठन सभी को ले लिया था।[1] मात्र अरस्तू ने ही नहीं, अपितु पाश्चात्य समसामयिक विचारक, जैसे—अप्पादोराय (दि सब्सटेन्स ऑफ पोलिटिक्स), डेविड इ० एप्टर (इन्ट्रोडक्शन टू पोलिटिकल एनालिसिस), तथा प्रसिद्ध व्यवहारवादी चिन्तक डेविड ईस्टन (ए फ्रेमवर्क फॉर पोलिटिकल एनालिसिस) आदि, ने 'राजनीति' शब्द का व्यापक अर्थों में प्रयोग करते हुए उसे मानव के समूचे जीवन से सम्बद्ध बताया है।

'दर्शन' वस्तुतः 'सत्यान्वेषण' है, जिसे दार्शनिक अपनी प्रज्ञा-चक्षु द्वारा प्राप्त करता है। 'दर्शन' शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ भी होता है—जिसे देखा जाय अथवा ज्ञान प्राप्त किया जाय। इस प्रकार राजनीतिक दर्शन का अर्थ—राजनीतिक गतिविधियों, विश्वासों, सिद्धान्तों, संस्थाओं आदि का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर उसे समाज-कल्याण में प्रयुक्त करना है। सी० एल० वेपर ने राजनीतिक दर्शन की परिभाषा करते हुए लिखा है कि 'राजनीतिक चिन्तन वह चिन्तन है, जिसका सम्बन्ध राज्य, राज्य के आकार, राज्य के स्वभाव तथा राज्य के लक्ष्य से है। इसका मुख्य कार्य समाज में मानव का नैतिक पर्यवेक्षण करना है। इसका उद्देश्य राज्य के अस्तित्व, स्थिरता तथा नित्यता के लिए विवरण प्रस्तुत करना ही नहीं है।'[2]

अभिनव आदर्शवादी राजनीतिक विचारक लियोस्ट्रास ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'व्हॉट इज पोलिटिकल फिलॉसफी' में राजनीतिक दर्शन के अर्थ, प्रकृति तथा परिभाषा आदि का विस्तृत विवेचन किया है। स्ट्रास का मत है कि, "....अच्छे जीवन और अच्छे समाज के ज्ञान को प्राप्त करना, व्यक्ति जब अपना निश्चित लक्ष्य बना लेता है, तब राजनीतिक दर्शन का उद्भव होता है।"[3] अपने मन्तव्य को पुनः स्पष्ट करते हुए स्ट्रास ने लिखा है कि, "दर्शन का अर्थ यदि 'बुद्धिमत्ता की खोज' अथवा 'विश्व-व्यापी ज्ञान की खोज' अथवा 'समग्र का ज्ञान' है, तो राजनीतिक दर्शन से हमारा अर्थ राजनीतिक घटनाओं की प्रकृति और सही अथवा अच्छी राजनीतिक व्यवस्था दोनों को उनके सही रूप में समझने का प्रयत्न है।"[4] स्ट्रास के लिए राजनीतिक दर्शन, वस्तुतः नैतिक सत्य को जानने के सत्प्रयास[5] तथा मानव जीवन के मूल्यों की व्याख्या से सम्बन्धित है।[6] इस प्रकार स्पष्ट है कि राज-दर्शन का सम्बन्ध मात्र राजनीतिक क्रियाकलापों से ही नहीं, अपितु मानव के नैतिक मूल्यों के उन्नयन एवं विवेचन से भी है। ऐसी स्थिति में हम निस्संकोच कह सकते हैं कि स्वामी दयानन्द का राज-धर्म सच्चे अर्थों में राज-दर्शन है।

उल्लेखनीय है, कि राजनीति विज्ञान के विभिन्न ख्यातिलब्ध दार्शनिकों, लेखकों तथा समीक्षकों ने अपनी राजनीति विषयक कृतियों में राजनीति विज्ञान, राजनीतिक सिद्धान्त, राजनीतिक दर्शन, राजनीति का विश्लेशण, राजनीतिक सर्वेक्षण आदि शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची-रूप में किया है, परन्तु सूक्ष्मता से अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उक्त पयार्यवाची शब्द एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी अन्योन्याश्रित हैं और इनका प्रयोग राज-दर्शन के सिद्धान्त एवं व्यवहार दोनों के लिए हुआ है। राजनीतिक संस्थाएँ, यथा राज्य, सरकार, राजनीतिक संगठन आदि राज-दर्शन के व्यावहारिक पक्ष हैं। इसी व्याख्या के परिप्रेक्ष्य में स्वामी दयानन्द के राज-दर्शन का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक अनुशीलन इस पुस्तक में किया गया है।

राजनीतिक दर्शन की भारतीय अवधारणा

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन की भाँति भारतीय राजनीतिक चिन्तन में भी आचार्यों ने शासन को कला एवं विज्ञान से सम्बन्धित चिन्तन-हेतु पृथक्-पृथक् शब्दों का प्रयोग किया है। धर्म-सूत्र तथा धर्म-शास्त्र में राज-धर्म, महाभारत में राजशास्त्र, दण्डनीति और अर्थशास्त्र, पंचतन्त्र में नृप-शास्त्र तथा अर्थशास्त्र, कौटिल्य ने अर्थशास्त्र, कामन्दक ने नीतिसार, वैशम्पायन ने नीति प्रकाशिका, शुक्र ने नीतिसार, जातकमाला तथा पुराण में राजनीति, राज-धर्म, दण्डनीति, अर्थशास्त्र आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् में राज-दर्शन-हेतु 'क्षात्र-विद्या' का भी प्रयोग मिलता है, जिसका भाष्य शंकराचार्य ने 'धनुर्वेद' किया है। इसे कीथ, हॉपकिन्स आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भी स्वीकार किया है।[7]

(i) दण्डनीति :

प्राचीन भारतीय चिन्तन में दण्डनीति को राजनीति की कला और विज्ञान का शास्त्र माना गया है। कालान्तर में दण्डनीति को ही

अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा राज-धर्म आदि नामों से सम्बोधित किया जाने लगा। महाभारत में आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति नामक चारो विद्याओं की उत्पत्ति को धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति-हेतु सृष्टि-काल के कुछ समय पश्चात् एक ही साथ उत्पन्न माना गया है।[8] कौटिल्य का भी मत है कि, "·····आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता का सुचारु संचालन दण्ड पर ही निर्भर करता है। दण्ड के सम्यक् प्रयोग की नीति को ही दण्डनीति कहते हैं।"[9] अन्य ग्रन्थों में भी दण्डनीति को शासन से सम्बन्धित शास्त्र की संज्ञा देते हुए उसे पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति का साधन माना गया है।[10] यही नहीं अपितु विभिन्न विद्वानों ने दण्डनीति का अंग्रेजी में अनुवाद 'राजनीति एवं प्रशासन से सम्बन्धित विज्ञान' के रूप में किया है।[11] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'दण्डनीति' राज्य, सरकार तथा मानव के समस्त राजनीतिक क्रियाकलापों के अध्ययन का विज्ञान है।

(ii) अर्थशास्त्र :

दण्डनीति के लिए 'अर्थशास्त्र' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। ध्यातव्य है, कि अर्थशास्त्र मात्र धन का ही शास्त्र नहीं है, अपितु उसका सम्बन्ध समस्त राजनीतिक एवं प्रशासनिक गतिविधियों से भी है।[12] कौटिल्य के शब्दों में, "मनुष्यों की जीविका को अर्थ कहते हैं, मनुष्यों से युक्त भूमि को भी अर्थ कहते हैं। इस प्रकार की भूमि को प्राप्त करने तथा उसकी रक्षा करने वाले उपायों का निरूपण करने वाले शास्त्र को ही अर्थशास्त्र कहा जाता है।"[13] इस कथ्य से यह स्पष्ट है कि चूँकि भूमि की प्राप्ति, रक्षण, वृद्धि आदि का कार्य और अधिकार राष्ट्रीय स्तर पर राजा (राज्य) का है, अतः राजा के इन कार्यों से सम्बन्धित शास्त्र को अर्थशास्त्र कहते हैं।

(iii) नीतिशास्त्र :

राजनीतिक ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित शास्त्र-हेतु 'नीतिशास्त्र' शब्द का प्रयोग शुक्र एवं कामन्दक ने किया है, जिसका मोनियर

विलियम्स ने अंग्रेजी रूपान्तर 'ट्रीटाइज ऑन पोलिटिकल इथिक्स' किया है।[13] इसी प्रकार दण्डनीति-हेतु छान्दोग्योपनिषद् (8—1.2, 1.4, 2.1, 7.1) में प्रयुक्त 'क्षात्र-विद्या' शब्द का यू० एन० घोषाल, डॉ० बरुआ तथा डॉ० मेहता ने अंग्रेजी अनुवाद 'साइन्स ऑफ गवर्नमेण्ट' किया है।[14]

(iv) राज-धर्म :

दण्डनीति-हेतु 'राज-धर्म' शब्द का प्रयोग महाभारत एवं मनुस्मृति में किया गया है, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है—राजा का धर्म अर्थात् राजा के कर्त्तव्य। काणे ने राज-धर्म को शासक और शासन-व्यवस्था से सम्बन्धित माना है।[15] महाभारत में भीष्म ने राज-धर्म को सभी प्रकार के धर्मों का मूल मानते हुए कहा है कि "सब धर्मों में राज-धर्म ही प्रधान है ·····सब विद्याएँ राज-धर्म में ही आ जाती हैं ·····सभी भोग राज-धर्म में निबद्ध हैं, सभी योग राज-धर्म में प्रयुक्त हैं ·····क्षत्रियों के लिए यह लोक का श्रेष्ठ धर्म है···· ····।"[16] इससे स्पष्ट होता है कि राज-धर्म ही समस्त धर्मों का नियन्ता तथा लोक-कल्याण का हेतु है। वस्तुतः, राज-धर्म व्यापक 'धर्म' (गुण, कर्त्तव्य) का अतिसूक्ष्म भाग—नैमित्तिक धर्म (राज्य और प्रशासन के निमित्त को लिए हुए) अथवा गुण-धर्म (किसी पद पर आसीन व्यक्ति के लिए नियम—यथा राजा से सम्बन्धित नियम) है। दूसरे शब्दों में, राज-धर्म और कुछ नहीं, अपितु राज्य-प्रशासन की कला और विज्ञान है।

(इ) राज-धर्म की दयानन्दीय अवधारणा

स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों एवं प्रवचनों आदि मे राज्य विषयक चिन्तन-हेतु 'राज-धर्म' शब्द का ही प्रयोग किया है। अपने अद्वितीय ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' के षष्ठ समुल्लास (जो राज-धर्म से ही सम्बन्धित है) में ऋषि ने राज-धर्म को परिभाषित करते हुए लिखा है कि, "चारो वर्ण और चारो आश्रमों के व्यवहार कथन के पश्चात् राज-धर्मों को

कहेंगे। जिस प्रकार का राजा होना चाहिए और जैसे इसके होने का सम्भव तथा जैसे इसको परमसिद्धि प्राप्त होवे, उसको सब प्रकार कहते हैं।"[17] दयानन्द की इस परिभाषा द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि राज-धर्म अर्थात् राजनीति विज्ञान ज्ञान की वह शाखा है, जिसमें राजा (राज्य), उसकी उत्पत्ति, राज्य के प्रकार, उद्देश्य एवं परमसिद्धि अर्थात् कार्य आदि का अध्ययन किया जाता है। प्रस्तुत पुस्तक स्वामी दयानन्द की इसी परिभाषा के क्षेत्र से सम्बन्धित है।

वस्तुतः, महर्षि के राजनीतिक चिन्तन के आधार वेद, मनुस्मृति, वृहस्पति राज-धर्म-सूत्र, विदुर-प्रजागर-नीति तथा महाभारत आदि आर्ष ग्रन्थ रहे हैं। महर्षि राजनीति को वेद-प्रदत्त शास्त्र मानते हैं। यजु० भा० 30.1 में राज-धर्म को यज्ञ की संज्ञा दी गई है। दयानन्द ने राज-विद्या को श्रेष्ठ योग मानते हुए राजनीति के प्रयोगकर्त्ता को ही समस्त मनुष्यों का माता-पिता-मित्र और रक्षक माना है।[18] उदयपुर के महाराणा श्री सज्जन सिंह को महर्षि ने पत्र लिखकर उन्हें वेदादि-शास्त्र, मनुस्मृति के सातवें, आठवें और नवें अध्याय, महाभारत के राज-धर्म, आपत् धम और विदुर-प्रजागर-विदुरनीति के अनुकूल कर्त्तव्याकत्तव्य को जानकर राज्य-कार्य करने का निर्देश दिया है।[19] दयानन्द ने राजकीय कार्यों को 'पोलिटिकल'[20] की संज्ञा प्रदान करते हुए राज-धर्म को राज्य की आत्मा बताया है।[21] महर्षि चाहते थे कि राज्य-कार्य धर्मानुसार ही किया जाना श्रेयस्कर है, क्योंकि जो धर्मात्मा पुरुष होते हैं, उनके क्षात्र धर्म और सब राज्य में ईश्वर का प्रकाश होता है।[22] इसीलिए महर्षि ने राज-धम को ही वास्तविक राजा और राज्याधिकारी कहा है, किसी व्यक्ति विशेष को नहीं।[23]

महर्षि के उपर्युक्त कथनों एवं मान्यताओं से स्पष्ट है कि उनकी राजनीति विषयक अवधारणाएँ धर्ममूलक हैं। इसीलिए उन्होंने 'राज' शब्द के साथ 'नीति' न लगा कर 'धर्म' शब्द लगाया है। देश की स्वतन्त्रता-हेतु दयानन्द ने राज-पुरुषों के चारित्रिक उन्नयन एवं नैतिक

विकास को अपरिहार्य स्वीकारते हुए हो धर्मनिष्ठ राजनीति को स्वीकृति दो है। उतका अभिमत है कि, "यदि अधर्म से चक्रवर्त्ती राज्य भो प्राप्त होता हो, तो उसको ग्रहण नहीं करना चाहिए।"[24] इस कथ्य से स्पष्ट है कि वे राजनीति को धर्म (धारण करने के अर्थ में) मानते थे। उन्होंने राजनीति के शुद्धिकरण-हेतु ही देश, काल, परिस्थिति एवं जनभावना के अनुकूल राज-धर्म शब्द का प्रयोग किया है, जिससे कि राजनीति से स्वार्थ, छल एवं कपट आदि को समाप्त किया जा सके। वे राजनीति में नैतिक मूल्यों एवं प्रतिमानों की स्थापना करना चाहते थे।

दयानन्द ने अपने वेद-भाष्यों में भो धर्मनिष्ठ राजनीति के सिद्धान्त को स्थापना पदे-पदे को है।[25] महर्षि राजनोति को भारतोय संस्कृति के मूलाधारों से संयुक्त करते हुए उसके नैतिक तथा आध्यात्मिक कलेवर को बनाए रखना चाहते थे, क्योंकि उनको यह ज्ञात था कि जब भो राजनोति का धर्म एव नैतिकता से विच्छेद हुआ है, उसका परिणाम स्वार्थ, कपट, छल-छद्म, हिंसा तथा विश्वयुद्ध आदि हो हुआ है। यही कारण है, कि महर्षि के परवर्त्ती चिन्तक तथा भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गाँधो ने भो धर्म और नोति-शून्य राजनीति को त्याज्य बताया है। उनके शब्दों में,'मैं देश की आँखों में धूल नहीं झोंकूँगा। मेरे नजदीक धर्म-विहोन राजनोति कोई चोज नहीं है। धर्म के माने वहमों और गतानुगतिकत्व का धर्म नहीं, द्वेष करने वाला और लड़ने वाला धर्म नहीं, वल्कि विश्वव्यापो सहिष्णुता का धर्म। नीतिशून्य राजनीति सर्वथा त्याज्य है।"[26] अरविन्द भी धर्म का पालन और प्रयोग करने वालो राज्य- शक्ति के हो पक्षधर थे।[27] इन कथनों से यह स्पष्ट है कि दयानन्द ने धर्मानुप्राणित राजनोति की उस प्राचीन भारतीय परम्परा का निर्वहन किया है, जिसके अनुयायी गाँधी और अरविन्द भी थे।

महर्षि के राज-धर्म-हेतु 'साइन्स ऑफ गवर्नमेण्ट'[28] इंग्लिश शब्द का प्रयोग करते हुए अप्पादोराय जैसे प्रख्यात राजनोतिक चिन्तक ने

यह अभिमत प्रस्तुत किया है कि, "उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, महर्षि के चिन्तन में, प्राचीन हिन्दू ग्रन्थों--वेदों, धर्मशास्त्रों और मनु का स्पष्ट प्रभाव देखने को मिलता है।"[29] महर्षि के राज-दर्शन की शुचिता एवं सार्वभौमिकता को देखते हुए ही दीवान चन्द्र ने उन्हें राजनीतिक दार्शनिक माना है, राजनीतिज्ञ नहीं।[30] महर्षि द्वारा राजनीति में धर्म को बहुलता पर बल दिए जाने के कारण धर्मनिरपेक्षता के नाम पर उनको निन्दा करने की कोशिश की जाती है, परन्तु ऐसे निन्दक, वस्तुतः धर्म का अर्थ ही नहीं समझते। महर्षि का धर्म कोरा कर्मकाण्डी सम्प्रदाय न था। वे राजधर्म के उपासक थे, जिसकी इकाई स्वराज्य है और जिसका अन्तिम लक्ष्य है—अखण्ड सार्वभौमिक चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना करना,[31] जो बल और हिंसा से नहीं, प्रत्युत धर्म से ही सम्भव है। महर्षि के राज-धर्म की संकल्पना मूल्य-परक राजनीति की स्वीकृति है। परन्तु, दयानन्द द्वारा प्रतिपादित धर्मानुप्राणित विभिन्न राजनीतिक सिद्धान्तों को उनके सही रूप में समझने के लिए महर्षि के 'धर्म' की अवधारणा को समझना अत्यावश्यक है।

(ई) भारतीय चिन्तन में धर्म की संकल्पना :

धर्म, भारतीय चिन्तन का मूलाधार ही नहीं, अपितु प्रमुख निर्देशक तत्त्व भी है। 'धर्म' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा के 'धृ' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है—धारण करना, आलम्बन देना अथवा पालन करना। इसी भाव को महाभारत में इस प्रकार व्यक्त किया गया है— "धारण करने के कारण धर्म कहलाता है, धर्म प्रजा को धारण करता है, जो धारण-संयुक्त है, वह धर्म है।"[32] तात्पर्य यह कि लोक को धारण करने वाला अथवा जिससे लोक-धारण किया जाये, वही धर्म है। संस्कृत भाषा का 'धर्म' शब्द अत्यन्त व्यापक एवं विस्तृत है तथा इसे अंग्रेजी के 'रिलीजन' शब्द का रूपान्तर नहीं स्वीकार किया जा सकता है। 'रिलीजन' कहने से जिस अर्थ का बोध होता है, उसकी अपेक्षा

भारत के 'धर्म' शब्द का अर्थ अधिक व्यापक है। रिलीजन तो धर्म का अंग मात्र है।[33] मानव जीवन को अनुशासित करने वाले धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक, न्यायिक और परम्परागत कानून का ही नाम धर्म है।[34]

धर्म की व्याख्या प्रमुखतः धार्मिक विधियों, क्रिया-संस्कारों, प्राचीन विधियों निश्चित नियम तथा आचरण-नियम के रूप में वेदों में मिलती है। अथर्ववेद (9.9.17) में धर्म शब्द का प्रयोग धार्मिक क्रिया-संस्कार करने से अर्जित गुण के अर्थ में हुआ है, ऐतरेय ब्राह्मण (7.17,8,13) में धर्म शब्द सकल धार्मिक कर्त्तव्यों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[35] उपनिषदों में धर्म को 'सत्य' की संज्ञा दी गई है। उपनिषदों के इसी मन्तव्य के आधार पर आर्य समाज नैरोबी, केन्या में 2-3 सितम्बर 1978 ई० को व्याख्यान देते हुए डा० सत्यप्रकाश सरस्वती ने कहा था कि, "धर्म सत्य पर आधारित है। सत्य पृथ्वी पर ईश्वर का प्रकटीकरण है। धर्म मानव की खोज नहीं; अपितु प्रकृति का वरदान है।"[36] अन्यत्र भी स्वामी सत्यप्रकाश ने लिखा है कि, "धर्म नैसर्गिक है, मनुष्य का दिया हुआ नहीं। इसी अभिप्राय से यह ईश्वरीय है। धर्म मनुष्य मात्र का है, न वह भारतीय है, न यूरोपीय, न प्राच्य न पाश्चात्य।"[37] मीमांसा दर्शन में यज्ञादि क्रियाओं को धर्म माना है।[38] पूर्वमीमांसा (1. 1. 2) में वेदों में प्रयुक्त अनुशासनों के अनुसार धर्म से अभ्युदय एवं निःश्रेयस् की सिद्धि होती है।[39]

वेद में धर्म के लिए 'ऋत्'[40] शब्द का प्रयोग मिलता है। पहले ऋत् जगत्-सम्बन्धी व्यवस्था के अर्थों में प्रयुक्त होता था, परन्तु ऋत् शब्द अब लुप्त-सा हो गया है और उसके स्थान पर सत्य शब्द प्रतिस्थापित हो गया है। ऋत् का प्रयोग सर्वप्रथम प्रकृति के अर्थ में, पुनः प्राकृतिक अवस्था या निरन्तरता (गतिशीलता) के रूप में और बाद में चलकर नैतिकता के रूप में होने लगा।[41] वस्तुतः, ऋत् शब्द उस शक्ति का नाम है, जो मानव को सत्पथ की ओर प्रेरित करती है।[42] उपर्युक्त

कथनों के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि वेदों में ऋत् शब्द का प्रयोग शाश्वत विधि या सृष्टि के नियम के रूप में हुआ है. जो कालान्तर में नैतिक नियम, सत्य और धर्म के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। वस्तुतः, ऋत् सृष्टि-प्रक्रिया का प्रज्ञापक है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि भारतीय चिन्तन में धर्म का अर्थ और प्रयोग विभिन्न प्रकारों,परिवर्तनों एवं विपर्ययों के रूप में होता रहा है। बी० के० सरकार के अनुसार धर्म के पाँच अर्थ हो सकते हैं—धार्मिक विश्वास, नैतिक गुण, कानून, न्याय एवं कर्त्तव्य। कीथ ने धर्म को प्रथा, कानून और सदाचरण के रूप में माना है। कौटिल्य ने भी धर्म को तीन अर्थों में लिया है—सामाजिक कर्त्तव्य, सत्य पर आधारित नैतिक कानून और नागरिक कानून।[43] धर्म को कर्त्तव्य-पालन के रूप में व्याख्यायित करने से ही वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, गुण-धर्म, नैमित्तिक-धर्म तथा सामान्य धर्म के विभिन्न प्रकार होते हैं। संक्षेप में, कहा जा सकता है कि भारतीय चिन्तन में धर्म शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक एवं बहु आयामीय हुआ है।

धर्म विषयक दयानन्द की अवधारणा :

स्वामी दयानन्द ने भी धर्म शब्द का अर्थ एवं प्रयोग कर्त्तव्य, सद्-गुण, सत्याचरण, न्याय तथा नैतिकता के सन्दर्भ में किया है। उनके लिये (धर्म) नाम है न्याय का और न्याय नाम है पक्षपात का छोड़ना।[44] पूना के एक प्रवचन में महर्षि ने धर्म-अधर्म का विभेद करते हुए कहा कि, "परमेश्वर की आज्ञा यह धर्म, अवज्ञा यह अधर्म, विधि यह धर्म, निषेध यह अधर्म, न्याय यह धर्म, अन्याय यह अधर्म, निष्पक्षता यह धर्म, पक्षपात यह अधर्म है।"[45] महर्षि ने अनेक स्थलों पर मनुस्मृति (6.92) में वर्णित धृति, क्षमा, आदि दश गुणों को धर्म का लक्षण मान लिया है।[46] उन्होंने पूर्वमीमांसा (1. 1. 2) तथा वैशेषिक (1. 1. 2) के धर्म के लक्षण को ज्यों का त्यों स्वीकार करते हुए धर्म को बेद-विहित आज्ञा तथा लौकिक एवं पारलौकिक सुखों का

प्रदाता बताया है।[47] ऋषि ने धर्म को ऋत्, सत्य, तप, दम, शम, अग्नि, अग्निहोत्र, आतिथ्य, मानव-सेबा, प्रजा-पालन, प्रजनन तथा प्रजाति—इन बारह लक्षणों से युक्त माना है।[48]

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि महर्षि ने धर्म का प्रयोग सत्य, न्याय, गुण तथा कर्त्तव्य आदि के रूप में किया है, किसी साम्प्रदायिक अथवा धार्मिक क्रियाकलापों के रूप में नहीं। वह धर्म द्वारा मनुष्य को मनुष्यता से परिपूर्ण करना चाहते थे। यही कारण है कि उनकी धर्म की अवधारणा उनके व्यक्ति की अवधारणा के समानान्तर स्थापित हुई है।[49] उनके लिए 'मनुष्य वही है जो मननशील होकर स्वात्मवत् दूसरों के सुख-दुख, हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे।[50] इसीलिए दयानन्द का अभीष्ट था कि प्रत्येक व्यक्ति धर्माचरण करे।

भारतीय चिन्तन की यह मान्यता रही है कि धर्म को जानना, वस्तुतः वेद को जानना है। धर्म का मूल वेद है। जो धर्मज्ञ हैं, वे वेदों को जानते हैं। उनका मत ही धर्म-प्रमाण हैं।[51] इसी आधार पर महर्षि ने वेद, मनुस्मृत्यादि शास्त्र, सत्पुरुषों के आचरण तथा आत्मा को प्रिय अथवा जिसे आत्मा चाहता है—को धर्म के चार उपादान कहा है।[54] अर्थात् इन्हीं चार माध्यमों द्वारा धर्म का अभिज्ञान, संरक्षण एवं संवहन किया जाना चाहिए। धर्म ही अर्थ, काम और मोक्ष के फलों का प्रदाता[53] तथा मृत्यु के पश्चात् भी साथ चलने वाला 'सुहृद्' है।[56] अतः, राजा आदि सभ्यजनों का कर्त्तव्य है कि वे विभिन्न वर्णों को अपने-अपने धर्म में प्रवृत्त कराएं[55] तथा राजा, प्रजा एवं राजपुरुष धर्माचरण ही करें।[56]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर स्पष्टतः कहा जा सकता है कि स्वामी दयानन्द द्वारा प्रयुक्त धर्म शब्द अन्धविश्वास, बाह्य आडम्बर एवं कर्मकाण्ड आदि भ्रमजालों से सर्वथा मुक्त है। धर्म का तात्पर्य कर्म, गुण, न्याय तथा सत्याचरण है। महर्षि ने धर्म को लोकहिताय वैदिक

निर्देश के रूप में सर्वजन-हेतु सदैव अनुकरणीय स्वीकार किया है। धर्म के अर्थ में दयानन्द ने राजनीति को राज-धर्म कहा है और धर्मानुप्राणित राजनीति का पक्ष प्रस्तुत किया है।

(ङ) धर्म की सम्प्रभुता

राजनीतिक चिन्तन में सम्प्रभुता का तात्पर्य राज्य की उस सर्वोच्च सत्ता से है, जो कानूनों से मुक्त एवं अनियन्त्रित होती है तथा प्रत्येक व्यक्ति जिसके आदेशों-निर्देशों को मानने के लिए बाध्य होता है। हमारे भारतीय राज-दर्शन में धर्म की सर्वोच्चता को स्वीकृति प्रदान की गई हैं, जिसका उल्लंघन कोई भी व्यक्ति नहीं कर सकता है, राजा भी नहीं। इस सन्दर्भ में अरविन्द घोष ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि, "भारत में राजा के ऊपर भी राजा था, धर्म। जो अध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक, अर्थनीतिक, विचारगत, आचरणगत, रीति-नीति जातीय जीवन की घनिष्ठता के साथ चलता है, उसकी समष्टि को ही भारत में साधारण रीति से धर्म कहा गया है। राजा लोग इस धर्म के बिल्कुल अधीन थे।"[57]

दयानन्द प्रतिपादित धर्म की सम्प्रभुता :

स्वामी दयानन्द ने उपर्युक्त भारतीय अवधारणा का ही पोषण किया है। उनके लिए वेदोक्त धर्म (ईश्वरीय विधान) ही सम्प्रभु है। महर्षि ने यजुर्वेद (18.29) के मन्त्र 'वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम्' का सन्दर्भ देते हुए लिखा है कि, "सब मनुष्य लोगों को निश्चय करके जानना चाहिए कि हम लोग परमेश्वर की प्रजा हैं, और वही एक हमारा राजा है।"[58] दयानन्द ने इसीलिए ईश्वर से यह प्रार्थना भी की है कि, "हे परमेश्वर ! आप कृपा करके हम सबों के राजा हूजिए और हम लोग आपके पुत्र और भृत्य के समान राज्याधिकारी होकर, आप के राज्य को सत्य-न्याय से सुशोभित करें।"[59] महर्षि का यह भी निर्देश है कि "·····सब राजाओं के राजा परमेश्वर को जानकर, सब सभाओं

में सभाध्यक्ष का अभिषेक करें।"[60] अपने वेद भाष्य में दयानन्द लिखते हैं—'समस्त राजाओं का राजा सब जगत् को अन्तर्यामीपन से प्रेरणा देने वाला जगदीश्वर तुमको राजा करके तेरे पर अधिष्ठाता होके रहेगा' (यजु० भा० 6.2)। 'किसी का भी सामर्थ्य नहीं है जो ईश्वर के किए हुए नियमों का उल्लंघन करे (3.56.1 ऋ० भा०)।' 'यह सब परमेश्वर का राज्य है (1.131.5 ऋ० भा०) इन समस्त कथनों से यही भासित होता है कि वास्तविक राजा ईश्वर और उसका नियम (धर्म) है, राजा एवं सभासद् आदि राज्य-प्रशासनिक अधिकारियों की स्थिति मात्र सेवक की है, स्वामी (सम्प्रभु) की नहीं।

महर्षि ने जिस धर्म-सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, उसे चूँकि वेद में 'ऋत्' कहा गया है, अतः यह कहा जा सकता है कि महर्षि ने वैदिक ऋत् की सम्प्रभुता को ही अपनी स्वीकृति दी है। ऋत् सम्प्रभुतावाद को स्पष्ट करते हुए डॉ० वी० पी० वर्मा का अभिमत है कि, "ऋतवाद का अर्थ है—प्राकृतिक विधानों का पूर्ण परिपालन और उससे अपनी नैतिकता, धर्म और आत्मचेतना का विकास। ऋत् की सम्प्रभुता किसी राजा को अधिनायक तथा निरंकुश होने से रोकती है। यह एक ओर हमें आस्टिन और हीगेल के उग्र राज्य-शक्तिवाद से बचाता है और दूसरी ओर बहुलवाद के भ्रमजाल से भी त्राण करता है।"[61] मजूमदार ने भी धर्म की श्रेष्ठता को बहुलवादी विचारक क्रैब के विधि की सर्वोच्चता के सिद्धान्त की पृष्ठभूमि माना है।[62] महर्षि के चिन्तन में राजत्व की अवधारणा के सूक्ष्म विवेचन से उपर्युक्त विद्वानों के निष्कर्षों की पुष्टि हो जाती है। उन्होंने राजा के असीमित, अनियन्त्रित, सर्वोच्च एवं दैवी स्वरूप का स्पष्ट रूप से खण्डन किया है।

महर्षि, राजा (राज्य) को पाश्चात्य जर्मन आदर्शवादी विचारक हीगेल की भाँति पृथ्वी पर ईश्वर का पदार्पण नहीं मानते हैं,[63] अपितु उन्होंने राजा का स्थान परमेश्वर से द्वितीय स्थान पर[64] निर्धारित कर राजा के देवत्व के भ्रम को पूर्णतया समाप्त कर दिया है। दयानन्द

की मान्यता है कि राजा की स्थिति मात्र सभाध्यक्ष की है, जिसके कारण अकेले उसके ही हाथ में किसी प्रकार के हुक्म चलाने की शक्ति नहीं है।[65] वह सम्पूर्ण राज्य-कार्य सभा की सहमति और परामर्श से ही करेगा। उल्लेखनीय है, कि महर्षि ने राजा को सभाधीन रखकर सभा की सर्वोच्चता को स्वीकार नहीं किया है, अपितु उन्होंने राजा के अधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा को प्रजा के अधीन और प्रजा को राजसभा के अधीन रखकर[66] राजा, सभा और प्रजा के मध्य शक्ति के अवरोध एवं सन्तुलन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

महर्षि दयानन्द के राज-दर्शन में जन-सम्प्रभुता का सिद्धान्त बीज-स्वरूप प्राप्त होता है। उनका मत है कि, "राजाओं के राजा किसान आदि परिश्रम करने वाले हैं और राजा उनका रक्षक है। जो प्रजा न हो तो राजा किसका और राजा न हो तो प्रजा किसकी कहावे? दोनों अपने-अपने काम में स्वतन्त्र और मिले हुए प्रीतियुक्त काम में परतन्त्र हैं।"[67] उक्त कथन से यह ध्वनित होता है कि राजा की शक्ति, सत्ता और अस्तित्व का अन्तिम नियामक तत्त्व प्रजा ही है। राजा-प्रजा दोनों आत्म-सम्बन्धी कार्य करने-हेतु स्वतन्त्र हैं परन्तु पर-सम्बन्धी कार्यों के सन्दर्भ में परतन्त्र हैं। यहाँ हमें ब्रिटिश उपयोगितावादी विचारक जॉन स्टुअर्ट मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारधारा के संकेत प्राप्त होते हैं,[68] जिसके अन्तर्गत आत्म-सम्बन्धी कार्यों को करने की स्वतन्त्रता देते हुए कर्त्ता पर मात्र उसके अपने अस्तित्व-संरक्षण का ही बन्धन स्थापित किया गया है, परन्तु पर-सम्बन्धी कार्यों के करने में कर्त्ता पर विधि तथा सामाजिक दायित्व के अनुपालन की अनिवार्यता का प्रतिबन्ध है। ध्यातव्य है, कि आत्म-सम्बन्धी कार्य में जहाँ मिल ने कानूनी बाध्यकारिता को स्थान नहीं दिया है, वहाँ दयानन्द ने स्व-सम्बन्धी कार्य में भी कानून, नैतिकता एवं धर्म के प्रतिबन्ध की स्थापना की है। महर्षि ने विधि की सम्प्रभुता को स्वीकार किया है, परन्तु उनके लिए विधि सम्प्रभु (राजा) का आदेश न होकर, धर्म की ही अनुकृति है। कानून धर्म के प्रतिकूल नहीं हो सकता है।

विधि ऐसी होनी चाहिए जिससे यह लोक और परलोक दोनों शुद्ध और मंगलमय हों :

निष्कर्ष :

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी दयानन्द ने एक ऐसी लोकप्रिय सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, जिसके अन्तर्गत जनता, विधि- सामाजाजिक दायित्व तथा धर्म का सर्वोपरि स्थान है। वास्तविक सम्प्रभु धर्म है, जिसका स्रोत ईश्वर और वेद हैं। सम्प्रभुता का अधिवास भी धर्म में है, और स्थूल रूप में प्रजा में भी। धर्म को सम्प्रभुता विषयक महर्षि के विचार 'सिटो ऑफ गॉड' में व्यक्त पाश्चात्य मध्यकालीन सन्त दार्शनिक सेण्ट आगस्टीन के विचारों के समान प्रतीत होते हैं। संत आगस्टीन का भी मत था कि, "न्याय के अभाव में राज्य, क्या डाकुओं का दल नहीं है ?"[96] दयानन्द के चिन्तन में धर्म ही न्याय है तथा न्याय (धर्म) के अभाव में राज्य की कल्पना की ही नहीं जा सकती है। राज्य में धर्म (न्याय) की ही सम्प्रभुता है। इस प्रकार दयानन्द आधुनिक राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख अवधारणा— 'सम्प्रभुता' पर सांगोपांग विचाराभिव्यक्ति कर पूर्णरुपेण राजनीतिक दार्शनिकों की कीटि में स्थापित हो जाते हैं।

पाद टिप्पणियाँ :

1. एस० पी० वर्मा—आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त पृ० 28
2. सी० एल० बेपर—राज-दर्शन का स्वाध्याय पृ० 1
3. ब्लूम, टी० विलियप—थ्योरीज ऑफ द पोलिटिकल सिस्टम पृ० 65
4. एस० पी० वर्मा—आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त पृ० 35
5. द इण्डियन जर्नल ऑफ पोलिटिकल साइन्स अंक जनवरी-मार्च, 1978, पृ० 23
6. बी० बी० मजूमदार—प्रिन्सपल्स ऑफ पोलिटिकल साइन्स एण्ड गवर्नमेण्ट पृ० 4

7. बेनी प्रसाद-थ्योरी ऑफ गवर्नमेण्ट इन एन्शिएण्ट इण्डिया—पृ० 16-17

8. महाभारत शा० पर्व —59-14, 15, 29, 78, 79 इत्यादि ।

9. अर्थशास्त्र 1·4·5 तथा 7

10. शुक्रनीतिसार—1-2, 3, 151, 156; कामन्दक नीतिसार 1-5, 7-9, 15, 44; मनुस्मृति—7. 43

11. बेनी प्रसाद ने दण्डनीति को 'द साइन्स ऑफ गवर्नमेण्ट' कहा है । थ्योरी ऑफ गवर्नमेण्ट इन एन्शिएंट इण्डिया पृष्ठ 2 भूमिका) वी० बी० मजूमदार ने 'द साइन्स ऑफ पॉलिटिक्स' कहा है । प्रिन्सपुल्स ऑफ पोलिटिकल साइन्स एण्ड गवर्नमेण्ट पृ० 1

दीक्षितार ने 'दि साइन्स ऑफ हिन्दू एडमिनिस्ट्रेशन' तथा 'साइन्स ऑफ पालिटिक्स', के० पी० जायसवाल ने 'दि इथिक्स ऑफ दि इक्सक्यूटिव'; घोषाल ने 'आर्ट ऑफ गवर्नमेण्ट'; सी० वी० वैद्य ने 'दि रूल्स ऑफ गवर्नमेण्ट, अन्जारिया ने 'साइन्स ऑफ गवर्नमेण्ट' कहा है । मनोरमा जौहरी—पोलिटिक्स एण्ड इथिक्स इन एन्शिएन्ट इण्डिया पृ० 33

12. अर्थशास्त्र—1. 1. 18

13. मनोरमा जौहरी—पोलिटिक्स एण्ड इथिक्स इन एन्शिएण्ट इण्डिया पृ० 35

14. बेनोप्रसाद —वही पृ० 22 (भूमिका)

15. पी० वी० काणे —धर्मशास्त्र का इतिहास—भाग 3, पृ० 579

16. महाभारत शा० पर्व—63·27, 63·29, 63·24

17. स० प्र०—पृ० 91 (मनु० 7·1) इसी पृष्ठ पर अथर्व० (15·2·9·2) के मन्त्र की व्याख्या करते हुए दयानन्द ने लिखा है, "उस राज-धर्म को तीनों सभा संग्रामादि की व्यवस्था और सेना मिल कर पालन करें ।"

18. स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती (सं०)—महर्षि दयानन्द समग्र क्रान्ति के अग्रदूत—पृ० 21-22 (डॉ० शान्ति देव बाला का लेख)

19. ऋषि द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 633

20. स० प्र०—पृ० 108

21. ऋ० भा० भू० पृ० 241

22. वही—पृ० 243

23. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 633

24. सं० वि०—पृ० 230 (महा० उद्योग पर्व 40·11, 12)

25. यजु० भा०—16·26—"·····धर्म से राज्य का पालन करो।"
यजु० भा०—30·3—" ···राजा भी अधर्म से प्रजाओं को निवृत्त कर धर्म में प्रवृत्त करे और आप भी वैसा होवे।"
ऋग्वेद भा० 1·31.13—"·····तू भी धार्मिक विद्वानों के उपदेश के अनुकूल हो के राज-धर्म का सेवन करता रह।"
ऋ० भा० 3. 12. 6 "·····धर्म पूर्वक व्यवहार से राज्य-प्रबन्ध करो।"
ऋ० भा० 5· 3·5—"जो राजा धर्म युक्त व्यवहार से प्रजाओं का पालन करे, वही राज्य करने योग्य होता है।"

26. वीरेन्द्र शर्मा—भारत के पुनर्निर्माण में गाँधी जी का योगदान पृ० 159

27. अरविन्द घोष—हमारी स्वतन्त्रता कैसी हो पृ० 43

28. ए० अप्पादोराय - डाकूमेण्टस् ऑन पोलिटिकल थॉट इन माडर्न इण्डिया भाग 2, पृ० 817

29. ए० अप्पादोराय—इण्डियन पोलिटिकल थिंकिंग इन द ट्वन्टीन्थ सेन्चुरी—फ्राम नौरोजी टू नेहरू पृ० 147

30. दीवानचन्द्र—दि आर्य समाज ह्वाट इट इज एण्ड व्हाट इट स्टैण्डस् फॉर —पृ० 108

31 सत्यदेव विद्यालंकार—राष्ट्रवादी दयानन्द—पृ० 21

32. महाभारत—कर्ण पर्व—69·58

33. अरविन्द घोष—हमारी स्वतन्त्रता कैसी हो—पृ० 4

34. ए० अप्पादोराय—इण्डियन पोलिटिकल थिंकिंग - पृ० 146

35. पो० वो० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास भाग—1, पृ० 4

36. सत्य प्रकाश सरस्वती—स्पीचेज, राइटिंग्स एण्ड एड्रेसेस भाग 2 पृ० 22-27

37. सत्य प्रकाश सरस्वती—प्रभु के मार्ग पर पृ० 109

38. दयाशंकर शास्त्री—लोगाक्षिभाष्कर कृत अर्थ संग्रह पृ० 10

39. पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास भाग 1, पृ० 4

40. आर्याभिविनय—पृ० 175 (व्याख्याकार विन्ध्यबासिनी प्रसाद अनुगामी)
ऋत् का अर्थ-कोष निम्न है—

निरुक्त 8·16—ऋतस्य यज्ञस्य। श० 7.3.1.23—सत्यं वा ऋतम्। तै० 1.5.5.1—ऋतमेव परमेष्ठी। जै० उ० 3.36,5—ओमित्येतदेवाक्षरम् ऋतम्। जे० उ० 3.37,5 मनो वा ऋतम्। श० 4.1.4.10—ब्रह्म वा ऋतम्। उ० 3.89—ऋच्छति आत्मानं प्राप्नोति इति ऋतम्। यथार्थ वा।

41. ब्रज बिहारी चौबे—दि न्यू वेदिक सेलेक्सन—भाग 1, पृ० 17-18

42. वी० पी० वर्मा—वैदिक राजनीति शास्त्र—पृ० 258-259

43 परमात्मा शरण—प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ—पृ० 54

44. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 1, पृ० 42

45. ऋ० द० स० के शा० और प्रवचन—(पूना-प्रवचन सं० 3)—पृ० 78 इसी प्रकार के विचार स० प्र०—पृ० 405; आर्याभिविनय—पृ० 1; व्यवहार भानु—पृ० 19; सं० वा० प्र०—पृ० 12 पर भी प्राप्त होते हैं।

46. ऋ० द० स० के शा० और प्रवचन—(काशी शास्त्रार्थ पृ० 30 तथा तथा पूना-प्रवचन पृ० 279); स० प्र० पृ० 86; सं० वि० पृ० 228

47. ऋ० भा० भू० पृ० 122

48. वही—पृ० 115-116 (तैति० आरण्यक—7, 9. 11) इसी ग्रन्थ में धर्म सम्बन्धी विवरण हेतु देखें—पृ० 99, 105, 107, 119 आदि।

49. जे० टी० एफ० जोर्डन्स—दयानन्द सरस्वती; हिज लाइफ एण्ड आइडियाज पृ० 285

50. स० प्र० (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश)—पृ० 404

51. काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास—भाग 1, पृ० 5 (गौतम ध० सू० 1,1,2)

52. स० प्र०—पृ० 36 (मनु० 1.131)

53, यजु० भा० 22.11; ऋ० भा०—1.31.13, 1.37.11, 5.3.5 आदि

54. स० प्र०—पृ० 109 (मनु० 8.17)

55. वही—पृ० 61

56. यजु० भा०—16.26; ऋ० भा० 1. 41. 3, 1. 32. 13, 15, 3. 12. 6, 3. 34. 2

57. अरविन्द घोष—हमारी स्वतन्त्रता कैसी हो पृ० 18

58. ऋ० भा० भू० पृ० 238; स० प्र० पृ० 115; आर्याभि० पृ० 9 124

59. ऋ० भा० भू०—पृ० 245 (अथर्व० 6. 10. 98. 1)

60. वही—पृ० 246 अथर्व० (15. 2. 9· 2)

61. वी० पी० वर्मा—वैदिक राजनीति शास्त्र—पृ० 261

62. बी० बी० मजूमदार—प्रिन्सपुल्स ऑफ०—पृ० 65

63. विलियम ईबन्स्टीन—ग्रेट पोलिटिकल थिंकर्स—पृ० 605

64. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 632

65. ऋ० द० स० के० शा० और प्र०—(पूना-प्रवचन सं० 9)—पृ० 372

66. स० प्र०—पृ० 91

67. स० प्र०—पृ० 108

68. नार्मन ई० बोदी एण्ड राबर्ट एल० साइमन—दि इण्डीवीजुएल एण्ड दि पोलिटिकल आर्डर—165

69. एल० सी० मैक्डानल्ड—वेस्टर्न पोलिटिकल थ्योरी—भाग 1, पृ० 120

—: ० :—

अध्याय 3

राजत्व का सिद्धान्त

राज-दर्शन का तात्पर्य ऐसे दर्शन से है, जिसमें राज्य के उत्पत्ति, प्रकार, स्वभाव, उद्देश्य एवं कार्य आदि का विवेचन किया गया हो। पाश्चात्य एवं भारतीय राजनीतिक चिन्तन में राज्य अथवा राजा के उपर्युक्त विभिन्न आयामों का ही अध्ययन किया गया है। ऋषि दयानन्द ने भी अपने राजनीतिक दर्शन में राजा (राज्य) के सन्दर्भ में ऐसे अनेक तथ्यों का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है, जिससे उनके राजत्व-सिद्धान्त का स्पष्ट बोध होता है, जो अधोनिर्दिष्ट है :

(i) राज्योत्पत्ति (राजा की उत्पत्ति) की अवधारणा :

भारतीय अथवा पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन, राज्य (राजा) की उत्पत्ति के विषय में किसी एक सर्वमान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं कर सका है। इनके द्वारा दैवी, प्रसंविदा, विकासवादी अथवा ऐतिहासिक एवं शक्ति आदि के सिद्धान्तों के द्वारा राज्य की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है। भारतीय चिन्तन प्रायः दैवी, अर्धदैवी एवं अनुबन्धवादी सिद्धान्तों को स्वीकृति प्रदान करता है, जिनमें राजा को 'देवतांशः'[1] या 'मत्स्य-न्याय' तथा आसुरी प्रवृत्ति से उत्पन्न अराजक स्थिति के फलस्वरूप सामान्य भय के कारण लोगों के परस्पर अनुबन्ध-द्वारा[2] उत्पन्न माना गया है। प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में यद्यपि राजत्व को देवतांश से युक्त स्वीकारा गया है, तथापि इसकी निरंकुशता का निषेध करते हुए राजा को धर्माधीन एवं लोकहित से सर्वथा युक्त किया गया है। परन्तु, भारतीय चिन्तन में ऐसे उदाहरणों का भी अभाव नहीं है, कि राजत्व के इस सिद्धान्त (दैवी) का दुरुपयोग करते हुए अनेक राजाओं ने स्वेच्छाचारी आचरण भी किया है।

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन में भी राज्योत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों में दैवी सिद्धान्त का समर्थन किया गया है। ईजिप्ट, रोमन तथा यहूदियों द्वारा राजा को देव-रूप माना जाता था। फ्रांस का राजा लुई चतुर्दश कहा करता था कि, "हम राजा लोग परम पवित्र और परम शक्तिशाली परमात्मा की पृथ्वी पर जीती-जागती प्रतिमाएँ हैं—उसके प्रतिनिधि हैं।"[3] इसी प्रकार, ब्रिटिश सम्राट जेम्स प्रथम का भी विचार था कि, "राजा ईश्वर के समान पृथ्वी पर शक्ति-धारण करता है और ईश्वर की ही तरह सृष्टि-संहार करने, उत्पन्न या नष्ट करने, जीवन या मृत्यु देने आदि के लिए किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं है।"[4] लुई चतुर्दश एवं जेम्स प्रथम के उपर्युक्त उद्गार राजा के देवत्व के आधार पर ही उसके असीमित, स्वेच्छाचारी और निरंकुश राज-सत्ता का समर्थन करते हैं।

राज्य (राजा) की उत्पत्ति के सन्दर्भ में दयानन्द का चिन्तन वेद तथा मनुस्मृति आदि आर्षग्रन्थों पर आधारित है, जिनमें प्रायः राजा के दैवी स्वरूप का ही प्रतिपादन किया गया है। परन्तु, अपनी अप्रतिम प्रातिभ-शक्ति से दयानन्द ने इन ग्रन्थों के मन्त्रों एवं श्लोकों की निरुक्तिक और यौगिक व्याख्या द्वारा यह प्रतिपादित किया है कि इनमें कहीं भी राजा के दैवी होने की पुष्टि नहीं होती है। दयानन्द ने राजा के गुण के सम्बन्ध में मनुस्मृति के जिन श्लोकों का सन्दर्भ और व्याख्या 'सत्यार्थ प्रकाश' में प्रस्तुत की है, उनमें राजा के देवत्व की गंध तक नहीं है।[5] इसके विपरीत कुल्लूक आदि की प्रचलित मनुस्मृति की टीकाओं में इन श्लोकों के जो अर्थ किए गए हैं, वे राजा के देवत्व के पोषक है।[6]

राज्य अथवा राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऋषि के विचार उनके विभिन्न ग्रन्थों, इतिहास एवं सृष्टि विषयक प्रवचनों तथा लेखों में बिखरे पड़े है। उनके मतानुसार—ब्रह्म की उत्पत्ति तक दिव्य (अमैथुनी) सृष्टि थी। इसके पश्चात् मैथुनी सृष्टि उत्पन्न हुई।[7] जब

यह सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी, तब एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत का कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री विराजमान थी।[8] हिरण्यगर्भ, जो परमेश्वर है, ही एक सृष्टि के पूर्व वर्त्तमान् था।[9] सृष्टि के विकास-क्रम में अव्यक्त प्रकृति अर्थात् आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई। यह सब व्यवस्था परमाणुओं में हुई।[10] ब्रह्माण्ड का निर्माण इक्कीस प्रकार की सामग्रियों—1-प्रकृति, बुद्धि और जीव 2-श्रोत 3-त्वचा 4-नेत्र 5-जिह्वा 6-नासिका 7-वाक् 8-पग 9-हाथ 10-गुदा 11-उपस्थ 12-शब्द 13-स्पर्श 14-रूप 15-रस 16-गन्ध 17-पृथ्वी 18-जल 19-अग्नि 20-वायु 21-आकाश—से हुआ है।[11] ब्रह्म (पुरुष) से ही भोजन, वस्त्र, अन्न, जल, कीट-पतंग, ग्राम्य एवं वन्य पशु-पक्षी, वेद, सूर्य, चन्द्र आदि नक्षत्र तथा वसन्तादि ऋतुएँ उत्पन्न हुईं।[12] अनन्तर मनुष्यों की सृष्टि त्रिविष्टप् अर्थात् 'तिब्बत' में हुई।[13]

इस प्रकार, दयानन्द ने वैदिक मन्त्रों के आधार पर परमपिता परमेश्वर द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति और विकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इनका अभिमत है, कि प्रारम्भ में जब मानव की उत्पत्ति हुई, उस समय 'आर्य' और 'दस्यु' नामक दो ही जातियाँ थीं, उसके पश्चात् शनैः शनैः चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) की उत्पति हुईं।[14] यह वर्ण व्यवस्था गुण, कर्म एवं स्वभावानुसार मनु के काल तक व्यवस्थित हुई।[15] मनु के दस पुत्र थे।[16] उनमें स्वायम्भुव (मरीचि) के समय में राजकीय और सामाजिक व्यवस्थाएँ प्रारम्भ हुई।[17] स्वायंभुव मनु का पुत्र 'मरीचि' प्रथम क्षत्रिय राजा हुआ। इसके पश्चात् हिमालय के प्रदेश में छः क्षत्रिय राजाओं की परम्परा हुई। अनन्तर 'इक्ष्वाकु' राजा राज्य करने लगा।[18]

उपर्युक्त विचारों के सम्यक् अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्द राज्योत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त के समर्थक नहीं थे। उनका अभिमत था कि सृष्टि की आदिम अवस्था में सभी मनुष्य आर्यत्व से

परिपूर्ण थे। कालान्तर में आर्य (श्रेष्ठ, सभ्य, विद्वान्, सज्जन) और दस्यु (अनार्य, दुष्ट) दो भेद गुणों और दुर्गुणों के आधार पर हो गए। आदिम अवस्था में किसी भी प्रकार की सामाजिक या राजनीतिक व्यवस्था अथवा प्रतिबन्ध का पूर्णतया अभाव था। मनुष्य सदाचार से परिपूर्ण था। स्वायंभुव मनु तक कोई राज्य-व्यस्था नहीं थी। मरीचि के समय में सर्वप्रथम, मनुष्यों को दुर्गुणों से निवृत्त एवं सत्कर्मों में प्रवृत्त करने के लिए, सामाजिक एवं राजकीय व्यवस्थाओं का उद्भव हुआ। इस प्रकार मरीचि तथा इक्ष्वाकु क्रमशः राजा हुए। राजा होने का कारण इन व्यक्तियों का गुण था, ईश्वरीय इच्छा नहीं।

(ii) वंशानुगत एवं एकतन्त्रीय स्वेच्छाचारी राजत्व का खण्डन :

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में सामान्यतः वंशपरम्परा और ज्येष्ठता के आधार पर ही राजत्व-प्राप्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। पुराण-साहित्य में राजाओं की वंश-परम्पराओं का विस्तृत विवरण भी प्राप्त होता है, जो उक्त सिद्धान्त की ही पुष्टि करते हैं। रामायण में राम को तथा महाभारत में युधिष्ठिर को राजा बनाने की अभिलाषा, इसी सिद्धान्त का परिचायक है, यह अलग बात है कि ये दोनों गुण कर्मस्वभावानुसार श्रेष्ठ भी थे। मनुस्मृति (9.323, 7.202) में भी वंशानुक्रम तथा ज्येष्ठता के आधार पर राजा बनाने का संकेत प्राप्त होता है।

परन्तु स्वामी दयानन्द ने वंशानुगत राजत्व के सिद्धान्त का प्रबल प्रतिवाद किया है। इक्ष्वाकु को ब्रह्मा की छठी पीढ़ी बताते हुए, उन्होंने कहा है कि, "पीढ़ी शब्द का अर्थ बाप से बेटा यही न समझें, एक अधिकारी से दूसरा अधिकारी ऐसा जानें।"[19] महर्षि का स्पष्ट मत है कि इक्ष्वाकु, राजकुल में उत्पन्न होने के कारण ही राजा नहीं हुआ[20], अपितु वह अपनी योग्यताओं एवं क्षमताओं के फलस्वरूप राजा बनाया गया। राजा-पद-हेतु राजवंश का होना आवश्यक नहीं है। महर्षि का

अभिमत है कि "हे राजन् ! अपना पुत्र भी बुरे लक्षणों वाला हो, तो नहीं अधिकार देने योग्य·····।"[21] अन्यत्र भी महर्षि का निर्देश है कि दस कामज एवं आठ क्रोधज दुर्व्यसनों वाले मनुष्य को, चाहे वह राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही क्यों न हो, राजा नहीं बनाना चाहिए।[22] इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द के राज-दर्शन में राजत्व की प्राप्ति वंशानुगत न हो कर, योग्यता तथा राजोचित गुणों पर निर्भर करती है।

स्वामी दयानन्द मात्र वंशानुगत राजतन्त्र के ही विरुद्ध नहीं थे, अपितु वे एकतन्त्रीय, निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी राजा के भी विरोधी थे। उन्होंने राजा की शक्ति को सीमित बताते हुए कहा है कि, "केवल अकेले राजा ही के हाथ में किसी प्रकार का हुक्म चलाने की शक्ति न थी, वह तो केवल राज-सभा में अध्यक्ष का अधिकार रखता था।"[23] दयानन्द के इस कथन से स्पष्ट है कि राजा की स्थिति स्वतन्त्र एवं निरंकुश नहीं है, अपितु वह श्रेष्ठ-शिष्ट पुरुषों की सभा की सहमति और स्वीकृति ने ही सभाध्यक्ष के रूप में शासन-कार्य करने के लिए बाध्य है।

महर्षि ने उदयपुर के महाराज श्री सज्जन सिंह को एक पत्र में लिखा कि, "राज का कार्य एक पर निर्भर न रक्खें।"[24] दयानन्द सम्पूर्ण राज-वर्ग को प्रजा के अधीन रखने के पक्षधर थे, क्योंकि उनका अभिमत था कि, "·····जैसे सिंह, मांसाहारी हृष्ट-पुष्ट पशु को मार कर खा लेते हैं, वैसे स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश करता है अर्थात् किसी को अपने से अधिक न होने देता·····।"[25] इसी सन्दर्भ में ऋषि ने अन्यत्र भी लिखा है कि. "·····जैसे बाज के सामने छोटी-छोटी चिड़ियाओं की दुर्दशा होती है, वैसे ही राजा के सामने प्रजा की। जहाँ एक मनुष्य राजा होता है, वहाँ प्रजा ठगी जाती है·····जैसे मृग पशु पराए खेत में जवों को खा कर आनन्दित होते हैं, वैसे ही स्वतन्त्र एक पुरुष राजा होने से प्रजा के उत्तम पदार्थों को ग्रहण कर लेता है ····।"[26] इस

प्रकार दयानन्द ने राजा के एकाधिकार को बहुत से उद्धरणों एवं उपमाओं द्वारा हेय एवं प्रजा-हित विरोधी बताया है।

महर्षि का स्पष्ट निर्देश है कि, "राज-प्रजा-पुरुषों को चाहिए कि सभाध्यक्ष राजा से ऐसा कहें कि हे सभापते! आप को बिना सहाय के कुछ राज-कार्य नहीं करना चाहिए [यजु० भा० ३१.२७]।" इसी परिप्रेक्ष्य में दयानन्द ने पुनः अपना मत व्यक्त किया है कि "एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देना चाहिए, किन्तु राजा जो सभापति तदाधीन सभा, सभाधीन राजा और सभा प्रजा के आधीन और प्रजा राज-सभा के आधीन रहे।"[27] दूसरे शब्दों में, राजा, सभा और प्रजा परस्पर आधीन रहते हुए एक दूसरे की निरंकुशता को अवरोधित एवं शक्तियों को संतुलित करते रहें।

महर्षि के उपर्युक्त समस्त कथनों के परिप्रेक्ष्य में सूक्ष्मता से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका राजत्व-सिद्धान्त वंशानुगत एवं दैवी सिद्धान्त का पोषक नहीं है। राजा (राज्य) की सत्ता सर्व-शक्ति सम्पन्न स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश भी नहीं है। राजा अपनी अपेक्षित योग्यताओं के कारण ही राज-पद का अधिकारी हो सकता है तथा वह धर्म, ईश्वरीय विधियों, आर्षग्रन्थ की व्यवस्थाओं, प्रजापालन के उत्तरदायित्व की भावना तथा आप्तजनों की सभा आदि से मर्यादित है। वह स्वामी नहीं, अपितु प्रजा का सेवक मात्र है।

(iii) शासक-वर्ग सेवक है, स्वामी नहीं :

महर्षि के राज-दर्शन में शासक-वर्ग को सम्प्रभु न मानकर, प्रजा का सेवक बताया गया है। उन्होंने शासकवर्ग को यह निर्देश दिया है कि वे अपने को परमेश्वर की प्रजा तथा भृत्य स्वीकार करें।[28] महर्षि का यह भी अभिमत है कि शासक-जन ईश्वर से यह प्रार्थना करें कि, 'हे परमेश्वर! आप कृपा करके हम सबों का राजा हूजिए। हम लोग आप के पुत्र और भृत्य के समान राज्याधिकारी हो कर आपके राज्य को सत्य-न्याय से सुशोभित करें।"[29] दयानन्द के उक्त दोनों कथनों

से स्पष्ट है कि शासकों में स्वामित्व की गर्वोक्ति को ऋषि समीचीन नहीं मानते थे। वे चाहते थे कि राजन्य-वर्ग प्रजारञ्जन में निरन्तर लगा रहे।

शासक-वर्ग के सेवा-भाव के कारण शासक-शासित अर्थात् राजा-प्रजा के सम्बन्धों का संक्षेप में विवेचन करना प्रासंगिक प्रतीत होता है। दयानन्द के राज-दर्शन में शासक-शासित सम्बन्ध धर्म, सत्य, नैतिकता, स्नेह तथा सेवा-भाव आदि पर आधारित है, समझौता अथवा उपयोगिता पर नहीं। शासक और शासित का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। दोनों, एक दूसरे के पूरक तथा सहयोगी हैं। ऋषि ईश्वर से इसी सम्बन्ध में यह प्रार्थना भी करते हैं कि, "उस (ईश्वर) की कृपा से राजा-प्रजा अन्योन्य प्रीति से परम वीर्य और पराक्रम से निष्कण्टक चक्रवर्त्ती राज्य भोगें ..... ।"[30] महर्षि ने यजु० भा० (8.46) में लिखा है कि राजा-प्रजा दोनों ईश्वराश्रय कर परस्पर उपकार में धर्म के साथ अपना वर्त्ताव रखें। स्पष्ट हैं कि महर्षि ने राजा-प्रजा के मध्य परस्पर प्रीति, समन्वय तथा एकरूपता स्थापित करने-हेतु ही यह निर्दिष्ट किया है कि दोनों पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति-हेतु सामूहिक-प्रयास करें।

महर्षि ने राजा-प्रजा में स्वामी और सेवक का भाव न रखकर पिता-पुत्र का सम्बन्ध स्वीकार किया है। एक वार्तालाप में, अजमेर के डिप्टी कमिश्नर, मि० ए० जी० डेविडसन से ऋषि ने कहा कि, "राजा प्रजा के लिए पितावत् होता है और प्रजा राजा के निकट पुत्र-तुल्य होती है।"[31] अन्य अनेक स्थलों पर भी महर्षि ने राजा-प्रजा के सम्बन्ध को पिता-पुत्र के सम्बन्ध से उपमित किया है।[32] ऋषि ने अपनी रचनाओं में राजा-प्रजा के सम्बन्धों के लिए अन्य प्रकार की अनेक उपमाएँ भी दी हैं, यथा—राजा-प्रजा का सम्बन्ध सुमाता और सुसन्तान के तुल्य,[33] ब्रह्म-जीव की भाँति पुत्र-भाव-युक्त (यजु० 30.12), सूर्य और किरण की तरह अन्योन्याश्रित (यजु० 29.52), मित्र-मित्र की तरह परस्पर प्रसन्न करने को उद्यत (ऋ० भा० 5.3.2), रात्रि-दिन के समान संयुक्त (ऋ० भा० 6.9.1) आदि।

महर्षि ने राजा-प्रजा को एक दूसरे का पूरक मानते हुए लिखा है कि, "जो प्रजा न हो तो राजा किसका और राजा न हो तो प्रजा किसकी कहावे।"[34] इसीलिए राजा-प्रजा दोनों को प्राण के तुल्य एक दूसरे की पुष्टि करनी चाहिए। एक दूसरे को निर्बल करने से क्षय-रोग की भाँति दोनों निर्बल होकर नष्ट हो जाते है।[35] आपात्काल में राजा प्रजा की तथा प्रजा राजा की रक्षा कर परस्पर आनन्दित हों (यजु० भा० 8.37)।

महर्षि ने राजा पर प्रजा का और प्रजा पर राजा का नियन्त्रण भी स्वीकार किया है। उनका अभिमत है कि यदि दोनों में से कोई अधर्म-युक्त कार्यों को करे, तो प्रजा राजा को और राजा प्रजा को दण्ड भी दे (यजु० भा० 8.23)। यदि राजा पिता की भाँति प्रजा की रक्षा न करे, तो उसको प्रजा कभी न माने (यजु० भा० 17.24) तथा यदि राजा अन्याय करे. तो प्रजा उसका शीघ्र त्याग करे (ऋ० भा० 4.4.9)।

स्वामी दयानन्द के उपर्युक्त कथनों से पूर्णतः स्पष्ट है कि राजा का अस्तित्व मात्र प्रजा के रञ्जन और रक्षण आदि के लिए ही होता है। यदि वह प्रजाहित के प्रतिकूल आचरण करता है, तो प्रजा उसको अपदस्थ भी कर सकती है। स्पष्ट है, कि राजा स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश नहीं है। उसको सत्ता सीमित है। प्रजा को महर्षि ने अन्यायी राजा के विरुद्ध विद्रोह का अधिकार देकर उदारवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। राजा प्रजा का सेवक है, स्वामी नहीं। परन्तु, यदि राजा न्याय-कारी एवं धर्मानुयायी है तो प्रजा उसको पिता-तुल्य मानें। स्पष्ट है कि राजा का मान-अपमान उसके कार्यों पर निर्भर करता है। राजा-प्रजा का सम्बन्ध पारस्परिक भय, दण्ड अथवा दबाव से प्रभावित न होकर धर्म, नैतिकता, लोककल्याण, परस्पर सेवा, सहयोग, रक्षण और सम्वर्धन आदि पर निर्भर करता है। कोई किसी का स्वामी अथवा दास नहीं है, इनका सम्बन्ध एक दूसरे के हित-चिन्तन तथा आदर-सम्मान एवं स्नेह पर आधारित है। राजा स्वामी जैसा अभिमान न हो। वह अपने को प्रजा का रक्षक, सेवक तथा त्राता समझे।

(iv) राज्य का सावयव-सिद्धान्त :

स्वामी दयानन्द ने राज्य के विभिन्न अंगों-उपांगों के मध्य सहयोग सामञ्जस्य एवं समरसता स्थापित करने के लिए राज्य के सावयव-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, जिसमें राज्य (राजा) के अंगों को शरीर के विभिन्न अंगों से उपमित किया है।

यजुर्वेद के बीसवें अध्याय के कतिपय मन्त्रों की व्याख्या करते हुए दयानन्द ने लिखा है कि, "सभाध्यक्ष, सभासद् और प्रजा को ऐसा निश्चय करना चाहिए कि—श्री मेरा शिरस्थानो, उत्तम कीर्ति मेरा मुखवत्, सत्य गुणों का प्रकाश मेरे केश और डाढ़ी-मूछ के समान तथा जो ईश्वर सबका आधार और जीवन-हेतु है, वही प्राणप्रिय मेरा राजा ·· जो अनेक सत्य विद्याओं के प्रकाश-युक्त मेरा श्रोत है, वही मेरी आँखें हैं। जो पूर्ण बल है, वही मेरी भुजा, जो उत्तम कर्म और पराक्रम से युक्त इन्द्रिय और मन है वे मेरे हाथ के समान, जो राज-धर्म, शौर्य, धैर्य और हृदय का ज्ञान है, यही सब मेरे आत्मा के समान हैं। जो उत्तम राज्य है सो मेरी पीठ के समतुल्य, जो राज्य-सेना और कोश है वह मेरे हस्त का मूल और उदर के समान, जो प्रजा को सुख से भूषित और पुरुषार्थी करना है सो मेरे कण्ठ और श्रोणो अर्थात् नाभि के अधोभाग-स्थान के समतुल्य, जो प्रजा को व्यापार और गणित-विद्या में निपुण करना है सो हो अरत्नी और उरु-अंग के समान तथा जो प्रजा और राज-सभा का मेल रखना, यह मेरो जानु के समान है। जो इस प्रकार से प्रजा-पालन में उत्तम कर्म करते हैं, ये सब मेरे अंगों के समान हैं।"[३८] महर्षि ने यजु० भा० (20.9) में स्मरण-वृत्ति को राज्य का मध्य-प्रदेश कहा है।

इस प्रकार, स्वामी दयानन्द ने शरीर के विभिन्न अंगों-उपांगों से राज्य के अंगों, उद्देश्यों आदि को उपमित कर उनमें एकता, सहयोग, समन्वय तथा संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया है। महर्षि

का यह मन्तव्य था कि राज्य के प्रत्येक अंगों में अवयव तथा अवयवी की भाँति परस्पर ताल-मेल, एकजुटता एवं अस्तित्व-बोध होना चाहिए।

उल्लेखनीय है, कि महर्षि के पूर्व प्राचीन भारतीय राज-दर्शन में भी राज्य के सावयव-सिद्धान्त के रूप में 'सप्तांगों' की अवधारणा रही है, जिसमें राजा को सिर, अमात्य को नेत्र, जनपद (राष्ट्र) को पैर, दुर्ग (पुर) को हाथ, कोष को मुख, दण्ड (सेना) को मन तथा मित्र (सुहृद्) को कान की उपमा दी गई है।[37] परन्तु, इससे यह स्पष्ट होता है कि पूर्ववर्ती भारतीय राजनीतिक विचारकों ने महर्षि की भाँति सावयव-सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन न कर मात्र सात अंगों के उल्लेख तक ही अपने को सीमित कर दिया है।

पाश्चात्य चिन्तन के राजनीतिक दार्शनिक अरस्तू ने भी राज्य को एक सावयव इकाई स्वीकार किया है।[38] परन्तु, अरस्तू-प्रतिपादित सावयव-सिद्धान्त ऋषि दयानन्द की भाँति विस्तृत नहीं है। पाश्चात्य मध्ययुगीन राजनीतिक विचारक, जॉन ऑफ सेलिसबरीं ने भी राज्य और शरीर में समरूपता प्रस्तुत की है। उसने चर्च को राज्य की आत्मा, शासक को मस्तिष्क, शासक के मार्ग में आने वाली बाधाओं को रोग, सीनेट को हृदय, अर्थव्यवस्था को आमाशय, दरबारियों को राज्य रूपी शरीर का दक्षिण और बाम अंग, सेना को हाथ तथा प्रजा को पैर-तुल्य माना है।[39]

सेलिसबरी के जॉन द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त रूपक दोषमुक्त नहीं हैं, क्योंकि उसमें एक ओर चर्च को राज्य की आत्मा माना गया है, तो दूसरी ओर प्रजा (नागरिक) की तुलना पैर से करके उसे अत्यन्त गौण स्थान प्रदान किया है। परन्तु, स्वामी दयानन्द द्वारा प्रस्तुत सावयव-सिद्धान्त प्रत्येक अंग के गुण, कर्म और स्वभाव की अनुकूलता पर अवलम्बित होने के कारण तर्क एवं न्याय-सम्मत है। सभी अंग अन्योन्याश्रित एवं एक दूसरे के पूरक हैं। इसी प्रकार, महर्षि का यह

सिद्धान्त आधुनिक पाश्चात्य राजनीतिक विचारक हरबर्ट स्पेन्सर के सावयव-सिद्धान्त से भी सर्वथा भिन्न, सांगोपांग एवं दोषमुक्त है।

(V) दण्ड ही राजा है :

यह सर्वविदित है कि मानव के लौकिक एवं पारलौकिक उद्देश्यों की पूर्ति में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बाधा मानव की आसुरी प्रवृत्तियों ही हैं, जिन्हें दण्ड (शक्ति) के सम्यक् प्रयोग से सीमित और नियन्त्रित किया जा सकता है। इसीलिए प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है कि धर्म, अर्थ एवं काम दण्डाधीन है तथा आन्वीक्षकी, त्रयी एवं वार्ता का सुचारु संचालन दण्ड पर ही निर्भर करता है।[40]

स्वामी दयानन्द ने भी उक्त अवधारणा का समर्थन एवं अनुसरण करते हुए 'दण्डनीति' के ज्ञान को राजन्य-वर्ग हेतु आवश्यक बताया है, जिससे कि त्रिवर्ग की प्राप्ति हो सके। महर्षि ने दण्ड को ही समस्त सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनीतिक गतिविधियों का नियन्ता बताते हुए लिखा है कि, "न्याय युक्त दण्ड ही का नाम राजा और धर्म है, जो उसका लोप करता है, उससे नीच पुरुष दूसरा कौन होगा ?"[41]

दयानन्द ने मनुस्मृति के सातवें अध्याय के कतिपय श्लोकों की व्याख्या करते हुए दण्ड की महत्ता पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। उनके मतानुसार, "जो दण्ड है, वही पुरुष, राजा, वही न्याय का प्रचार-कर्त्ता और सबका शासन-कर्त्ता, वही चार वर्ण और आश्रमों के धर्म का प्रतिभू अर्थात् जामिन है। वही प्रजा का शासन-कर्त्ता, सब प्रजा का रक्षक, सोते हुए प्रजास्थ मनुष्यों में जागता है, इसीलिए बुद्धिमान् लोग दण्ड ही को धर्म कहते हैं..... बिना दण्ड के सब वर्ण दूषित और सर्व मर्यादा छिन्न-भिन्न हो जाये। दण्ड के यथावत् न होने से लोगों का प्रकोप हो जावे।"[42] महर्षि ने इसी तारतम्य में यह भी व्याख्यायित किया है कि दण्ड अत्यन्त ही कृष्ण-वर्ण, रक्त-नेत्र-भयंकर पुरुष के तुल्य है। उसका संचालन सत्यवादी, बुद्धिमान् तथा धर्म, अर्थ और काम को

सिद्धि का पंडित होना चाहिए, अन्यथा वह दण्ड अविद्वान् तथा अधर्मात्मा (राजा) का ही नाश कर देता है।[43]

उपर्युक्त समस्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि दयानन्द ने दण्ड को ही वास्तविक राजा मानकर दण्ड का मानवीयकरण कर दिया है। राजा वस्तुतः दण्ड की ही प्रतिकृति है। ऋषि ने दण्ड को राजा मानकर विधि के शासन को स्वीकृति दी है, किसी व्यक्ति के शासन को नहीं।

निष्कर्ष :

स्वामी दयानन्द के समूचे राजत्व-सिद्धान्त के विश्लेषण से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि ऋषि ने राजनीतिक-दर्शन के उन समस्त आयामों का सांगोपांग विवेचन किया है, जिनमें राज्य की उत्पत्ति, स्वरूप एवं अस्तित्व आदि का उल्लेख हो जाता है। उन्होंने राजा के देवत्व का खण्डन कर निर्वाचित सभाध्यक्ष की संकल्पना का प्रतिपादन किया। एकतन्त्रीय, निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी राजा को सीमित एवं धर्मानुयायी बनाने-हेतु उसे प्रजा का सेवक मात्र होने का उपदेश दिया। प्रकारान्तर से महर्षि का यह विचार अंग्रेजों के स्वामित्व के अहंकारों पर तत्कालीन सबसे बड़ा आघात था। उन्होंने राज्य के सावयव-सिद्धान्त के प्रतिपादन में जहाँ समस्त पाश्चात्य एवं पौर्वात्य राजनीतिक दार्शनिकों को बौना सिद्ध किया, वहीं दण्ड को राजा मानकर यह भी सिद्ध कर दिया कि सर्वोच्चता विधि की है, व्यक्ति की नहीं।

पाद टिप्पणियाँ :

1. ऋग्वेद—1.32. 15, 1.51.15, 1.174.10, 10.121.1 तथा मनुस्मृति 7.3—8
2. अर्थशास्त्र—6.13-1, महा० शा० पर्व—59, 67 68, 72
3. प्रियव्रत वेदवाचस्पति—वैदिक राजनीति में राज्य की भूमिका—पृ० 92
4. एल० डी० ठाकुर—प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन—पृ० 200

5. स० प्र० पृ० 93 (मनु० 7-4, 6, 7)

6. प्रियव्रत वेदवाचस्पति—वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त पृ० 168

7. ऋ० द० स० से शा० और प्र० (पूना-प्रवचन सं० 9) पृ० 371

8. ऋ० भा० भू०—पृ० 124

9. वही—पृ० 125

10. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना प्रवचन सं० 8) पृ० 559-360

11. ऋ० भा० भू० - पृ० 136

12 ऋ० भा० भू० 130—135 (यजु० 31.6, 7, 8, 11, 12, 13, 14)

13. स० प्र०—पृ० 150—151

14. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन सं० 8) पृ० 364

15. वही पृ० 368

16. मनुस्तृति—1.35, 1.36; मनु के दश पुत्रों के नाम थे—मरीचि, अत्रि, अगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, बशिष्ठ, भृगु तथा नारद ।

17. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन सं० 9) पृ० 371--372

18. वही (पूना-प्रवचन सं० 8) पृ० 369

19. वही (पूना-प्रवचन सं० 9) पृ० 371

20, वही—पृ० 372

21. ऋ० भा०—4.19.9

22. सं० वि०—पृ० 192 (मनु० 7.49)

23. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन सं० 3) पृ० 372

24. ऋ० द० स० और वि०-भाग 2, पृ० 632

25. स० प्र०—पृ० 92 (शत० 13.2.3)

26 ऋ० भा० भू०—पृ० 362, 363, 368 (शतपथ ब्राह्मण के आधार पर यजु० 23. 22, 24, 30 की व्याख्या)

27. स० प्र०—पृ० 91

28. स० प्र०—पृ० 115 (वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम)

29. ऋ० भा० भू०—पृ० 245

30- आर्याभि० पृ० 90 तथा 137 (यजु० 36 11)

31. स्वामी सत्यानन्द—श्री मद्दयानन्द प्रकाश पृ० 70

32- स० प्र० पृ० 98 (मनु० 7.80) तथा पृ० 406; ऋ० भा० 1.31.11, 14, 1.36.10, 1,80.4, 1.85.12, 1.104.9, 1.130.1, 1[illegible], 3.31.9, 3.34.5, 4.18.8, 4.40.16, 4.31.10, 7.18,12; यजु० भा०—7.45, 8.23, 9.23, 10.30, 12.15, 14.25, 28.30, 35.17 आदि मन्त्र राजा-प्रजा के पिता-पुत्र सम्बन्ध-हेतु द्रष्टव्य।

33. व्यवहारभानु—पृ० 24

34 स० प्र०— पृ० 108 (मनु० 7,130)

35. सं० वा० प्र०—पृ० 14

36- ऋ० भा० भू०—पृ० 241—242 (यजु० 20—5, 7, 8)

37. कौटिल्य—6.1 याज्ञवल्क्य—1.353; मनु० 9.294 महा० शा० प० 69, 64- 65; कामन्दक I-16 तथा 4. 1. 2

38. सुखवीर सिंह—ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थॉट-भाग 1 पृ० 168

39. विलियम इबन्सटोन—ग्रेट पोलिटिकल थिंकर्स—पृ० 200

40. अर्थशास्त्र—1.1.4, 6, 5; शुक्र० 1.2,3, महा० शा० पर्व 59.14, 15, 29, 78, 79

41. स० प्र०—पृ० 114

42. स० प्र०—पृ० 93, (मनु० 7.17, 18, 19, 24) स'० वि०—पृ० 190 (मनु 7.18, 26)

43. स० प्र०—पृं० 93-94 (मनु० 7.25, 26, 27, 28, 30, 31); सं० वि०—पृ० 191 (मनु० 7.30, 31)

—: ० :—

अध्याय 4

राज्य (राजा) के उद्देश्य एवं कार्य

भारतीय चिन्तन में पुरुषार्थ की अवधारणा मानवीय प्रयास के लक्ष्यों की द्योतक है। इसीलिए प्राचीन भारतीय राजशास्त्र-प्रणेताओं ने राज-सत्ता के अस्तित्व को धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष नामक पुरुषार्थ चतुष्टय से संयुक्त किया है।[1] अन्य भारतीय दार्शनिकों की भाँति ही स्वामी दयानन्द ने भी इस तथ्य पर बल दिया है कि राज-धर्म में त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की प्राप्ति इस प्रकार की जानी चाहिए कि अन्ततः लोकोत्तरीय उद्देश्य की प्राप्ति सहज एवं सरल हो सके। उनका मत है कि जिस-जिस क्रिया से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि हो, उस-उस का प्रयत्न करो (ऋ० भा० 3.41.3)। दुष्ट व्यसनों से पृथक् होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को धीरज, शान्ति, अप्रमाद से धीरे-धीरे सिद्ध करें (यजु० भा० 27.5)।

महर्षि ने पुरुषार्थ को ही समस्त उन्नतियों का मूलाधार मानते हुए बताया है कि "पुरुषार्थ सब प्रकार की उन्नतियों का मूल है। क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध ये तीनों अनुक्रम से उसके वृक्ष हैं। जो पुरुषार्थ उत्तम होवे, तो तीनों क्रमशः उत्तम होवें और जो वह बिगड़ जाय तो जानो कि सब बिगड़ गया"[2] अतः, नित्य प्रति सत्य-कर्म में पुरुषार्थ करना मनुष्य का एक मात्र उद्योग होना चाहिए।[3]" इसलिए महर्षि ने श्रीयुत् बारहट किशन सिंह[4], झालावाड़ के राज राणा[5] तथा राव राजा तेज सिंह[6] को लिखे विभिन्न पत्रों में स्वधर्म, प्रजा-रक्षण, राज्य-ऐश्वर्य-विद्या तथा धर्म की वृद्धि आदि को राजा (राज्य) का परम लक्ष्य बताया है। यही नहीं, अपितु ईश्वर से महर्षि ने जिस सत्य-

न्याय-युक्त, अखण्डित तथा ईश्वरीय राज्य-तुल्य[7] सरल कोमलत्वादि गुण-विशिष्ट चक्रवर्ती राजाओं को नीति, वर-राज्य, वर-विद्या एवं वर-नीति की प्रार्थना की है, वह स्वयं अपने आप में राज्य के उद्देश्य है।[8]

राज्य के उद्देश्य से सम्बन्धित उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि इस तथ्य से पूर्णतः अवगत थे, कि शरीर-पोषण-हेतु अर्थ, मन को तुष्टि के लिए काम, बुद्धि के लिए धर्म तथा आत्मा की शांति के लिए मोक्ष की आवश्यकता होती है। अतः, उनको ही राज्य का लक्ष्य मानते हुए दयानन्द का निर्देश था कि राजा (राज्य) धर्मार्थ सभा द्वारा शिक्षा, नैतिकता, चरित्र एवं वर्णाश्रम धर्म के प्रोत्साहन तथा अनुपालन द्वारा धर्म; कृषि, पशु-पालन, शिल्पोद्योग एवं व्यापारादि द्वारा अर्थ तथा राज्य में शांति, सुव्यवस्था एवं सुरक्षा द्वारा काम की प्राप्ति के लिए प्रयास करता रहे। यद्यपि, मोक्ष-प्राप्ति का प्रयास नितान्त वैयक्तिक होता है, पुनरपि राज्य को धर्मार्थकाम की उन्नति करते हुए मोक्ष-प्राप्ति-हेतु अपेक्षित वातावरण का सृजन करना चाहिए। दूसरे शब्दों में स्वामी दयानन्द ने राज्योद्देश्य को लौकिक एवं पारलौकिक हितों से संयुक्त कर सर्वव्यापक एवं सर्वकालिक बना दिया है। यदि, राजा इन लक्ष्यों-हेतु प्रयास करता रहे, तो निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी राजतन्त्रीय संकल्पना का स्वयमेव परिहार हो जाता है।

राज्य (राजा) के कार्य :

स्वामी दयानन्द ने राजा के उद्देश्य-निर्धारण-द्वारा ही उसके कार्यों को भी सुस्पष्ट कर दिया है। उनके अनुसार राजा (राज्य) का कार्य मात्र विकास-मार्ग की बाधाओं को दूर करना (नकारात्मक) ही नहीं है, वास्तव में, राजा के कार्य सकारात्मक हैं। लौकिक अभ्युदय एवं पार-लौकिक सिद्धि की प्राप्ति करना राजा का सर्वोपरि दायित्व है। इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष-प्राप्ति-हेतु समस्त करणीय कार्य राजा द्वारा सम्पन्न होंगे। इसीलिए ऋग्वेद (3. 6. 3) के मन्त्र की व्याख्या

करते हुए महर्षि ने लिखा है कि "जब राजा और राज-पुरुष विद्या, विनय और नीतियों से अपनी प्रजाओं को प्रसन्न करते और जितेन्द्रिय होकर दुष्ट व्यसनों से रहित होते हैं, वे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होते हैं।" उल्लेखनीय है, कि महर्षि की राजनीतिक व्यवस्था में राजा स्वयं स्वेच्छाचारी रूप से कोई भी कार्य नहीं करता है, अपितु समस्त राज्य-कार्यों का सम्पादन वह विभिन्न सभाओं, मन्त्रियों तथा अधिकारियों एवं कर्मचारियों के सहमति, स्वीकृति एवं सहयोग से करता है। अतः, राजा के कार्यों का अर्थ है राज्य के कार्य।

दयानन्द ने राज्य के कार्यों में रक्षणीय की रक्षा, मारने योग्य को मारना, शत्रुओं को अग्निवत् भस्म करना, प्रजादि को धनों से आनन्दित करना, श्रेष्ठों का सम्मान और दुष्टों का तिरस्कार करना, धर्म पालन एवं अधर्म का नाश करना, परस्पर प्रीति एवं उपकार करना, अविद्या और अन्याय का नाश, वन-सम्पदा तथा पशु-पक्षियों का संरक्षण, राज्य की वृद्धि, चक्रवर्त्ती राज्य का पालन तथा शुभ कर्मों को वृद्धि एवं अशुभ कर्मों का नाश करना आदि का यत्र-तत्र उल्लेख अपने वेद-भाष्य में किया है।[9] उनका मत है कि जो दरिद्रों को भी धन-युक्त, आलसियों को पुरुषार्थी और श्रवण-रहितों को श्रवण-युक्त करे, उस पुरुष ही को सभाध्यक्ष बनाना चाहिए (ऋ० भा० 1. 84. 8)।

उपर्युक्त कथनों के आधार पर कहा जा सकता है कि महर्षि के राज-दर्शन में राज्य-कार्यो को सूची-बद्ध करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है, क्योंकि मानव-जीवन का कोई भी क्षेत्र राज्य के कार्य की सीमा से परे नहीं है। तथापि संक्षेप में राज्य के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं :

(i) प्रजा का पालन, रंजन, संरक्षण एवं अभिवृद्धि करना :

स्वामी दयानन्द का मत है कि राजा अथवा राज्य का सर्वोपरि कार्य प्रजा का पालन, रंजन, संरक्षण एवं संवर्द्धन करना है। प्रजा-पालन ही राजाओं का परम धर्म है।[10] प्रजा-पालन-हेतु ही राजा का अभ्युदय होता है (यजु० भा० 6.30) तथा क्षत्रियों के लिए न्याय से राष्ट्र-पालन

ही 'अश्वमेव' है,[11] जिससे यश, धन, राज्योन्नति और उत्तम पुरुष प्राप्त होते हैं।

वास्तव में, महर्षि ने ब्रिटिश-राज्य में भारतीयों की उपेक्षा तथा दुर्दशा को दृष्टिगत करते हुए स्वदेशी राजाओं को आलस्य, प्रमाद, भोगलिप्सा आदि से विरक्त करने तथा उनमें आत्म-सम्मान एवं राष्ट्र-गौरव की भावना-जागृत करने के लिए राज्य के इस कार्य के माध्यम से एक सशक्त प्रेरणा दी है। उनका उद्देश्य भारतीय नरेशों को भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन-हेतु तैयार करना था, जिससे भारत पर-तन्त्रता से मुक्त हो सके। यही कारण है, कि जोधपुर-नरेश के अनुज, कर्नल प्रताप सिंह द्वारा मोक्ष-मार्ग पूछे जाने पर ऋषि ने कहा था कि "……यदि न्याय-पूर्वक प्रजा-पालन करोगे, तो तुम्हारा मोक्ष हो सकता है।"[12] इसी प्रकार राजा यशवन्त सिंह को एक पत्र में यह निर्दिष्ट किया कि, "प्रजा के धनाढ्य, आरोग्य खान-पान आदि से सम्पन्न रहने पर राज्य की बड़ी उन्नति होती है। राजा प्रजा को अपने सन्तान सदृश सुख देवे और प्रजा अपने पिता सदृश राजा और राजपुरुषों को जाने।"[13]

महर्षि ने राजा द्वारा प्रजा-पालन के कर्त्तव्य को अनेक रूपकों द्वारा भी स्पष्ट किया है। उन्हीं के शब्दों में, जैसे जीव अपने मित्र या शरीर की रक्षा करता है,[14] माता पुत्रों को पालती है,[15] माता गर्भ की रक्षा करती है,[16] सूर्य मेघ को बरसा के सब प्रजा का पालन करता है,[17] बछड़ों को बढ़ाने वाली गौ होती है,[18] जैसे परमेश्वर प्रजा-सुख के वास्ते वर्तता है,[19] जैसे स्त्री अपने जंघा आदि अंगों को वस्त्रों से ढाँप रखती है,[20] वैसे सभापति (राजा) समभाव का आश्रय करके प्रजाओं का पालन करे। महर्षि ने प्रजा-पालन को इतना अधिक महत्व दिया है कि, उनका विचार है कि, जो प्रजा को दुख देकर अपना प्रयोजन साधे, वह राजा डाकू ही है।"[21] पिता-तुल्य प्रजा का पालन और वृद्धि करने वाला ही सत्य राजा है।[22]

इस प्रकार स्पष्ट है, कि दयानन्द के अनुसार राजा की सत्ता जनहिताय ही है। उसे निरन्तर लोकहित में ही सक्रिय रहना चाहिए। उल्लेखनीय है कि, महर्षि की इस प्रकार की शिक्षाओं एवं उपदेशों का अपेक्षित प्रभाव भी उस समय के राज-वर्ग पर पड़ा। शाहपुराधीश नाहर सिंह ने स्वामी दयानन्द की शिक्षाओं को स्वीकार कर अपने राज्य का आदर्श वाक्य ही निर्धारित किया था कि, "क्षत्रियस्य परमो धर्मः प्रजानामेव पालनम्।"[23]

(ii) आन्तरिक शान्ति एवं सुव्यवस्था की स्थापना तथा वाह्य शत्रुओं से राष्ट्र की रक्षा :

महर्षि दयानन्द के अनुसार राजा का दूसरा प्रमुख कार्य प्रजा के समस्त प्रकार के भय का शमन करते हुए उनके जीवन, स्वतन्त्रता एवं सम्पत्ति की सुरक्षा करना है। आन्तरिक रूप से राष्ट्र-द्रोहियों द्वारा राष्ट्र को दुर्बल एवं खण्ड-खण्ड करने की गतिविधियों एवं वाह्य रूप से पड़ोसी या शत्रु-राष्ट्रों के आक्रमण का भय प्रजा को अशांत एवं आतंकित करता रहता है। इन दोनों प्रकार को आपदाओं से प्रजा को भय-मुक्त करना राजा का आजीवन-व्रत होना चाहिए। महर्षि के अनुसार प्रजा-रक्षण में असमर्थ शासक-वर्ग मृतक-तुल्य होता है। अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उन्होंने लिखा है कि, "जिस भृत्य सहित देखते हुए राजा के राज्य में डाकू लोग रोती-विलाप करती प्रजा के पदार्थ और प्राणों को हरते रहते हैं, वह जानो भृत्य-अमात्य सहित मृतक है, जीता नहीं और महादुख का पाने वाला है।[24] यही कारण है कि दयानन्द ने महाराणा श्री सज्जन सिंह को दिन-चर्या से सम्बन्धित लिखे एक पत्र में निर्दिष्ट भी किया कि, "सदा बलवान् और राज-पुरुषों से सताए हुओं की पुकार, यदि भोजन पर भी बैठे हों, तो भोजन को भी छोड़ के उनकी बात सुननी और यथोचित उनका न्याय-करना ·····।"[25] महर्षि के इस पत्र से स्पष्ट है कि प्रजा की रक्षा तथा न्याय आदि कार्य का राजा द्वारा पूरी तन्मयता से पालन किया जाना चाहिए।

महर्षि की मान्यता है कि दुष्टों से श्रेष्ठों की रक्षा के लिए ही राजा होता है (यजु० भा० 10·33) अतः, राज्य-रक्षा में असमर्थ व्यक्ति को राजा नहीं बनना चाहिए (ऋ० भा० 1·54·6)। राजा का परम दायित्व है कि जहाँ-जहाँ प्रजा उसे पुकारे, वहाँ-वहाँ वह उपस्थित हो (ऋ० भा० 6·33·4) क्योंकि, प्रजा-रक्षण हेतु ही वह कर प्राप्ति का अधिकारी है।[26] महर्षि ने राजा के प्रजा-रक्षण के कार्य को विस्तार से बताते हुए अपने ऋग्वेद-भाष्य एवं यजुर्वेद भाष्य के विभिन्न मन्त्रों को व्याख्या[27] में स्पष्ट किया है कि जैसे सूर्य अपने प्रकाश से, चोर व्याघ्र आदि प्राणियों को भय दिखा कर अन्य प्राणियों को सुखी करता है, वैसे ही राजा सत्य-न्याय-युक्त व्यवहार. कठोर दण्ड, धर्माचरण और अनुशासन आदि से चोर, डाकू, लुटेरे, पापियों. शत्रुओं, हिंसकों तथा दुष्टों को दण्डित कर धनिकों, धर्मात्माओं, श्रेष्ठों एवं सज्जनों की रक्षा और सम्मान के लिए दिन-रात प्रयास करता रहे।

महर्षि ने अपने राजनीतिक दर्शन में आंतरिक शांति एवं सुव्यवस्था-हेतु विधि-शासन तथा स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्याय-प्रणाली का बिस्तार से उल्लेख किया है, जिसमें सम्यक् दण्ड के सिद्धान्त के साथ ही साथ राजा एवं राजपुरुषों-हेतु कठोर दण्ड की भी व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त वाह्य आक्रमणों एवं आपदाओं से राष्ट्र-रक्षा हेतु आधुनिकतम शस्त्रास्त्रों से युक्त सैन्य व्यवस्था तथा सशक्त विदेशनीति के सिद्धान्त का प्रतिपादन भी किया है। परन्तु, ध्यातव्य है कि राष्ट्र रक्षा के लिए युद्ध का प्रयोग अन्य विकल्पों के अप्रभावी होने के पश्चात् ही धर्म पूर्वक किया जा सकता है।

(iii) भौतिक सुख-साधनों की अभिवृद्धि :

महर्षि मात्र आध्यात्मिक चिन्तक ही नहीं थे, अपितु उन्होंने राष्ट्र के सुख, समृद्धि एवं विकास के सन्दर्भ में भौतिक संसाधनों के उत्पादन, वृद्धि, प्रयोग, वितरण, संरक्षण तथा न्याययुक्त उपभोग की समस्याओं पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है । वह चाहते थे कि राजा-प्रजा "मृत्यु

पर्यन्त लक्ष्मी की उन्नति हेत् पुरुषार्थ किया करें और लक्ष्मी को दुर्लभ न समझें।"[28] परन्तु, धन-संग्रह धर्म-युक्त होना चाहिए। उनका मत है कि, "अर्थ वह है, जो धर्म ही से प्राप्त किया जाय और जो अधर्म से सिद्ध होता है, उसको 'अनर्थ' कहते हैं।।"[29] धर्म से संग्रहीत धन के आय-व्यय के सम्बन्ध में महर्षि का निर्देश था कि, "राजा और राज-सभा अलब्ध की प्राप्ति की इच्छा, प्राप्त की प्रयत्न से रक्षा करें, रक्षित को बढ़ावें और बढ़े हुए धन को वेद-विद्या, धर्म का प्रचार, विद्यार्थी, वेद-मार्गोपदेशक तथा असमर्थ अनाथों के पालन में लगावे।"[30]

महर्षि के राज-दर्शन में राष्ट्र के प्रायः समस्त आर्थिक संसाधनों के विकास आदि का विधिवत् उल्लेख प्राप्त होता है। उन्होंने कृषि क्षेत्र में हरित क्रान्ति हेतु राज्य द्वारा सिंचाई के साधनों,, परिशोधित बीज, उर्वरकों के प्रयोग तथा वन-सम्पदा के संरक्षण एवं अभिवृद्धि के साथ ही साथ पशु-रक्षा के सिद्धान्त द्वारा श्वेत क्रान्ति का भी सूत्रपात किया है। 'गोकृष्यादि रक्षिणी सभा' की स्थापना के पीछे महर्षि के उपर्युक्त विचार ही निहित थे। उन्होंने कृषकों को 'राजाओं का राजा' कहकर वह सम्मान दिया है, जो आज भी कृषकों को अप्राप्त है। महर्षि ने राज्य को शिल्प, उद्योग तथा समुद्रपारीय व्यापार-हेतु प्रेरणा देने का निर्देश किया है। अन्तर्देशीय व्यापार-वृद्धि-हेतु राज्य स्थल, जल एवं नभ-मार्गों में आवागमन-हेतु विमानादि सवारियों का निर्माण करे एवं मार्गों को निष्कण्टक करे।

(iv) वर्णाश्रम-व्यवस्था का सुचारु संचालन :

महर्षि का यह ध्रुव विश्वास है कि यदि भारतवासी वर्णाश्रम-धर्म की व्यवस्था के अनुकूल जीवन यापन करते हुए स्वधर्म का पालन करें तो निश्चय ही वैयक्तिक एवं सामाजिक विकास की ओर अग्रसर होते हुए विभिन्न मानवीय दुर्बलताओं से मुक्ति प्राप्त कर स्वराज्य-प्राप्ति की अर्हता प्राप्त कर लेंगे। यही कारण है, कि उन्होंने राजा का एक प्रमुख कार्य वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार समाज के रख-रखाव पर ध्यान देना

बताया है। उनका मत है कि वर्णों को अपने-अपने अधिकार में प्रवृत्त करना राजादि सभ्य जनों का काम है।[31] इस कार्य में आवश्यकता पड़ने पर दण्ड-प्रयोग से भी नहीं हिचकना चाहिए, क्योंकि, "विना दण्ड के सब वर्ण दूषित और सब मर्यादा छिन्न भिन्न हो जाती है।"[32] दयानन्द ऋग्वेद भाष्य में 1.122.15 मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि जिस राजा के राज्य में विद्या और अच्छी शिक्षा युक्त गुण, कर्म और स्वभाव से नियम युक्त धर्मात्मा जन, चारो वर्ण और आश्रम तथा सेना, प्रजा और न्यायधीश होते हैं, वह सूर्य के तुल्य कीर्ति से अच्छी शोभा युक्त होता है।

(क) 'वर्ण' का अर्थ और प्रकार :

यद्यपि. 'वर्ण' शब्द का प्रयोग वर्णन करने, वरण करने तथा जीविका और रंग आदि के अर्थ में होता रहता है, परन्तु ऋषि दयानन्द ने 'वर्ण' शब्द की परिभाषा करते हुए लिखा है कि, "जो गुण और कर्मों के योग से ग्रहण किया जाता है, वह वर्ण शब्दार्थ से लिया जाता है।"[33] महर्षि ने गुणकर्मानुसार वर्ण के चार भेद—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—बताए हैं। उन्होंने मनुस्मृति के सातवें अध्याय के श्लोक संख्या 88 से 91 एवं गीता के आठारहवें अध्याय के श्लोक 42 से 44 द्वारा[34] गुणकर्मस्वभानुसार प्रत्येक वर्ण के लक्षण तथा कर्म-धर्म का उल्लेख करते हुए ब्राह्मण का धर्म अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, पढ़ाकर या यज्ञ करके दान लेना या देना, क्षत्रिय का धर्म शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता, ईश्वर-भाव (स्वामित्व), आज्ञा देना और प्रजा से उसका यथार्थ अनुवर्त्तन करवाना, वैश्य का धर्म कृषि, पशु-पालन, दान, ईज्या, देना-लेना, व्यापार; शिल्पादि कार्य करना तथा शूद्रों का मूर्खत्वादि गुण और सेवा आदि प्रमुख कर्म एवं लक्षण बताया है।

(ख) वर्ण-निर्धारण—

महर्षि ने वर्ण-निर्धारण का आधार कर्म एवं आचार-विचार माना है, जन्म नहीं। इसीलिए उनका मत है कि धर्माचरण से नीच वर्ण उत्तम

वर्ण में तथा अधर्माचरण से उत्तम वर्ण नीच वर्ण में चला जाता है।[35] तात्पर्य यह कि अपने कर्म तथा गुण से ब्राह्मण शूद्र और शूद्र ब्राह्मण हो जाता है। इतिहास में ऐसे अनेक प्रमाण भी प्राप्त होते हैं, यथा— पाराशर चाण्डाली से, वसिष्ठ कंजरी से. मल्लाहनी से व्यास, बाल्मीकि भिलनी से, तथा श्रवण शूद्रा से उत्पन्न हुए थे।[36]

महर्षि का मत है कि यह गुण-कर्मों से वर्णों की व्यावस्था कन्याओं की सोलहवें वर्ष और पुरुषों की पच्चीसवें वर्ष की परीक्षा में नियत करनी चाहिए·····।"[37] इस कथन से इंगित होता है कि चूंकि, कन्याओं एवं पुरुषों की उक्त आयु गुरुकुल में विद्यार्जन की है, अतः स्पष्ट है कि वर्ण का निर्धारण गुरु (आचार्य) द्वारा सम्यक् परीक्षण के पश्चात् ही किया जाएगा। वर्ण निर्धारण के सन्दर्भ में महर्षि ने इस आशंका का भी समाधान कर दिया है कि यदि किसी का एक ही पुत्र या पुत्री हो और परीक्षापरान्त वह किसी दूसरे (माता-पिता से भिन्न) वर्ण में प्रविष्ट हो जाय, तो उसके माता-पिता का सेवा-भंग अथवा वंशच्छेदन नहीं होगा, क्योंकि उनको अपने पुत्र-पुत्रियों के बदले स्ववर्ण के योग्य दूसरे सन्तान विद्या-सभा और राज-सभा की व्यवस्था द्वारा प्राप्त हो जाएँगे।[38] इस प्रकार स्पष्ट है कि महर्षि के मत में वर्ण-निर्धारण का दायित्व विद्या-सभा तथा राज-सभा का है। यही नहीं, उनका यह भी मत है कि राजा ऐसी व्यवस्था करे कि चारो वर्ण परस्पर प्रीति, उपकार, सज्जनता, सुख-दुख, हानि-लाभ में ऐक्यमत रहकर राज्य और प्रजा की उन्नति में तन, मन और धन का व्यय करते रहें।[39] इस प्रकार, महर्षि ने वर्ण व्यवस्था के सफल संचालन को राज्य का परम कर्त्तव्य घोषित किया है।

(ग) आश्रम-व्यवस्था :

दयानन्द ने वर्ण व्यवस्वा की ही भाँति आश्रम-व्यवस्था को भी पुरुषार्थ चतुष्टय का मूलाधार माना है। उनके अनुसार "जिनमें अत्यन्त

परिश्रम करके उत्तम गुणों का ग्रहण और श्रेष्ठ काम किए जाँए, उनको आश्रम कहते हैं।"[40] महर्षि ने बताया है कि आश्रम चार प्रकार के होते हैं, जिनमें ब्रह्मचर्याश्रम विद्या-हेतु, परस्पर प्रीति और सामाजिक हितार्थ गृहाश्रम, वानप्रस्थ तप अर्थात् विद्या सम्पादन-हेतु तथा संन्यास परमेश्वर अर्थात् मोक्ष-सुख की प्राप्ति तथा जगत् में घूम कर सत्योपदेश देने के लिए है।[41] प्रथम तीन आश्रमों का सेवन प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति कर सकते हैं, परन्तु संन्यासाश्रम का ग्रहण पूर्ण विद्वान्, धार्मिक एवं परोपकार प्रिय व्यक्ति हो कर सकता है।[42] राजा को मुख्य रूप से ब्रह्मचर्य आश्रम (शिक्षा-व्यवस्था) तथा गृहस्थाश्रम (सामाजिक व्यवस्था) का नियमन और संचालन करना आवश्यक है।

शिक्षा-समाप्ति के पश्चात् व्यक्ति गृहस्थाश्रम में विवाह-संस्कार के माध्यम से प्रवेश करता है। महर्षि का राजा के लिए यह निर्देश है कि, "न्यून से न्यून सोलहवें वर्ष कन्या और पच्चीसवें वर्ष लड़के का स्वयंवर-विहाह होने देवें, पूर्व नहीं।"[43] यही नहीं, अपितु वह इस बात की भी व्यवस्था करे कि, "एक विवाह से अधिक दूसरा भी विवाह कोई न करने पावे। परन्तु, यह विवाह दोनों की प्रसन्नता पूर्वक होवे, जिससे अत्युत्तम सन्तान उत्पन्न हो।"[44] महर्षि किसी भी स्थिति में पुनर्विवाह को स्वीकृति नहीं देते, मात्र शास्त्रोक्त रीति से नियोग की व्यवस्था को अधमने भाव से मानते हैं, क्योंकि वंश चलाने के लिए गोद लेने की भी व्यवस्था है।[45] राजा का कर्त्तव्य है कि वह विवाह की शास्त्र एवं वेदोक्त व्यवस्था करे, जिससे दम्पति चकवा-चकवी के समान प्रेम-बद्ध रहते हुए संस्कारोक्त विधि से सन्तानोत्पन्न करके सौ वर्ष पर्यन्त आयु को प्राप्त होवें।[46] राजा ऐसा नियमन करे कि बाल्यावस्था में विवाह न हो, युवावस्था में भी बिना प्रसन्नता के न स्वयं विवाह करे न किसी को करने दे। व्यभिचार और बहुविवाह आदि को रोके[47]।

दयानन्द द्वारा राजा को विवाह आदि से सम्बन्धित निर्दिष्ट

कर्त्तव्यों से यह स्पष्ट होता है कि वे सामाजिक व्यवस्था के केन्द्र-बिन्दु गुहस्थाथम के विवाह आदि संस्कारों को राज-नियम के नियन्त्रण में रखना चाहते थे, जिससे सामाजिक कुप्रवृत्तियों का उन्मूलन हो सके। महर्षि ने गृहाश्रम को 'ज्येष्ठाश्रम' की संज्ञा देते हुए लिखा है कि, "जितना कुछ व्यवहार संसार में है, उसका आधार गृहाश्रम ही है।[48] इसीलिए महर्षि का अभीष्ट है कि राज्य, गृहस्थाश्रम में व्यक्ति के सांसारिक सुख तथा पारलौकिक लक्ष्य की प्राप्ति के प्रयासों को वैधानिक निर्देश दे। यहीं नहीं, अपितु राज्य, चारो आश्रमों में समन्वय एवं समरसता स्थापित कर भौतिक तथा आध्यात्मिक सामञ्जस्य द्वारा प्रजा की समस्त उपलब्धियों-हेतु मार्ग प्रशस्त करे तथा वर्ण-व्यवस्था को गुणकर्मस्वभावानुसार स्थापित कर गुणहीनों, कर्महीनों तथा स्वभावहीनों (संस्कारहीनों) के जन्मना एकाधिकार को समाप्त करे।

(v) शिक्षा की व्यवस्था करना ;

महर्षि ने शिक्षा की व्यवस्था को राजा का अनिवार्य कार्य स्वीकार किया है, क्योंकि इसी से राजा-प्रजा में अपेक्षित गुणों का विकास होता है। महर्षि ने विद्यादान को 'अक्षयदान' मानते हुए लिखा है कि, "यथार्थ दर्शन यह विद्या है, यथार्थ विहित ज्ञान यह विद्या है..... विद्या में भ्रम नहीं होता।"[49] वही शिक्षा है, जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मा, जितेन्द्रियतादि की वृद्धि हो और अविद्यादि दोष छूटें।[50] सुविधा से ही चक्रवर्ती राज्य श्री आदि की प्राप्ति, रक्षण और उन्नति का सामर्थ्य उत्पन्न होता है[51] तथा मूर्ख और विद्वानों के संग्राम में विद्वानों की ही विजय होती है (यजु० भा०33.63)।

शिक्षा के विषय में महर्षि द्वारा दी गई उपर्युक्त परिभाषा और संकल्पना से यह स्पष्ट होता है कि उनके लिए शिक्षा वह अनुशासन है, जो बौद्धिक और शारीरिक नियन्त्रण द्वारा व्यक्तियों में संयम तथा आत्मनियन्त्रण की शक्ति उत्पन्न करती है और साथ ही सत्यासत्य, धर्माधर्म एवं कर्त्तव्याकर्त्तव्य का बोध भी कराती है, जिससे व्यक्ति का सर्वविधि

हित होता है। अतः, राजा को चाहिए कि वह विद्या के प्रकाश से राज्य और यश की वृद्धि करे।[52] इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए महर्षि ने एक विज्ञापन में शिक्षा-व्यवस्था को राज्य का आवश्यक कार्य मानते हुए यह बताया कि, "राजा का मूर्ख होना बहुत बुरा है, परन्तु प्रजा का भी मूर्ख रहना बहुत बुरा है। किन्तु, मूर्खों के ऊपर राज्य करने से राजा की शोभा नहीं, किन्तु प्रजा को विद्या-युक्त धर्मात्मा और चतुर करके उन पर राज्य करने में राजा और प्रजा की शोभा और सुखों की उन्नति होती है·····।"[53] इस विज्ञापन से भी यही स्पष्ट होता है कि राजा को शिक्षा की अनिवार्य रूप से व्यवस्था करना चाहिए।

(क) अनिवार्य शिक्षा :

महर्षि ने राज-दर्शन में शिक्षा की सम्पूर्ण योजना का विस्तृत विवेचन किया है, जिसका क्रियान्वयन राजा का दायित्व है। महर्षि का अभिमत है कि माता, पिता तथा आचार्य, ये तीनों शिक्षक होते है, जिसमें माता-पिता का बच्चे की शिक्षा का दायित्व तो गर्भाधान से ही प्रारम्भ हो जाता है।[54] जब बच्चा (पुत्र-पुत्री) पाँच वष की आयु का हो जाय, माता-पिता सर्वप्रथम देवनागरी तथा कालान्तर में अन्यदेशीय भाषाओं के अक्षरों का अभ्यास करावें।[55] आठ वर्ष की आयु प्राप्त होते ही लड़कों को लड़कों के और लड़कियों को लड़कियों की पाठशाला में भेजना चाहिए।[56] यदि, कोई अभिभावक ऐसा न करे, तो महर्षि का निर्देश है कि, "इसमें राज-नियम और जाति-नियम (सामाजिक प्रतिबन्ध) होना चाहिए कि पाँचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे अपने लड़कों और लड़कियों कों (कोई) घर न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवें। जो न भेजे, वह दण्डनीय हो।"[57] महर्षि ने इसी आशय का एक पत्र उदयपुर के महाराणा श्री सज्जन सिंह को भी लिखा कि, "सबके लड़के-लड़कियों को ब्रह्मचर्य-पूर्वक विद्या-दान दिलावें ··· सब राज्य के

आय में से दशांश धर्मादि के लिए नियम रखें। उससे वेद-विद्या, धर्म और शिक्षा की वृद्धि के लिए अध्यापक और उपदेशक प्रचारित करें।'[58] महर्षि के इस पत्रांश से ध्वनित होता है कि राजा सभी वर्ण के बालक-बलिकाओं-हेतु शिक्षा की व्यवस्था करे तथा अपने राज्य के बजट में शिक्षा हेतु 10% धन व्यय करने का प्राविधान रखे।

(ख) विद्यालय व्यवस्था :

महर्षि ने शिक्षा की व्यवस्था के अन्तर्गत विद्यालय की स्थिति, अध्यापकों की नियुक्ति, उनके भरण-पोषण, विद्यार्थियों की परीक्षा, पाठ्यक्रम आदि का विस्तार से विवेचन किया है। उनका मत है कि इस बात का ध्यान देना चाहिए कि विद्यार्जन का स्थान एकान्त देश (स्थान) में हो तथा लड़के और लड़कियों के विद्यालय एक दूसरे से कम से कम दो कोश (चार मील) की दूरी पर हों। विद्यालय से एक योजन (चार कोश-आठ मील) दूर ग्राम या नगर हों। लड़कियों के विद्यालय में पाँच वर्ष का लड़का और लड़कों के विद्यालय में पाँच वर्ष की लड़की भी न जाने पावे। विद्यालय में सबको एक समान वस्त्र, खान-पान तथा आसन दिया जाय, चाहे वह राजकुमार या राजकुमारी हो अथवा किसी दरिद्र की सन्तान।[59] महर्षि का मत है कि गुरु-कुल में नियुक्त किए जाने वाले अध्यापक या अध्यापिका भ्रष्ट तथा दुराचारी न हों, अपितु जो मनुष्य कहने योग्य को कहें, पाने योग्य को पावें, नमने योग्य को नमें, मारने योग्य को मारें और जानने योग्य को जानें, वे ही आप्त होते हैं (ऋ० भा० 2.1.9 7) राजा को चाहिए कि ऐसे ही आप्त विद्वानों को अध्यापक या उपदेशक नियुक्त करे। महर्षि का यह भी निर्देश है कि राजा विद्या देने वालों के लिए उत्तम धन भी दे (ऋ० भा० 3.62.4)। महर्षि ने अध्यापकों की परीक्षा के सम्बन्ध में निर्दिष्ट किया है कि, "अध्यापक लोगों को विद्यार्थियो को पढ़ा के प्रत्येक अठवाड़े, प्रत्येक पक्ष, प्रतिमास, प्रति छमाहो और प्रति वर्ष परीक्षा यथा योग्य करनी चाहिए।"[60]

(ग) स्त्री-शिक्षा :

महर्षि के शिक्षा-व्यवस्था को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उन्होंने स्त्री शिक्षा पर विशेष बल दिया है, जबकि तत्कालीन समाज-सुधारक एव धर्माचार्यगण प्रायः नारी-शिक्षा के प्रति प्रतिगामी विचार रखते थे। दयानन्द का मत था कि जब तक स्त्रियाँ विदुषी नहीं होतीं, तबतक उत्तम शिक्षा भी नहीं बढ़ती (यजु० भा० 37.4)। अतः, सब कन्याओं को पढ़ाने के लिए पूर्ण विद्यावाली स्त्रियों को नियुक्त करके सब बालिकाओं को पूर्ण विद्या और सुशिक्षा युक्त करे, वैसे ही बालको को भी किया करें (यजु० भा० 19. 44)। महर्षि ने स्पष्ट कहा है कि जो स्त्री-शिक्षा का निषेध करते हैं, उनकी मूर्खता, स्वार्थता और निर्बुद्धिता का परिणाम है। यदि स्त्री पढ़ी-लिखी नहीं होगी, तो वह विभिन्न प्रशासनिक पदों पर कैसे कार्य कर सकेंगी। अतः, किसी भी राष्ट्र के विकास-हेतु आवश्यक है कि वह बिना किसी भेद-भाव के समस्त स्त्री-पुरुष को अष्टाध्यायी, पाणिनि-सूत्र, महाभाष्य, व्याकरण, रामायण-महाभारत, षड्दर्शन, उपनिषद्, चारो ब्राह्मण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, अथर्ववेद (शिल्प-विद्या) आदि आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन गुण, कर्म और स्वभावानुकूल कराने की व्यवस्था करे।

महर्षि के शिक्षा-सम्बन्धी विचारों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि वे राज्य द्वारा अनिवार्य शिक्षा के समर्थक तथा सहशिक्षा के प्रबल विरोधी थे। सहशिक्षा का विरोध महर्षि ने चारित्रिक उन्नयन तथा ब्रह्मचर्य को ध्यान में रखकर किया है, जो तर्कसम्मत भी है। उनका अभिमत था कि विद्यालय में जाति-पाँति, ऊँच-नीचि, राजा-प्रजा, धनी-निर्धन आदि में कोई भेद-भाव न किया जाय, अपितु समस्त बालक-बालिकाओं के साथ समान बर्ताव होना चाहिए। स्त्री-पुरुष या ब्राह्मण शूद्र के नाम पर शिक्षा-व्यवस्था में किसी प्रकार की विभाजन-रेखा की स्वीकृति महर्षि ने नहीं दी है।

(VI) स्वास्थ्य-संरक्षण :

महर्षि की मान्यता थी कि पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति हेतु स्वस्थ शरीर एवं स्वस्थ आत्मा का होना परमावश्यक है। फलस्वरूप उन्होंने लिखा है कि, "वीर्यादिक धातुओ की रक्षा और वृद्धि (से) बुद्धि और शरीर की रक्षा होती है। शरीर की रक्षा से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, ये चारो मनुष्यों को प्राप्त होते हैं।"[61] इसी आशय से महाराणा श्री सज्जन सिंह के स्वास्थ्य-लाभ करने पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए महर्षि ने उन्हें एक पत्र में लिखा कि, "अब परमात्मा की कृपा से महाशयों का शरीर निरामय हुआ है। अब इसको 'वीर्य रक्षणादि से सदा रोग-रहित रखिएगा कि, जिससे ऐहिक और परमार्थिक सुख को सिद्धि करना सुगम होवे।"[62] इसीलिए महर्षि ने अपने ग्रन्थों एवं प्रवचनों आदि में राजा को निर्देश दिया है कि वह अपने सभासदों, मन्त्रियों एवं भृत्यों सहित समस्त प्रजा को शरीर और आत्मा के बल-वर्द्धक ब्रह्मचर्य, औषधि-विद्या तथा योगाभ्यास आदि में नियुक्त रखे, जिससे कि सब मनुष्य रोग-रहित होकर पुरुषार्थी हों। महर्षि का यह भी मत है कि राजा बुद्धि और बलवर्द्धक भोजनादि स्वयं करे तथा समस्त प्रजा को कराए (ऋ० भा० 6.40.2)। भोजन शरीर के स्वभाव और औषधि के गुणों के अनुकूल तथा वैद्यक रीति से सुपरीक्षित हो।[63] अपने वेद-भाष्य में महर्षि ने विभिन्न मन्त्रों की व्याख्या के अन्तर्गत ऐसा निर्देश भी किया है कि व्यक्ति को अग्नि, जल और अन्न का सेवन ऋतुओं के अनुकूल करना चाहिए।

महर्षि का अभिमत है कि भक्ष्याभक्ष्य दो प्रकार का होता है—एक धर्मशास्त्रोक्त, दूसरा वैद्यकशास्त्रोक्त। किसी भी वर्ण के लोग विष्टा-मूत्रादि से उत्पन्न शाक, फलमूलादि का सेवन न करें तथा गाँजा-भाँग, मद्य आदि मादक पदार्थों से दूर रहें।[64] महर्षि ने मांस-भक्षण की निन्दा करते हुए गोकरुणानिधि में अनेक तर्क दिए हैं, जिनमें पशु-पक्षियों की रक्षा का भार राजा को दिया गया है। स्वास्थ्य के संरक्षण के

सन्दर्भ में महर्षि ने राजा को यह सुझाव दिया है कि वह मनुष्यों के भोजन में धर्मशास्त्रीय एवं वैद्यक शास्त्रीय वर्जनाओं के परिपालन पर ध्यान दे। प्रजा को ऐसा अन्न-पानादि का ग्रहण न करने दे, जिससे बल-बुद्धि का नाश हो, आत्मा विकृत हो, तथा धर्मार्थकामादि से च्युत हो कर पशुवत् आहार-विहार, भय-निद्रा तथा मैथुन आदि कर्मों में ही लिप्त हो जाय। राजा द्वारा ध्यान दिए जाने पर भी लोगों का रुग्ण एवं अस्वस्थ होना स्वाभाविक है। अतः, महर्षि ने राजा को चिकित्सकों की नियुक्ति का भी परामर्श दिया है। उनका मत है कि राजादि सभासद लोग सबके अधिष्ठाता, मुख्य धर्मात्मा, जिसने सब रोगों वा औषधियों की परीक्षा ली हो, उस वैद्य को राज्य और सेना में रख के बल और सुख के नाशक रोगों को निवृत्त करे (यजु० भा० 16.5) तथा, "राजा के वैद्य धर्म की नीति औषधि के दान, हस्त-क्रिया की कुशलता और शास्त्रों से छेदन (शल्य-चिकित्सा) भेदन करके रोगों से बचा के सब सेना और प्रजाओं को प्रसन्न करें।"[१०८]

स्वास्थ्य-संरक्षण के सम्बन्ध में महर्षि द्वारा निर्दिष्ट भोजन, औषधि, चिकित्सक की नियुक्ति आदि के विश्लेषण से स्पष्ट है कि वे राजा-प्रजा के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में सर्वाधिक सतर्क थे। एक परिव्राट संन्यासी द्वारा जनता के स्वास्थ्य की चिन्ता करना इस बात का प्रमाण है कि वे स्वतन्त्रता की प्राप्ति, सुखों के उपभोग एवं देश के कल्याण-हेतु स्वस्थ शरीर और मस्तिष्क की अपरिहार्यता को समझते थे। उनका स्वयं का जीवन भी इस सन्दर्भ में अनुकरणीय रहा है।

(VII) वन-सम्पदा का संरक्षण और प्रदूषण को समाप्त करना :

महर्षि ने वन-सम्पदा के संरक्षण और उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि वन के वृक्षों की रक्षा के बिना बहुत वर्षा और रोगों की न्यूनता नहीं होती है (यजु० भा० 12.33)। अतः राजा को बन आदि के रक्षक मनुष्यों को अन्नादि पदार्थ देकर वृक्षों और औषधि आदि पदार्थों की उन्नति करनी चाहिए (यजु० भा० 16.19), क्योंकि

जो वनादिकों की रक्षा से घास-फूस और ओषधियों को बढ़ाते हैं, वे सब का उपकार करने योग्य होते हैं (ऋ० भा० 1.188.10)।

प्रदूषण की समस्या अभिनव नहीं है। महर्षि दयानन्द ने इस समस्या के सम्बन्ध में पूर्व ही विचार किया है। उनका मत है कि प्रदूषण की समस्या मनुष्य जनित है, ईश्वर जनित नहीं। दुर्गन्धयुक्त वायु और जल से रोग होता है तथा रोग से प्राणियों को दुख पहुँचता है। मनुष्य के शरीर से उत्पन्न दुर्गन्ध भी वायु और जल को विषाक्त कर रोगोत्पत्ति का निमित्त होती है।[66] महर्षि ने वायु-प्रदूषण एवं जल-प्रदूषण अर्थात् पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने के लिए यज्ञ करने का निर्देश दिया है। महर्षि के अनुसार "यज्ञ से जो भाफ उठता है, वह भी वायु और वृष्टि के जल को निर्दोष और सुगन्धित करके सब जगत् को सुखी करता है ..... ।"[67] यज्ञ-क्रिया का विज्ञान तथा लाभ समझाते हुए दयानन्द लिखते हैं कि "(यज्ञ का धूम) जब परमाणु मेघ-मण्डल में वायु के आधार से रहते हैं, फिर वे परस्पर मिल के बादल हो के उनसे वृष्टि, वृष्टि से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से धातु, धातुओं से शरीर और शरीर से कर्म (तथा कर्म से कल्याण, बनता है।"[68] यज्ञ की उपादेयता को समझाकर महर्षि ने पर्यावरण की शुद्धि प्रदूषण को से समस्या का निदान प्रस्तुत किया है।

अन्य कार्य :

महर्षि ने उपर्युक्त विभिन्न कार्यों के अतिरिक्त कतिपय अन्य कार्यों की ओर भी संकेत किया है, जो निम्न है :

(i) महर्षि का मत है कि सहायक-हीन अकेला राजा अपने (राज्य के) लक्ष्यों की पूर्ति नहीं कर सकता है। अतएव, जितने मनुष्यों से कार्य सिद्ध हो सके, उतने आलस्य-रहित, चतुर, बलवान आदि को प्रशासकीय सेवाओं में प्रधान पुरुष, अमात्य भृत्य आदि के रूप रखे।[69] दूसरे शब्दों में, राज्य का एक प्रमुख कार्य अधिकारियों तथा कर्मचारियों आदि की नियुक्ति की व्यवस्था करना है।

(ii) राज्यकर्मियों तथा प्रजादि के कार्यों एवं व्यवहारों के प्रत्यक्ष एवं निरीक्षण-हेतु राज्य को गुप्तचरों की भी व्यवस्था करनो चाहिए।[70] सुपरीक्षित दूतों द्वारा राज्य को अपने और पराए राज्य एवं राज-पुरुषों की सुचेष्टा और कुचेष्टा को जानकर कुचेष्टा को छूटने और सुचेष्टा को बढ़ाने का सदा प्रयत्न करे।[71]

(iii) नगर और दुर्ग आदि का निर्माण कराए, जिससे कि असुरक्षा की कोई सम्भावना न रहे। नगर के चतुर्दिक प्रकोट भी बनवाना चाहिए।[72] महर्षि ने ऋ० भा० के मन्त्र सं० 2.20.8 की व्याख्या में लिखा है कि "जो राजा परिधियों सहित नगरियों को बना कर तथा भयंकर चोर आदि का निवारण कर विद्वानों के साथ राज्य-पालन करते हैं, वह सत्य-सुख को प्राप्त होते हैं।"

(iv) राजा का एक प्रमुख कार्य मादक द्रव्य सेवियों को दण्डित करना भी है। ऋ० भा० 3 48.4 की मन्त्र-व्याख्या में महर्षि ने बताया है कि, "जो विद्वान् धार्मिक राजा जन हैं, वे चोर आदि दुष्ट जनों का तिरस्कार और मादक द्रव्य अर्थात् उन्मत्तता करने वाले द्रव्यों के सेवन-कर्त्ताओं को दण्ड करके और अपने आप अव्यसनो होकर, प्रजाओं के पालन करने का समर्थ होवे, वे हो राज्य की वृद्धि करने के योग्य होवें।"

(v) यातायात तथा परिवहन की सुव्यवस्था-हेतु राजा को सड़कों का भी निर्माण करना चाहिए। महर्षि का मत है कि, "राजादि मनुष्य ऐसे मार्गों को बनावें, जिनमें जाते हुओं को चोरों का भय न हो और द्रव्य का लाभ भी हो (ऋ० भा० 6.51.16)। राजा रथ आदि के चलने के लिए मार्गों को सुडौल बनाय के उन मार्गों से रथ आदि वाहन पर चढ़के तथा आय-जाय" (ऋ० भा० 5.31.1)। मनुष्यादि प्राणियों के सुख-हेतु मार्ग में अनेक घड़ों के जल से नित्य सिचाव कराया करे, जिससे घाड़े, बैल आदि के पैरों को खूँदन से धूल न उड़े (ऋ० भा० 1.117.6)।

निष्कर्ष :

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त भी महर्षि ने प्रसंगवश अन्य कार्यों का यत्र-तत्र उल्लेख किया है, जिनका विवरण इस पुस्तक के अन्य अध्यायों यथा—न्याय-व्यवस्था, अर्थ, व्यवस्था, रक्षा-व्यवस्था आदि—में किया जाएगा। दयानन्द द्वारा राज्य के कार्यों की यदि सूक्ष्म समीक्षा की जाय, तो ज्ञात होगा कि वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन का कोई भी पक्ष राज्य-कार्य-क्षेत्र से मुक्त नहीं है। महर्षि के राज-दर्शन में राजा को प्रजा की इहलौकिक सुख-समृद्धि के साथ ही साथ पारलौकिक जीवन-हेतु (मोक्ष-प्राप्ति-हेतु) ऐसे वातावरण का सृजन भी करना है, जिसमें लोगों का आध्यात्मिक कल्याण सम्भव हो सके। यही नहीं, अपितु महर्षि के राज्य-कार्यों की तुलना यदि आधुनिक लोककल्याणकारी राज्यों के कार्यों से की जाय, तो असंदिग्ध रूप में यह तथ्य स्पष्ट होगा कि वर्तमान कल्याणकारी राज्यों का कार्य-क्षेत्र, यद्यपि व्यक्ति के पालने (झूले) से कब्र तक विस्तृत है, मात्र चतुर्दिक भौतिक विकास तक ही सीमित है, जिसके दुष्परिणामस्वरूप मानव में उपेक्षित उच्चतर नैतिक मूल्यों का सृजन नहीं हो पाता है। फलतः, राज्य अपने नागरिकों के पूर्ण एवं उदात्त व्यक्तित्व के निर्माण में असफल है तथा समूचे विश्व में हिंसा, बर्बरता, आतंकवाद, संकीर्णता तथा चारित्रिक ह्रास परिव्याप्त है। परन्तु, यदि वर्तमान राज्य और उसके शासक महर्षि निर्देशित कार्यों का समुचित रूप में निष्पादन करें, तो निश्चय ही प्रजा को भौतिक संसार में सुख-शांति और समृद्धि की प्राप्ति होगी तथा साथ ही वे मानव-जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य (मोक्ष) की भी प्राप्ति में समर्थ हो सकेंगे। हमारा ध्रुव विश्वास है कि यदि विश्व के समस्त राष्ट्र महर्षि द्वारा बताए गए समस्त कार्यों का वास्तविक रूप में सम्पादन करें, तो निश्चय ही विश्व महायुद्धों की आशंका तथा आणविक युद्ध के महाप्रलय से तो मुक्ति प्राप्त करेगा ही, साथ ही शासक एवं शासित दोनों को उच्चतर नैतिक मूल्यों की प्राप्ति भी होगी, जिसके फलस्वरूप उनका पारलौकिक जीवन भी कल्याण कारक है।

पाद टिप्पणियाँ :

1. महा० स्वर्गा० पर्व—7.87; वात्स्यायन कामसूत्र 8.59; अर्थ० 1.8 12, मनु० 2.225, 7.151
2. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (बम्बई-प्रवचन सं० 9) पृ० 497-498
3. ऋ० भा० भू० पृ० 102, 109
4. ऋ० द० स० के प० और बिज्ञापन—भाग 2, पृ० 783
5. वही पृ० 798
6. वही पृ० 693
7. आर्याभि० पृ० 91-92
8. वही पृ० 30
9. ऋ० भा० 1.100.13, 1.100.14, 1.112.17, 3.37.3, 4.47.4. तथा यजु० भा० 4.24, 16.20 आदि में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति के लिए राजा को सभी प्रकार के कार्य करने-हेतु इङ्गित किया गया है।
10. स० प्र० पृ० 103 (मनु० 7.144)
11. ऋ० भा० भू० पृ० 254 (शत० 13.1.61)
12. भवानी लाल भारतीय—नवजागरण के पुरोधा पृ० 503
13. ऋ० द० स० के प० और विज्ञापन भाग 2, पृ० 780
14. यजु० भा० 7.37
15. वही 12.15
16. वही 12.23
17. ऋ० भा० 1.80.11
18. वही 6.24.4
19. वही 1.59.4
20. ऋ० भा० भू० पृ० 366
21. सं० वा० प्र० पृ० 13
22. ऋ० भा० 4.31.10
23. भवानीलाल भारतीय—नवजागरण के पुरोधा पृ० 578

24. स० प्र० पृ० 103 (मनु० 7.143)

25. ऋ० द० स० के प० और वि० भाग 2, पृ०755

26. गोकरुणानिधि पृ० 11

27. ऋ० भा० 3.40.1—"·····राजा अपने आत्मा के सदृश वा जैसे वैद्यजन ओषधियों से रोगी की रक्षा करता है, वैसे रक्षा करे।"
ऋ० भा० 7.32.11—"जब राजा प्रजाओं की और प्रजाजन राजाओं की रक्षा करें, तब सबकी यथावत् रक्षा का सम्भव हो।"
यजु० भा० 6.22 "·····राज्य पालन के लिए राजपुरुष प्रतिज्ञा करें कि हम लोग अन्याय न करेंगे अर्थात् हम सर्वदा तुम्हारी रक्षा और डाकू, चोर, लम्पट, लबाड़, कपटी, कुमार्गी, अन्यायी और कुकर्मियों को निरन्तर दण्ड देवेंगे।"

28. सं० वि० पृ० 221 (मनु० 4.137)

29. स० प्र० पृ० 406 (स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश)

30. वही पृ० 100 (मनु० 7.99)

31. वही पृ० 61

32. वही पृ० 93 (मनु० 7.24)

33. आर्योद्देश्य रत्नमाला पृ० 7

34. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन सं० 8) पृ० 367-368; सं० वि०—पृ० 216-220; स० प्र०—पृ० 60-51

35. सं० वि०-पृ० 133-134; स० प्र०-पृ० 59; ऋ० भा० भू०-पृ० 342-343; ऋ० द० स० के शा० और प्र०-पृ० 286 तथा 300 (मनु० 10.65 तथा आप० धर्मसूत्र 2.5.11. 10, 2.5.11.11)

36. पं० मनसाराम—पौराणिक पोल-प्रकाश पृ० 277

37. स० प्र०—पृ० 60

38. वही पृ० 59

39. वही पृ० 73

40. आर्यो० पृ० 8

41. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन सं० 3) पृ० 280-290
ऋ० भा० भू०—पृ० 259
42. स० प्र०—पृ० 89
43. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 628
44. वही पृ० 756
45. स० प्र०—पृ० 73-76
46. सं० वि०—पृ० 176 (अथर्व० कां० 14/सू० 2/मं० 64)
47. स० प्र०—पृ० 115
48. वही पृ० 81
49. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन सं० 3) पृ० 281
50. स० प्र०—पृ० 406 (स्वमन्त०)
51. ऋ० भा० भू०—पृ० 291
52. ऋ० भा० 1.31.11—"सभापति राजा पुत्र के समान प्रजा को शिक्षा देवे।", ऋ० भा० 4.1.5—"उत्तम शिक्षा से हम लोगों की प्रातः काल के सदृश रक्षा करें।"
53. ऋ० द० स० के प० और वि० भाग 1, पृ० 42
54. स० प्र०—पृ० 20 (श० 14.6.10.12); यही सं० वि० पृ० 104-105 पर भी द्रष्टव्य है।
55. स० प्र०—पृ० 20-21
56. वही पृ० 26
57. वही पृ० 27 तथा पूना-प्रवचन सं० 10, पृ० 379 तथा ऋ० भा० 6. 52.9, "राजनीति वा अपने कुल में यह दृढ़ नियम करना चाहिए कि जितने हमारे सन्तान हैं, वे ब्रह्मचर्य से समस्त विद्याओं का ग्रहण, जो इसका विनाश करे, उसे राजा वा कुलीन निरन्तर दण्ड देवें।"
58. ऋ० द० स० के पत्र और वि० भाग 2, पृ० 629, 632
59. स० प्र०—पृ० 26
60. ऋ० भा० 4 3.7

61. ऋ० द० स० के प० और वि० भाग 1, पृ० 40

62. वही, भाग 2, पृ० 755

63. वही, भाग 1, पृ० 39

64. स० प्र०—पृ० 182 (मनु० 5.5)

65. यजु० भा० 16.46

66. स० प्र०—पृ० 30

67. ऋ० भा० भू०—पृ० 49-50

68. वही पृ० 50

69. स० प्र०—पृ० 96 (मनु 7.60, 7.61)

70. स० प्र०—पृ० 97 (मनु० 7,64)

71. ऋ० द० स० के प० और वि० भाग 2, पृ० 631

72. स० प्र० पृ० 97 (मनु० 7.74)

—: ० :—

अध्याय 5

: राजा :

किसी भी राष्ट्र की शासन-व्यवस्था में शासनाध्यक्ष (राजा) का सर्वाधिक महत्त्व होता है। 'शासन' शब्द का अर्थ होता है—निर्देश देना, पथ-प्रदर्शन करना, आदेश या आज्ञा देना। वैदिक युग में 'शासन' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में होता रहा। कालान्तर में इस शब्द का प्रयोग शासन-कार्य में निर्देश देने वाले, संचालन करने वाले व्यक्ति तथा संस्था के लिए प्रयुक्त होने लगा। सभ्य समाज तथा राष्ट्र का विकास एवं भविष्य, शासन (प्रशासन) की व्यवस्था की कार्य-कुशलता एवं क्षमता पर ही निर्भर करता है। राजा समूचे शासनव्यवस्था का मेरुदण्ड होता है। इसके अतिरिक्त भी सभा, मन्त्री तथा अधिकारी एवं कर्मचारी आदि शासन के प्रमुख कारक होते हैं।

भारतीय राजनीतिक चिन्तन में राजा की संकल्पना किसी न किसी रूप में वैदिक काल से ही चली आ रही है। राजा शब्द "राजृ" दीप्तौ धातु से बना है, जो सम्यक् दीप्तिमान अर्थात् अपने श्रेष्ठ गुणों से जनता के मध्य प्रतिष्ठित एवं माननीय हो, वह राजा पद-वाच्य है। राजा का तात्पर्य है—जो प्रजा का रंजन करे वह राजा है। स्वामी दयानन्द ने अपने राज-दर्शन में एक कुशल प्रशासकीय दर्शन, विज्ञान एवं कला का सम्यक् रूप से प्रतिपादन किया है, जिसके केन्द्र में राजा है। राजा की योग्यता, निर्वाचन, राज्याभिषेक, राज्य-काल, पदच्युति, शिक्षा तथा दिनचर्या आदि के सम्बन्ध में महर्षि ने विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है, जो अधोनिर्दिष्ट है :

(i) राजा की अर्हताएँ :

महर्षि की संकल्पना एक आदर्श राजा की है। उनके अनुसार समस्त लौकिक एवं पारलौकिक उपलब्धियों का मूलाधार 'दण्ड' ही है। अत उस तेजोमय दण्ड का धारण कोई अविद्वान् तथा अधर्मात्मा व्यक्ति नहीं कर सकता है।[1] इसीलिए दयानन्द ने श्रेष्ठ गुण, कर्म तथा स्वभाव के आदर्श की प्रतिमूर्ति व्यक्ति को ही राज-पद-हेतु अर्ह स्वीकार किया है।

ऋषि दयानन्द ने राजा को सूर्य के सदृश प्रतापी, अग्निवत् दुष्टों का दाहक न्याय और नम्रता में प्रजाओं में चन्द्रमा के सदृश,[2] समुद्रवत् अचल, गम्भीरबुद्धि, पृथ्वी को भाँति क्षमा और पालन में समर्थ गौ-तुल्य दान तथा नदी के सदृश वृद्धिवाला,[3] विद्युत की भाँति परम प्रतापी, बलवान, पदार्थ-विद्या में निष्णात, जितेन्द्रिय, बुद्धिमान, विद्वान्, प्रजा-पालन में प्रिय,[4] प्रतिष्ठित क्षत्रिय कुलोत्पन्न,[5] न्यायकारियों में न्यायकारी, आनन्द देने वालों में आनन्द देने वाला, श्रेष्ठ स्वभाव वालों में श्रेष्ठ स्वभाववाला, विद्वानों में विद्वान् और वास हेतुओं का वास-हेतु वीर पुरुष[6] होना आवश्यक बयाया है। मनुस्मृति के सप्तम् अध्याय के कतिपय श्लोकों की व्याख्या करते हुए ऋषि ने सभेश राजा को इन्द्रादि देवताओं के तुल्य क्षमतावाला होना बताया है।[7] परन्तु, ध्यातव्य है कि महर्षि का आशय कथमपि राजा को 'देवतांश' सिद्ध करना नहीं था, क्योंकि वे राज्य के दैवी सिद्धान्त के प्रबल विरोधी थे।

ऋषि ने अपने विभिन्न ग्रन्थों एवं प्रवचनों में मनुस्मृति के श्लोक 6.92 में वर्णित धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिदय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य एवं अक्रोध इन दश तथा एक अहिंसा (कुल धर्म के ग्यारह लक्षणों) को भी राजा को अर्हताओं में सम्मिलित किया है।[8] अन्यत्र राजा को सत्य-प्रतिज्ञ, पुरुष-परीक्षक, गुणज्ञ, स्वगुण-स्वदोष को मानने वाला'[9] चारो वेद, तीनो विद्या (आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता), सनातन दण्डनीति, न्याय-विद्या, आत्म-विद्या तथा ब्रह्म-विद्या आदि में निष्णात

होना आवश्यक बताया है।[10] मनुस्मृति (1.89) और गीता (18.43) के श्लोकों तथा अथर्ववेद (12.1.5.8) के मन्त्र के माध्यम से प्रजा-रक्षण, दान, अग्निहोत्रादि यज्ञों को करने वाला, जितेन्द्रिय, शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता एवं ईश्वर-भाव (राजत्व-स्वामित्व) से युक्त व्यक्ति को क्षत्रिय वर्ण का मानते हुए इसी को राजा की अर्हता भी घोषित किया है।[11] परन्तु, उल्लेखनीय है कि राजा की अर्हता-हेतु वर्णित 'क्षत्रिय' शब्द का प्रयोग महर्षि ने पंजाब के 'खत्री' या राजस्थान के 'राजपूत' क्षत्रिय को लक्ष्य करके नहीं किया है। महर्षि की दृष्टि में क्षत्रिय वह है, जिनमें क्षात्र-धर्म के गुण, कर्म एवं स्वभाव हों। वस्तुतः महर्षि के लिए क्षत्रिय शब्द गुण-वाचक है, जाति या स्थान-वाचक नहीं।

(ii) राजा दुर्व्यसनों का त्याग करे :

महर्षि ने राजा की अर्हताओं का ही उल्लेख नहीं किया है, अपितु उनका यह भी आग्रह है कि राजा दुर्व्यसनों, दुष्प्रवृत्तियों एवं अन्य गर्हित कार्यों से अपने को पृथक् रखे, क्योंकि राष्ट्र का चरित्र राष्ट्र-नेता अथवा राजा के चरित्र पर ही निर्भर करता है। दयानन्द ने 'यथा राजा तथा प्रजा' के सिद्धान्त से पूर्णतया सहमत होते हुए यह उपदिष्ट किया है कि राजा और राज-पुरुष कभी दुष्टाचरण न करें, अपितु धर्म-न्याय से वर्त कर सबके सुधार का दृष्टान्त बनें।[12] राज-पुरुष 'बढ़ई' की भाँति व्यसनों का छेदन करें तथा दृढ़ोत्साही होकर मृगया आदि दश कामज एवं पैशुन्य आदि आठ क्रोधज दुर्व्यसनों को स्वयं छोड़े और दूसरे से छुड़ा दें।[13]

स्वामी दयानन्द इस तथ्य से सुपरिचित थे कि राजाओं में विभिन्न प्रकार के दुर्गुणों का मुख्य कारण उनका चाटुकारों से घिरा रहना है। महाभारत के दृष्टान्त से इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने पूना के एक प्रवचन में बताया कि, "...शकुनि, दुःशासन, धृतराष्ट्र (दुर्योधन) और कनक शास्त्री इनकी चाण्डाल चौकड़ी जम गई। अनन्तर इस चाण्डाल चौकड़ी की सलाह से जो-जो राज्य-व्यवस्था हुई, उसका

भयानक परिणाम कुल-नाश तथा देश-नाश हुआ, यह महाभारत में वर्णित है।"[14] यही नहीं, अपितु महर्षि ने 'अन्धेर नगरी गवर्गण्ड राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा' की उक्ति का उदाहरण देकर चाटुकारों से घिरे राजा की दुर्गति का वर्णन करते हुए लिखा कि, "जब जिस देशस्थ प्राणियों का अभाग्य-उदय होता है, तब गवर्गण्ड के सदृश स्वार्थी, अधर्मी, प्रजा का विनाश करने हारा राजा; धनाढ्य और खुशामदियों की सभा और उनके समाज अधर्मी, उपद्रवी तथा राज्य-विद्रोही प्रजा भी होती है।"[15] अतएव, राजा को आवश्यक है कि वह अपने तथा राष्ट्र के हित के लिए चाटुकारों से सर्वथा दूर ही रहे।

महर्षि का यह ध्रुव विश्वास था कि एक मनुष्य के सुधारने से मात्र एक ही मनुष्य सुधरता है, परन्तु राजा को सुधारने से समस्त राष्ट्र-वासियों का सुधार हो जाता है। अपने इसी विश्वास का अवलम्बन लेकर महर्षि ने राजपूताने में निर्भीकता पूर्वक राजाओं के दुर्व्यसनों एवं कुकृत्यों का खण्डन-मण्डन प्रारम्भ कर दिया, जिसका पर्यावसना उनकी असामयिक मृत्यु के साथ ही हुआ। उन्होंने जोधपुर नरेश यशवन्त सिंह को 'गुप्त समाचार' के शीर्षक से एक पत्र लिख कर महाभारत के उद्योग पर्व (33.15), गीता (18.38) तथा मनुस्मृति (3.60, 6.57) के श्लोकों का सन्दर्भ देते हुए चाटुकारों, मद्यपान, वेश्यागमन, पतंगबाजी, द्यूत आदि से पृथक् रहते हुए स्वपत्नी तथा स्वधर्म में अनुरक्त रहने का निर्देश दिया।[16] यही नहीं, अपितु एक अन्य पत्र में महाराज यशवन्त सिंह के वेश्या-प्रेम-प्रसंग की कटु भर्त्सना करते हुए स्पष्ट लिखा कि, "एक वेश्या से जो कि नन्ही (नन्ही भगतन) कहाती है। उससे प्रेम। उसका अधिक संग..... आप जैसे महाराजाओं को सर्वथा अयोग्य है....।"[17] अन्यत्र भी प्रकारान्तर से यह व्यंग किया कि, "सिंहों के आसन पर कुतियों का राज्य। इन कुतियों से कुत्ते ही उत्पन्न होंगे।"[18] महर्षि ने यशवन्त सिंह के अतिरिक्त उदयपुराधीश सज्जन सिंह,[19] एवं झालावाड़ के राज राणा जी[20] को भी पत्र द्वारा हास्य-विनोद, वेश्यावृत्ति, नृत्य-भांड और

चारण आदि से विरत रहते हुए प्रजा-रंजन-हेतु अनवरत उद्यत एवं संलग्न रहने का निर्देश दिया है। महर्षि ने राजाओं के दुष्प्रवृत्तियों को असह्य समझा और अपने पत्रों तथा प्रवचनों आदि में उन्हें चारित्रिक उन्नयन-हेतु निरन्तर प्रेरित किया।

उल्लेखनीय है. कि महर्षि ने राजा को ही विशेष रूप में दुर्व्यसनों से बचने का परामर्श नहीं दिया है, अपितु वे समस्त मानव-जाति-हेतु इसका उपदेश दिए हैं। परन्तु सामान्यजन की अपेक्षा राजन्य-वर्ग का धन-धान्य, पद-प्रतिष्ठा एवं अवसर-प्राप्ति के फलस्वरूप भोग-विलास आमोद-प्रमोद तथा दुर्व्यसनों में फँस जाने को अधिक सम्भावना कोदेखते हुए उन्होंने राजा एवं अन्य राजपुरुषों को विशेष रूप से आगाह किया है।

महर्षि द्वारा राजा-हेतु निर्दिष्ट अर्हताओं एवं अयोग्यताओं के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि वे शासक के गुणों के प्रति जितने सजग थे, उतने ही सतर्क उसके आचार-व्यवहार के प्रति भी थे। आधुनिक कार्यपालिका के अध्यक्ष के रूप में राष्ट्रपति अथवा प्रधामन्त्री की अर्हताएँ महर्षि-प्रतिपादित राष्ट्रध्यक्ष की योग्यताओं के समक्ष अत्यन्त हीन और न्यून है। यही कारण है कि आज राजनीतिक क्षेत्र में संकीर्णता एवं मूल्यहीनता व्याप्त है। राज-पुरुष दलीय, वर्गीय, जातीय, स्थानीय तथा क्षेत्रीय हितों से ऊपर उठ नहीं पाते हैं। उनका पद-प्रतिष्ठा के दुरुपयोग तथा दुर्व्यसनी हो जाना एक सामान्य बात है। अतः, इन समस्याओं के सम्यक् समाधान-हेतु महर्षि प्रतिपादित राजा के गुणो, आचार-विचार एवं रीति-नीति को आदर्श मानकर उस पर अमल करना उपयोगी एवं प्रासंगिक होगा।

(iii) राजा का चयन :

महर्षि बंशानुगत राजत्व के समर्थक नहीं थे. जबकि प्राचीन भारतीय राजनितिक किन्तन में सामान्यतः इसी सिद्धान्त को स्वीकृति दी गई है। दयानन्द के राज-दर्शन में राज्य का सर्वोच्च पदाधिकारी

राजा, दैवी या वंशानुक्रम के आधार पर राज्य का अधिकार नहीं प्राप्त करता है, अपितु वह यह अधिकार अपनी योग्यता और क्षमता के आधार पर प्राप्त करता है तथा उसकी स्थिति निर्वाचित सभापति या सभाध्यक्ष की ही है।[21] महर्षि ने अपने इस मन्तव्य को स्पष्ट किया है कि, "इक्ष्वाकु (आर्यावर्त का प्रथम राजा) जो राजा हुआ तो वह केवल राजकुल में उत्पन्न होने से राजा हुआ, ऐसा नहीं हुआ अथवा उसने बलात्कार से राज्य प्राप्त नहीं किया, परन्तु सारे लोगों ने उसे उसकी योग्यता के कारण राजसभा में अध्यक्ष स्थान पर बैठाया।"[22] इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि ने निर्वाचित राजा के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है और निर्वाचन का एक मात्र आधार श्रेष्ठ गुण एवं योग्यता है।

राजा का चयन अथवा निर्वाचन किन लोगों द्वारा किया जायगा, इस विषय पर महर्षि ने भिन्न-भिन्न स्थलों पर पृथक्-पृथक् संकेत दिया है। कहीं पर सम्पूर्ण प्रजा द्वारा राजा के निर्वाचन-व्यवस्था का उल्लेख है, कहीं पर सभा द्वारा, कहीं पर सभा एवं प्रजा दोनों द्वारा, कहीं पर प्रमाण मिलता है कि राजा का चयन राज-पुरुष एवं प्रजा-पुरुष द्वारा सम्पन्न होगा। महर्षि के उक्त विचारों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

(क) प्रजा द्वारा चयन :

महर्षि के वेदभाष्य में अनेक मन्त्रों की व्याख्यानुसार राजा का चयन प्रजा द्वारा किए जाने में संकेत प्राप्त होते है। यजु० भा० (6.27) में वर्णित है कि, "प्रजाजनों को यह उचित है कि आपस में सम्मति कर किसी उत्कृष्ट गुण-युक्त सभापति को राजा मान कर·· ··।" अन्यत्र भी महर्षि का कथन है, प्रजा-पुरुषों के स्वीकार किए बिना राजा राज्य करने के योग्य नहीं होता है (यजु० भा० 6.2)।" ऋग्वेद भाष्य के मन्त्र 2.1.8 में भी निर्देश दिया है कि वही राजा के योग्य है, जिसको

समस्त प्रजाजन स्वीकार करें। वेद-भाष्य के अन्य मन्त्रों[23] में भी यह संकेत प्राप्त होता है कि राजा का चयन समस्त प्रजा द्वारा किया जाय।

(ख) सभा द्वारा चयन :

महर्षि ने अपने पूना-प्रवचन में महाभारत के उद्धरण से इंगित किया कि राजा के चयन के समय, "राज-सभा ने निर्णय किया कि राज्य युधिष्ठिर के पास होना चाहिए (अर्थात् युधिष्ठिर को राजा बनाया जावे), परन्तु अत्याचार से धृतराष्ट्र ने (अधिकार) हथिया लिया।"[24] ऋ० भा० (3.48.5) में महर्षि ने व्यवस्था दी है कि, 'सम्पूर्ण श्रेष्ठ सभासद् उत्तम गुण, कर्म और स्वभाव वाले, राज-धर्म में चतुर व उत्तमकुल युक्त अत्यन्त ऐश्वर्यवान् पुरुष को सबका अधीश करके.....।' महर्षि ने यजु० भा० (7.35) में भी लिखा है कि, 'राजसभा के सभासद् भी वेदज्ञ विद्वानों की आज्ञा का उल्लंघन न करें, जो सब गुणों से उत्तम हो, उसी को सभापति करें।' पुनश्च, यजु० भा० (17.2-) में निर्दिष्ट किया है कि, 'सब सभाओं के अधिष्ठाता के सहित सब सभासद् उस पुरुष को राज्य का अधिकार देवें, जो पक्षपाती न हो...।' महर्षि के उक्त कथनों से भासित होता है कि राजा का चयन सभासदों द्वारा वेदज्ञ विद्वानों की आज्ञा अर्थात् शास्त्रोक्त विधि से गुण, कर्म एवं स्वभाव को दृष्टि में रख कर किया जाना चाहिए।

(ग) सभा एवं प्रजा दोनों द्वारा चयन :

महर्षि ने यजु० भा० (8.49) में यह यह उल्लिखित किया है कि "सभाजन और प्रजाजनों को चाहिए कि जिसकी पुण्य-प्रशंसा, सुन्दर रूप, विद्या, न्याय, विनय, शूरता ..... और प्रजापालन में प्रीति हो, उसी को सभा का अधिपति राजा मानें।" स्पष्ट है कि सभासद् एवं प्रजा मिलकर राजा का चयन करें।

(घ) राज-पुरुषों और प्रजा-पुरुषों द्वारा चयन :

महर्षि ने ऋ० भा० में मन्त्र 4.3.1 की व्याख्या में लिखा है कि, "हे विद्वान् लोगो ! राजा और प्रजा जनों के साथ एक सम्मति करके,

जैसे ईश्वर ने ब्रह्माण्ड के मध्य में सूर्य को स्थित करके सबका प्रिय सुख-साधन किया, वैसे ही हम लोगों के मध्य में उत्तम गुण कर्म स्वभावयुक्त को राजा करके हम लोगों के हित को आप लोग सिद्ध करो।" पुनश्च ऋ० भा० (4.16.16) में लिखा है कि, "जो राजा और प्रजाजन एक सम्मति करके उत्तम गुण कर्म स्वभाव से युक्त राजा का स्वीकार करें, तो पूर्ण सुख प्राप्त हो।" इन कथनों से स्पष्ट होता हैं कि राज-पुरुष (विशिष्ट वर्ग-प्रवरवर्ग) तथा प्रजा-पुरुष (जन प्रतिनिधि) मिलकर राजा का चयन करें। इस निर्देश से एक बात और भासित होती है कि राजा का चयन एक निर्वाचन मण्डल द्वारा होगा जिसमें राज-पुरुषों और प्रजा-पुरुषों द्वारा अलग-अलग रूप में चुने हुए प्रतिनिधि गण संयुक्त रूप में मिलकर राजा का चयन करेंगे।

राजा के चयन सम्बन्धित उपर्युक्त समस्त निर्देशों से यह तथ्य निःसृत होता है कि महर्षि के राजा का चयन एक ऐसी बैठक (सभा) में किया जाएगा[25] जिसमें सम्पूर्ण प्रजा, सभा, अथवा प्रजा एवं राज-पुरुष (प्रतिनिधि) भाग लेंगे। चूँकि महर्षि ने राजा के निर्वाचन में मत-पत्रों की चर्चा नहीं की है, अतः यही समझ लेना चाहिए कि चयन प्रत्यक्ष रूप से किया जाएगा। चयन करने वाले व्यक्तियों अथदा मतदाताओं की आयु का उल्लेख भी ऋषि द्वारा नहीं किया गया है। पुनरपि, आर्य समाज के संगठन के सन्दर्भ में उन्होंने यह व्यवस्था दी है कि, "अठारह वर्ष का कोई भी व्यक्ति आर्य समाज का सदस्य बन सकता है—निर्वाचन में भाग ले सकता है।[26] इसी व्यवस्था को हम राजा के चयन में प्रयुक्त कर सकते हैं कि महर्षि ने अठारह वर्ष को आयु प्राप्त स्त्री-पुरुष को मतदान के लिए अधिकृत माना है। इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने राजा के चयन, मनोनयन अथवा निर्वाचन में प्रजा को स्वतन्त्र रूप से प्रत्यक्षतः अथवा सभासदों एवं राज-पुरुषों के साथ मिल-कर भाग लेने का अधिकार प्रदान कर लोकप्रिय सम्प्रभुता (जन-सम्प्रभुता) के सिद्धान्त का उद्घोष तत्कालीन भारतीय राजनीतिक

परिस्थितियों (परतन्त्रता) में ही किया है। यह उनकी राजनीतिक दूरदर्शिता एवं प्रजातन्त्रात्मक अभिरुचि का ज्वलन्त प्रमाण है।

(IV) राज्याभिषेक, राज्य-काल एवं पदच्युति :

जिश प्रकार आधुनिक प्रजातन्त्र में शासनाध्यक्षों, मन्त्रियों एवं अन्य महत्त्वपूर्ण अधिकारियों को पद-ग्रहण के पूर्व शपथ-ग्रहण की व्यवस्था की गई है, उसी प्रकार दयानन्द भी राजा को राज्याभिषेक के समय की जाने वाली प्रार्थनाओं तथा शपथों आदि द्वारा दायित्व का बोध कराना चाहते हैं, जिससे वह अपने गुरुतर दायित्व-निर्वाह का आजीवन व्रत ले सके। उनका अभिमत है कि, "··· ···महाऐश्वर्य-युक्त अभिषेक से क्षत्रिय को प्रतिज्ञा पूर्वक राज्याधिकार मिलता है।"[27] इसलिए महर्षि का निर्देश है कि, "प्रजा तथा सब सभासद् सब राजाओं के राजा परमेश्वर को जान के, सब सभाध्यक्ष का अभिषेक करें।"[28] महर्षि ने यजुर्वेद के बीसवें अध्याय के मन्त्र संख्या तीन (यजु० भा० 20.3) के अन्तर्गत व्याख्या द्वारा राज्याभिषेक की विधि का इस प्रकार उल्लेख किया है, जो कोई राजा सभाध्यक्ष होने के योग्य हो, उसका हम लोग अभिषेक करें और उससे कहें कि—हे सभाध्यक्ष! आप सब जगत् को प्रकाशित और उत्पन्न करने वाले परमेश्वर की सृष्टि में प्रजा-पालन के लिए सूर्य-चन्द्रमा के बल और वीर्य से, पुष्टि करने वाले प्राण को ग्रहण और दान की शक्ति-रूप हाथों से, आप को सभाध्यक्ष होने में स्वीकार करते हैं।"

उक्त कथन में स्वामी दयानन्द ने अभिषेक द्वारा राजा को उसके दायित्वों से अवगत कराते हुए उसे शासन-कार्य की वैधता प्रदान की है। इसके माध्यम से राजा भली-भाँति इस सत्य एवं तथ्य से परिचित हो जाएगा कि राज-पद भोग के लिए नहीं, अपितु सेवा और त्याग के लिए है।

महर्षि ने राजा या अन्य राज-पुरुषों के कार्य-काल का कहीं भी कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। चूँकि ऋषि वैदिक व्यवस्था के अनु-

यायी थे, अतः यदि वैदिक मान्यताओं को ही इस प्रसंग में स्वीकार कर लिया जाय, तो यह ज्ञात होता है कि राजा आजीवन (सम्पूर्ण आयु) राज्य करेगा। उल्लेखनीय है कि यहाँ पर सम्पूर्ण आयु का तात्पर्य 'गृहस्थाश्रम' से ही है। महर्षि प्रतिपादित वर्णाश्रम व्यवस्था में स्पष्ट निर्देश है कि प्रत्येक वर्ण के लोग क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ आश्रम का ग्रहण करेंगे, परन्तु संन्यास आश्रमका अधिकार केवल ब्राह्मण (जो सब वर्णों में पूर्ण विद्वान्, धार्मिक और परोपकार-प्रिय हों) को ही है।[२९]

स्पष्ट है, क्षत्रिय वर्ण का होने के कारण राजा केवल ब्रह्मचर्य, गृहस्थ एवं वानप्रस्थाश्रम को ही अंगीकार कर सकता है। चूंकि प्रत्येक आश्रम का काल सामान्य रूप से पच्चीस वर्ष का होता है (विशेष स्थिति में चार-पाँच वर्ष की वृद्धि की जा सकती है), इसलिए राजा का कार्य-काल सामान्यतः पचास से पचपन वर्ष माना जा सकता है। इस अवस्था के पश्चात् राजा वानप्रस्थी हो जाएगा। वानप्रस्थ के विषय में महर्षि की व्यवस्था है कि, "जब गृहस्थ के शिर श्वेत-केश और त्वचा ढीली हो जाय और लड़के का लड़का भी हो गया हो, तब वन में जाके वसे।"[३०] इसी व्यवस्था के आधार पर राजा के सम्बन्ध में भी यह निष्कर्ष निकाला जाना युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि वह अपने पुत्र के समर्थ और सक्षम हो जाने तथा स्वयं वृद्ध होने की स्थिति में गृहस्थाश्रम (राज्य-कार्य) को अपने पुत्र पर सौंप कर वानप्रस्थाश्रम-गामी हो जाय। महाभारत में धृतराष्ट्र का विदुर, गन्धारी और कुन्ती के साथ तथा युधिष्ठिर का अपने अन्य पाण्डव भाइयों के साथ वन-गमन का वर्णन इस तथ्य को पुष्ट करता है।

महर्षि ने राजा द्वारा राज-पद के दुरुपयोग, अन्याय, अधर्म तथा राज्य एवं प्रजा के हितों की उपेक्षा करने पर, उसे कार्य-काल पूर्ण होने के पूर्व ही प्रजा द्वारा अपदस्थ किए जाने का भी निर्देश किया है। उनका अभिमत है कि, "ईश्वर सब मनुष्यों को आज्ञा देता है कि वे ईश्वर के तुल्य धर्म-युक्त गुण, कर्म और स्वभाव वाले पुरुष ही की प्रजा हो, अन्य किसी

क्षुद्राशय पुरुष की प्रजा होना कभी स्वीकार न करे।"[31] यदि भूलवश ऐसे पुरुषों को राजा बना दिया गया हो (चाहे वह राजा का पुत्र ही क्यों न हो), तो उस अन्यायी राजा का शीघ्र त्याग कर[32] किसी श्रेष्ठ गुण, कर्म और स्वभाव वाले व्यक्ति को राजा बनाना चाहिए। महाभारत-काल की चर्चा करते हुए महर्षि पूना-प्रवचन में कहते हैं, "उस समय राजा लोग मूर्ख होते तो उन्हें अधिकार से दूर कर देते थे अथवा अधिकार ही न देते थे।"[33] ऋग्वेद भाष्य की मन्त्र संख्या 4.49 की व्याख्या में महर्षि इसी सम्बन्ध में स्पष्ट करते हैं कि, "हे राजन्! जो आप दुर्व्यसनों का त्याग करके धर्म सम्बन्धी कर्मों को करें, तो हम (प्रजा) लोग आप के भृत्य निरन्तर होवें, जो अन्याय करो, तो आपका शीघ्र त्याग करें।"

उपर्युक्त प्रसंगों से स्पष्ट है कि वेदोक्त विधि से राज्याभिषेक किया हुआ राजा का कार्यकाल यद्यपि कि जीवन पर्यन्त (वानप्रस्थाश्रम के पूर्व तक) है, तथापि यदि वह मूर्ख, व्यसनी तथा दायित्वहीन हो जाता है एवं राज्य और प्रजा की सम्यक् रूप से रक्षा करने के स्थान पर नाश करता है, तो प्रजा उसको अपदस्थ कर किसी अन्य योग्य व्यक्ति को राजा बनाने का अधिकार सुरक्षित रखती है।

(५) राजा की शिक्षा :

महर्षि ने राजा-हेतु जिन अर्हताओं का उल्लेख किया है, उनमें से कुछ प्रकृति-प्रदत्त हैं तथा शेष ऐसी हैं, जिनका निर्माण उचित शिक्षा-व्यवस्था द्वारा ही सम्भव है। शिक्षा द्वारा ही राजा में अपेक्षित गुणों का विकास तथा गुरुतर दायित्व के निर्वहन की क्षमता उत्पन्न होगी। यही कारण है, कि राजा के लिए महर्षि ने जिन योग्यताओं का संकेत किया है, उनमें शिक्षा की महत्ता पर भी बल दिया है। उदाहरणार्थ— "वही राजा होने के योग्य होवे, जो राज-विद्या को अच्छी प्रकार जाने (ऋ० भा० 6.5.3)।" "जिसका सब ज्ञान निर्भ्रम है ..... वही सब राज्य-कार्यों का स्वामी नियत करना चाहिए (ऋ० भा० 1.27.8)।"

"वेदशास्त्र और राजनीति के बिना प्रजा पालने हारा सभापति राजा प्रजा नहीं पाल सकता (ऋ० भा० 1·31.11" इत्यादि। स्पष्ट है कि महर्षि ने भ्रमरहित ज्ञान वाले राज-विद्या-विशेषज्ञ व्यक्ति को ही राज-पद-हेतु अर्ह घोषित किया है। उनका अभिमत है कि, "जैसा परम विद्वान् ब्राह्मण होता है, वैसा विद्वान् सुशिक्षित होकर क्षत्रिय को योग्य है कि इससे सब राज्य की रक्षा न्याय से यथावत् करे।"[34]

दयानन्द राजा को ऐसी शिक्षा प्रदान करना चाहते हैं, जिसके द्वारा वह ईश्वर से लेकर पृथ्वी पर्य्यन्त पदार्थों का सत्य-ज्ञान प्राप्त कर उससे यथा योग्य उपकार ले सके।[35] इसीलिए महर्षि का यह सुझाव है कि राजा जन राज-धर्म जानने के लिए श्रेष्ठ यथार्थवक्ता विद्वानों से याचना करें ऋ० भा० 3.52.2)। राजा जो विद्या प्राप्त करे, उनमें उसे प्रमुखत: चार वेद, चार उपवेद, छह वेदांग, छह दर्शन का अध्ययन करना चाहिए[36] तथा सर्वाधिक ध्यान राज-विद्या (राज धर्म) पर दे। महर्षि राज-धर्म की शिक्षा-हेतु चार वर्ष का समय निर्धारित करते हुए लिखते हैं कि, "धनुर्वेद अर्थात् जो राज सम्बन्धी काम करता है इसके दो भेद — एक निज राजपुरुष-सम्बन्धी और दूसरा प्रजासम्बन्धी होता है। राज कार्य में सब सेना के अध्यक्ष शस्त्रास्त्र-विद्या, नाना प्रकार के व्यूहों का अभ्यास अर्थात् जिसको आजकल 'कवायद' कहते हैं, जा कि शत्रुओं से लड़ाई के समय में क्रिया करनी होती है, उनको यथावत् सीखें और जो-जो प्रजा के पालने और वृद्धि करने का प्रकार है, उनको सीख के न्याय-पूर्वक सब प्रजा को प्रसन्न रखें, दुष्टों को यथायोग्य दण्ड, श्रेष्ठों के पालन का प्रकार सब प्रकार सीखें।"[37] इस कथन से स्पष्ट है कि महर्षि के अनुसार राज-विद्या वह विद्या है जिसमें शासन-प्रशासन के विज्ञान और कला के साथ ही साथ न्याय और युद्ध-नीति का भी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक शिक्षण-प्रशिक्षण निहित है।

महर्षि निरा सिद्धान्तवादी ही नहीं थे, अपितु वे यथार्थवादी चिन्तक भी थे। उन्होंने अपने राजस्थान प्रवास में उदयपुर के महाराणा

श्री सज्जन सिंह, शाहपुरावीश श्री नाहर सिंह आदि को योग, न्याय, वैशेशिक आदि शास्त्रों, महाभारत तथा विदुर-नीति के चुने हुए अंशों तथा राज-धर्म के विशेष ज्ञान-हेतु मनुस्मृति के सप्तम, अष्टम तथा नवम अध्याय का स्वयं अध्ययन भी कराया, जिससे राजा के साथ-साथ उनके समीपस्थ राज्याधिकारी एवं परिजन भी लाभान्वित हुए।[38] यही नहीं, अपितु महर्षि ने उदयपुर के महाराणा को यह भी परामर्श दिया था कि क्षत्रिय-पुत्रों की शिक्षा-हेतु पृथक् विद्यालय की स्थापना होनी चाहिए, जिसमें शस्त्र और शास्त्र दोनों के सन्तुलित शिक्षण की व्यवस्था हो।[39] दयानन्द ने जोधपुर के महाराज यशवन्त सिंह को राजकुमार की वेदोक्त रीति से शिक्षा के लिए एक पत्र में लिखा कि, "·····महाराज कुमार के संस्कार सब वेदोक्त कराइएगा। पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचारी रख के प्रथम देवनागरी भाषा और पुनः संस्कृत-विद्या ·····पश्चात् अंग्रेजी भी, जो ग्रामर और फिलासफी के ग्रन्थ हैं, पढ़ने चाहिए।"[40] यद्यपि ऋषि आर्य-भाषा हिन्दी के कट्टर समर्थक थे, परन्तु वे राजाओं के लिए अनेक भाषाओं को सीखने का परामर्श देते हैं,[41] जिससे कि राज्य-कार्य और वैदेशिक नीति-निर्धारण तथा अन्तर्देशीय व्यापारादि में सुविधा हो।

महर्षि द्वारा राजा की शिक्षा-व्यवस्था-हेतु प्रस्तुत उपर्युक्त सन्दर्भों से यह स्पष्ट है कि उन्होंने सिद्धान्त तथा व्यवहार-रूप दोनों द्वारा यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि आर्य नरेश मौलिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन का अध्ययन कर वेदशास्त्र-सम्मत आचरण और शासन करें। उल्लेखनीय है, कि दयानन्द ने प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्लेटो की भाँति शरीर तथा आत्मा दोनों की शिक्षा-व्यवस्था पर बल दिया है। ऋषि के राजा की शिक्षा से सम्बन्धित चिन्तन से प्लेटो का यह वाक्य ध्वनित होता है कि, "जब तक दार्शनिक राजा नहीं होंगे या राजा दर्शन की भावना से प्रेरित नहीं होंगे, तब तक राज्यों को उनकी बुराइयों से कभी मुक्ति प्राप्त नहीं होगी।"[42] परन्तु, महर्षि का राजा प्लेटो के दार्शनिक शासक की भाँति निरा विद्वान् संत ही नहीं है, अपितु वह

सैन्य-प्रशिक्षण, सम्पत्ति एवं परिवार से युक्त, आचार व्यवहार में दक्ष व्यक्ति है तथा उस पर विधि, धर्म एवं प्रजा-हित के दायित्व आदि का नियन्त्रण भी है। आज की कार्यपालिका के अध्यक्षादि की कोई शैक्षणिक योग्यता निर्धारित नहीं है, जिससे होने वाली हानियाँ सर्व-विदित हैं अतः राजा (राष्ट्र के कर्णधार राष्ट्रपति या प्रधानमन्त्री आदि) के लिए महर्षि द्वारा निर्दिष्ट शिक्षा-व्यवस्था की आवश्यकता आज भी उपयोगी एव अनुकरणीय है।

(vi) राजा की दिन-चर्या :

महर्षि की मान्यता है कि राजा के जीवन का प्रत्येक क्षण नियम-बद्ध हो, जिससे वह प्रमादी एवं आलसी न हो कर अहर्निश लौकिक एवं पारलौकिक उद्देश्यों के पूर्त्यर्थ उद्यम-रत रहे। महर्षि कालीन राजाओं में स्वस्थ एवं संयमित जीवन-चर्या का सर्वथा अभाव था, जिसके कारण उनमें आलस्य, प्रमाद, रुग्णता तथा कर्त्तव्यहीनता की भावना आ गयी थी। इस स्थिति से दुखी दयानन्द ने जोधपुर नरेश यशवन्त सिंह के अनुज कर्नल प्रताप सिंह को एक पत्र में लिखा, "..... आप लोग अपने शरीर का आरोग्य, संरक्षण और आयु बढ़ाने के काम पर बहुत कम ध्यान देते हैं। यह कितनी बड़ी शोचनीय बात है। मैं चाहता हूँ कि आप लोग अपनी दिनचर्या मुझसे सुन के सुधार लेवें। जिससे मारवाड़ तो क्या, अपने आर्यावर्त्त देश भर का कल्याण करने में आप लोग प्रसिद्ध होवें।"[43]

महर्षि ने संयमित तथा नियमित दिन-चर्या के सम्बन्ध में अपने ग्रन्थों एवं पत्रों-विज्ञापनों में जो यत्र-तत्र निर्देश आदि दिया है, उसके अनुसार उन्होने दिन में सोना और रात्रि में न सोना, दिन चढे उठना आदि को दुर्व्यसन माना है।[44] उनका विचार है कि रात्रि के चौथे प्रहर उठ कर तथा आवश्यक (शौचादि) कार्य करने के पश्चात्[45] शुद्ध वायु में नियमित रूप से भ्रमण करना चाहिए।[46] तदुपरान्त एकान्त में गायत्री आदि मन्त्रों के माध्यम से परमेश्वर की स्तुति,[47] योगाभ्यास

और प्राणायाम करना चाहिए, क्योंकि प्राण का मन और मन का प्राण नियमन करने वाला है।[48] राजा को पुरोहित और ऋत्विज् से अग्निहोत्र और पक्षेष्टि आदि कर्म करवाना चाहिए। क्योंकि स्वतः राज्य-कार्य में तत्पर रहना ही उसका सन्ध्योपासनादि कर्म है।[49]

उपर्युक्त प्रातः कालीन क्रियादि से निवृत्त हो कर राजा धार्मिक विद्वानों के सत्कार और भोजनोपरान्त[50] जब सभा में प्रवेश करे तो वहाँ उपस्थित जनों को सम्मान द। तत्पश्चात् अत्यन्त ही एकान्त स्थान (घर, जंगल या पर्वत-शिखर) पर विरोध-भावना का परित्याग कर मन्त्री के साथ विचार करे।[51] वह राज्य-कार्य में न्यूनतम छह घण्टा समय अवश्य दे तथा अवकाश मिलने पर व्याकरणादि शास्त्र एवं मनुस्मृति के राज-धर्म विषयक सातवें अध्याय का अभ्यास करे, परन्तु शतरंज, हास्य-विनोद आदि में मूर्खों की भाँति समय व्यर्थ न करे।[52]

उदयपुराधीश श्री सज्जन सिंह को लिखे दिन-चर्या से सम्बन्धित पत्र में दयानन्द का निर्देश है कि प्रातः दश बजे भोजन करने के पश्चात् चार बजे मध्याह्नोत्तर तक राज-कार्य करके पन्द्रह मिनट तक विश्राम कर सवा पाँच बजे तक राज्य-प्रबन्धार्थ सम्बन्धित राज-प्रजास्थ जनों से विचार करें। ग्रीष्मकाल में आठ बजे रात्रि तक भोजनोपरान्त भ्रमण एवं उपासना से निवृत्त हो और शीतकाल में पाँच से सात बजे तक भ्रमण-उपासना से निवृत्त होकर साढ़े सात बजे तक भोजन कर लें। तदुपरान्त, पन्द्रह मिनट तक किसी से बात न करें, अपितु लघुशंका कर हस्त-मुख प्रक्षालन करके ताम्बूल-भक्षण करने के उपरान्त शत पद घूम के थोड़ा उत्तान, दक्षिण और बाम पार्श्व से लोट कर उठ बैठें। इसके पश्चात् पौने आठ से नौ बजे तक रात्रि तक दूत द्वारा स्वदेश, स्वनगर, परदेश एवं पर-राज्य का समाचार श्रवण कर दूत को स्व-कार्य सिद्धि के लिए आज्ञा दें। नौ से दश बजे तक आय-व्यय का वृत्तान्त सुन, अगले दिन के लिए यथोचित प्रबन्ध करने के पश्चात् आधे घण्टे में उपस्थित इष्ट-मित्र या मन्त्री आदि को सहर्ष विदाकर, दश या साढ़े

दश बजे रात्रि तक एकान्त में शयनार्थ अवश्य चला जावें और उसी समय परमेश्वर को धन्यवाद दें कि, "हे परमेश्वर, आप की कृपा से गत अहो-रात्र जैसा आनन्द पूर्वक बीता, वैसे अग्रस्थ अहो रात्र भी आनन्द पूर्वक व्यतीत होवे।"[53] महर्षि ने सज्जन सिंह को इसी पत्र में 'विशेष नियम'[54] तथा अन्य एक पत्र द्वारा कुछ 'रहस्य-नियम'[55], जोधपुर के राजा यशवन्त सिंह को 'गुप्त समाचार'[56] तथा झालावाड़ के राजा राणा जी को भी एक पत्र लिखकर[57] राज्य-कार्य सम्बन्धी दिन-चर्या के अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन, सामाजिक व्यवस्था, स्व-पत्नी से सम्बन्ध तथा सन्तानोत्पत्ति आदि के विषय में भी उपयोगी सुझाव एवं परामर्श दिया है।

दिन-चर्या के उपयुक्त नियमों के सूक्ष्म अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि दयानन्द राजा को अहर्निश परम लक्ष्य की प्राप्ति-हेतु व्यस्त रखना चाहते थे; जिससे उसमें लेशमात्र भी विकार उत्पन्न न हो सके और उसे हास-परिहास तथा भोग विलास के लिए समय ही न मिले। वस्तुतः महर्षि का अभीष्ट था कि राजा पूर्णरूपेण प्रजा-हित में दत्तचित्त होकर समर्पित रहे।

निष्कर्ष :

राजा की योग्यता, चयन, राज्याभिषेक, राज्य- काल, पदच्युति, शिक्षा एवं दिन-चर्या के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द के समस्त मन्तव्यों के अध्ययनोपरान्त यह तथ्य परिलक्षित होता है कि उनका दृष्टिकोण सर्वथा जनहितकारी एवं लोकोपयोगी था। वे जनता की सम्प्रभुता में विश्वास करते थे। उनका मत था कि राजा का पद अत्यन्त योग्य, समर्थ और लोक-रञ्जन में समर्पित व्यक्ति को ही प्रजा की सहमति और स्वीकृति से प्राप्त होना चाहिए। राजा की शिक्षा-दीक्षा राज-धर्म की मर्यादाओं के अनुकूल हो जिससे कि वह एक आदर्श राजा की संकल्पना को चरितार्थ करे। महर्षि के आदर्श राज्य का आदर्श राजा नियम बद्ध होकर तथ-बृद्धि में निरन्तर तत्पर रहे। यदि वह राष्ट्र-हित और परम लक्ष्य

के मार्ग से च्युत होकर वेद-विरुद्ध आचरण करता है, तो प्रजा शीघ्र ही उसे अपदस्थ कर दे। राजनीतिक-दर्शन की भाषा में महर्षि का यह चिन्तन प्रजातान्त्रिक आदर्शवाद की पराकाष्ठा हैं। ब्रिटिश भारत में स्वराज्य की अवधारणा को कार्य रूप प्रदान करने के लिए, वस्तुतः महर्षि की यह (राजा विषयक) एक दूरदर्शी एवं देश, काल तथा परिस्थिति-जन्य संकल्पना है। महर्षि की अभिलाषा थी कि इस प्रकार के आदर्श राजा के होने पर ही देश की स्वतन्त्रता, प्रजा का हित तथा राष्ट्र का कल्याण सम्भव है। आज के परिवेश में, मेरा यह ध्रुव विश्वास है कि दयानन्द के राजा सम्बन्धी विचारों के अनुपालन और समादर में ही भारतवर्ष का ही नहीं, अपितु विश्व का कल्याण निहित है।

पाद टिप्पणियाँ :

1. स० प्र० पृ० 94
2. ऋ० भा०—3.54.11, 4.6.2; यजु० भा० 6.32
3. ऋ० भा० 3.45.3; यजु० भा० 35·18
4. ऋ० भा० 6.3.8
5. ऋ० भा० 3.35.6
6. ऋ० भा 1.43.5
7. स० प्र०—पृ० 93 (मनु० 7.4.7.6.7)

   "वह सभेश राजा इन्द्र अर्थात् विद्युत् के समान शीघ्र-ऐश्वर्यकर्त्ता, वायु के समान सबके प्राणवत् प्रिय और हृदय की बात जानने हारा, यम पक्षपातरहित न्यायाधीश के समान वर्तनेवाला, सूर्य के समान न्याय, धर्म, विद्या का प्रकाशक अन्धकार अर्थात् अविद्या अन्याय का निरोधक, अग्नि के समान दुष्टों का भस्म करने हारा, वरुण अर्थात् बाँधने वाले के सदृश दुष्टों को अनेक प्रकार से बाँधने वाला, चन्द्र के तुल्य श्रेष्ठ पुरुषों को आनन्ददाता, धनाध्यक्ष के समान कोशों का पूर्ण करने वाला ..... सूर्यवत् प्रतापी.....और जो अपने प्रभाव से अग्नि, सूर्य, वायु, सोम,

धर्मप्रकाशक, धनवर्द्धक दुष्टों का बन्धनकर्त्ता, बड़े ऐश्वर्य वाला होवे, वही सभाध्यक्ष सभेश होने के योग्य होवे।"

8. स० प्र०—पृ० 82; सं० वि० पृ० 228; पूना-प्रवचन पृ० 279-282
9. ऋ० द० स० के प० और वि० भाग 2, पृ० 659
10. स० प्र०—पृ० 95 (मनु० 7.43)
11. सं० वि – पृ० 218; स० प्र० पृ० 60; ऋ० भा० भू०—पृ० 111-112; शा० और प्र०—पृ० 368
12. स० प्र०—पृ० 115; पत्र-विज्ञापन भाग 2, पृ० 635 तथा 745
13. स० प्र०—पृ० 95 (मनु० 7.45, 46, 47, 48, 49)
14. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन सं० 10) पृ० 409-410
15. व्य० भानु—पृ० 57-58
16. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 744-747
17. वही पृ० 780-781
18. स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती दिव्य—दयानन्द पृ० 44
19. ऋ० द० स० के प० और वि०-भाग 2 पृ० 630 (दिनचर्या में नियम सं० 22)
20. वही – पृ० 797 (उपदे० सं० 4 तथा 11)
21. ऋ० भा० —1.31.10, 1.31.11,12,15, 1.36. 14, 17, 18, 1.37.7, 1.38.4, 1.54.11, 1.59.4, 1,63.7, 1.77.3, 1.80.11, 1.144.6, 1.72.3, 3.1.18 तथा यजु० भा०—5.30, 7.29, 7.30, 9.21, 9.40 इत्यादि मन्त्रों में राजा के लिए निर्वाचित सभापति या सभाध्यक्ष शब्द का प्रयोग मिलता है।
22. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन सं० 9) पृ० 372
23. राजा के प्रजा द्वारा चयन के प्रमाण :

ऋ० भा०—1.61.2—"मनुष्यों को उचित है कि पहले परीक्षा किए हुए पुरुष को सभा का अधिपति करें.....।"

ऋ० भा० 4.30.1—" हे मनुष्यों ! जो सबसे श्रेष्ठ होवे उसी को राजा करो।" ऋ० भा० 5.35.4—"प्रजाओं को चाहिए कि जो

बलवान ..... उसी का राजा मानें। यजु० भा० 7·36 प्रजाजनों को योग्य है कि जो सर्वोत्तम, विद्याओं में निपुण .....उसको सभा के मुख्य काम में स्थापना करें.....।" इसी प्रकार यजु० भा० 3.23. 12.11, 33.16 आदि मन्त्र द्रष्टव्य हैं।

24. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन सं० 10) पृ० 410
25. हेनरी फोरमैन—दि आर्य समाज (इट्स टीचिंग एण्ड इस्टीमेट ऑफ इट) पृ० 143
26. स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती (सं०) म० दयानन्द निर्वाण शती-स्मृति ग्रन्थ पृ० 143 (डॉ० शान्ति देव दाला का लेख)
27. ऋ० भा० भू०—पृ० 253
28. वही वही पृ० 247
29. स० प्र०—पृ० 86 (मनु० 6.97)
30. स० प्र०—पृ० 82 (मनु० 6.2)
31. यजु० भा० 9.21
32. सं० वि०—पृ० 192 (मनु० 7.49)
33. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन सं० 9) पृ० 375
34. स० प्र० पृ० 91 (मनु० 7.2)
35. आर्योद्देश्य०—पृ० 3
36. चार वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, सामवेद।
    आर उपवेद—आयुर्वेद, धनुर्वेद (शस्त्रास्त्र एवं राज-विद्या), गन्धर्व वेद और अर्थवेद; छह वेदांग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष; छह शास्त्र—मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त।
37. स० प्र०—47
38. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 634, 641, 659, 663, 669, 689,690, 692, 694, 713
39. भवानीलाल भारतीय—नवजागरण के पुरोधा० पृ० 487
40. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 781

41. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन सं० 10) पृ० 410 "देखो ! भीष्म को, विदुर को (और युधिष्ठिर को) बहुत भाषाएँ आती थीं.....।"
42. प्लेटो—दि रिपब्लिक पृ० 263
43. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 723
44. वही—पृ० 617-618
45. स० प्र०—पृ० 68
46. ऋ० द० स० के प० और विज्ञापन भाग 2, पृ० 783
47. वही—भाग 1, पृ० 37
48. यजु० भा० 13.55
49. स० प्र०—पृ० 97 (मनु० 7.78)
50. वही—पृ० 103 (मनु० 7.145)
51 वही—पृ० 103 (मनु० 7.146, 147)
52. ऋ० द० स० के प० और वि० भाग 2, पृ० 754
53. वही—पृ० 627-628
54, वही—पृ० 628-633
55. वही—पृ० 757-758
56. वही—पृ० 780-782
57. वही—पृ० 797-798

—: ० :—

अध्याय 6

: सभा :

भारतीय राजनीतिक चिन्तन में वैदिक काल से ही राज्य-कार्यों के सफल संचालन में परामर्श एवं सहयोग देने तथा राजा की निरंकुशता को नियन्त्रित करने के लिए 'सभा' एवं समिति नामक संस्थाओं का अस्तित्व रहा है। परन्तु, सभा एवं समिति के अर्थ तथा कार्यों आदि के विषय में पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों में मतैक्य का अभाव है। हैलीब्रैण्ड के अनुसार 'समिति' वैदिक आर्यों की एक संस्था थी तथा इसके अधिवेशन के स्थान अथवा भवन को 'सभा' की संज्ञा दी गई है। जिम्मर तथा भारतीय विद्वान् उल्तेकर ने 'सभा' को ग्राम की सभा तथा 'समिति' को केन्द्रीय संस्था स्वीकार किया है। परन्तु, के० पी० जायसवाल ने 'समिति' को वैदिक आर्यों की राष्ट्रीय संस्था तथा 'सभा' को समिति की स्थायी उपसमिति कहा है।[1] इसी प्रकार ग्रिफिथ ने 'सभा' को 'ग्रामवासियों का जमाव' तथा 'समिति' को याज्ञिक अथवा धार्मिक प्रयोजन हेतु 'लोगों का एकत्र होना' स्वीकार किया है।[2] इसी प्रकार, अन्य विभिन्न विद्वानों ने भी सभा एवं समिति का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में किया है। परन्तु उपर्युक्त मत-वैभिन्य के होते हुए भी यह निर्विवादित है कि सभा तथा समिति का प्रयोग राज्य-प्रशासन अथवा राजा की सहयोगी संस्था के रूप में ही किया गया है।

(i) सभा का अर्थ :

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने राजनीतिक दर्शन में 'सभा' एवं 'समिति' विषयक उपर्युक्त समस्त मतों को अस्वीकार करते हुए यह संकेत किया है कि सभा एवं समिति का स्वरूप प्रतिनिधि-आत्मक रहा

होगा तथा इन्हीं के द्वारा राज्य की नीतियों का निर्धारण एवं क्रियान्वयन किया जाता रहा होगा। महर्षि ने सभा की परिभाषा करते हुए बताया है कि सभा सत्यासत्य के निर्णय के लिए प्रकाशवान संस्था का नाम है।[3] उन्होंने महाभारत कालीन राजनीतिक व्यवस्था का उदाहरण देते हुए पूना के एक प्रवचन में बताया कि. "उस समय देश में भिन्न-भिन्न जाति (प्रकार) की सभाएँ थीं। उनमें राजार्य सभा ही मुख्य थी और धर्म-सभा अर्थात् परिषद् भी स्थल-स्थल पर होती थी .....महाभारत के अन्तर्गत सभा पर्व में भिन्न-भिन्न सभाओं का वर्णन किया हुआ है, उन्हें देखो।"[4] महर्षि के इस कथन से स्पष्ट है कि इन विभिन्न सभाओं का सम्बन्ध राज्य के शासन-प्रशासन से ही था। महाभारत के सभा-पर्व में इन्द्र-सभा, यम-सभा, वरुण-सभा, धनद-सभा तथा ब्रह्म-सभा आदि का वर्णन मिलता है, जिसमें राजार्य सभा अर्थात् जिसका सम्बन्ध सीधे प्रशासन से ही था, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थी।

(ii) सभा के प्रकार :

सभा के प्रकार के सम्बन्ध में ऋग्वेद के मन्त्र 3.38.6 में 'त्रीणि राजान् विदथे पुरूणि.....' द्वारा राज्य-शासन-हेतु तीन सभाओं का संकेत किया गया है। परन्तु सभा और समिति के अतिरिक्त वह तीसरी सभा कौन है, दयानन्द के अतिरिक्त किसी अन्य विद्वान् ने स्पष्ट नहीं किया है। आचार्य प्रियव्रत ने तीसरी सभा के रूप में 'मन्त्रिपरिषद्' या राज्य की कार्यकारिणी-सभा की कल्पना की है।[5] परन्तु, स्वामी दयानन्द ने स्पष्टतः तीन प्रकार की सभाओं का उल्लेख कर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। अथर्ववेद के मन्त्र 15 2.9.2 "तं सभा च समितिश्च सेना च" की व्याख्या करते हुए महर्षि ने लिखा है कि, "उसे राज-धर्म की तीनों सभा संग्रामादि की व्यवस्था और सेना मिल-कर पालन करें।"[6] इसी को अधिक स्पष्ट करते हुए ऋग्वेद के मन्त्र 3.3.86 "त्रीणि राजान् ....." की व्याख्या महर्षि ने इस प्रकार की है—"राजा और प्रजा के पुरुष मिलके सुख-प्राप्ति और विज्ञान वृद्धि-

कारक राजा-प्रजा के सम्बन्ध रूप व्यवहार में तीन सभा अर्थात् विद्यार्य-सभा, धर्मार्यसभा, राजार्यसभा नियत करके बहुत प्रकार के समग्र प्रजा सम्बन्धी मनुष्यादि प्राणियों को सब ओर से विद्या स्वातन्त्र्य, धर्म, सुशिक्षा और धनादि से अलंकृत करें।"[7] इस व्याख्या में ऋषि ने स्पष्ट रूप में तीन प्रकार की सभाओं के संगठन, उद्देश्य तथा कार्यों की ओर संकेत कर दिया है। महर्षि के प्रायः समस्त ग्रन्थों, प्रवचनों तथा पत्रों-विज्ञापनों में इन तीनों सभाओं का उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु कतिपय स्थलों पर महर्षि ने 'सभा' शब्द के साथ 'आर्य' अथवा 'समाज' शब्द प्रयुक्त किया है।[8] इस प्रकार स्पष्ट है कि महर्षि ने 'सभा' एवं 'समिति' शब्दों के अर्थ एवं कार्यों को ही सुस्पष्ट नहीं किया है, अपितु इनका प्रयोग सर्वव्यापक राजनीतिक अर्थों में किया है।

(iii) सभा का महत्त्व :

महर्षि ने सभा के अर्थ एवं भेद बताने के साथ ही साथ उसकी महत्ता और उपयोगिता पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। उनका स्पष्ट मत है कि, "क्षत्रिय-वर्ण के राज्य का कारण और जीवन सभा ही है।"[9] इसलिए "जैसे सूर्य के योग से प्राणधारी अपने-अपने कर्म में वर्तते हैं और सब भूगोल अपनी-अपनी कक्षा में यथावत् भ्रमण करते हैं, वैसे ही सभा से प्रशासन किए राज्य के संयोग से सब मनुष्यादि प्राणिधर्म के साथ अपने-अपने व्यवहार में वर्त के सन्मार्ग में अनुकूलता से गमनागमन करते हैं।"[10] यही नहीं, अपितु "……जैसे नदी समुद्र वा अन्तरिक्ष को प्राप्त होकर स्थिर होती है, वैसे ही सभासदों से सहित विद्वान् को प्राप्त होकर सब प्रजा स्थिर सुखवाली होती है।"[11] इन कथनों से स्पष्ट है कि सभा की उपयोगिता प्रजाहित में उसी प्रकार है, जिस प्रकार से सृष्टि के अन्तर्गत सौर मण्डल की। सभा प्रशासनिक ढाँचे का प्राण है।

महर्षि ने सभा को एक महत्त्वपूर्ण उपादेयता उसके द्वारा राजा की निरंकुशता पर नियन्त्रण करना भी बताया है। उनका मत है कि सभा के अभाव में राजा निरंकुश और स्वेच्छाचारी हो कर उसी प्रकार

से प्रजा का नाश करता है, जिस प्रकार बाज पक्षी छोटी-छोटी चिड़ियाओं का, मृग-पशु यव के खेतों का अथवा मांसाहारो मनुष्य पशुओं का। इसलिए एक व्यक्ति को राजा नहीं मानना चाहिए।[12] मनुष्यों को चाहिए कि सभा और सभापतियों से ही राज्य की व्यवस्था करें (यजु० भा० 16.22) तथा जिस-जिस कर्म में सभा की आज्ञा (सहमति और स्वीकृति) राजा को मिले, उसी-उसी कार्य को करना चाहिए (ऋ० भा० 1.101.4)। इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी दयानन्द ने अपने चिन्तन में प्रशासकीय कार्य कुशलता में वृद्धि एवं स्वेच्छाचारी निरंकुश एकतन्त्रीय व्यवस्था की समाप्ति के लिए सभा की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए इस तथ्य पर विशेष बल दिया है कि सभा की सहमति एवं स्वीकृति के अभाव में राजा कोई भी कार्य न करे, क्योंकि उसके पास आदेश निर्गत करने का अधिकार नहीं है। राजा की स्थिति तो मात्र निर्वाचित सभाध्यक्ष की है।

(iv) सभासदों की संख्या :

स्वामी दयानन्द ने सभासदों को कोई निश्चित सख्या निर्धारित नहीं की है, अपितु उसे राज्य की आवश्यकता, क्षमता और देश, काल एवं परिस्थिति के आधार पर निर्धारित करने का परामर्श दिया है। एक स्थल पर उन्होंने यह संकेत दिया है कि, "राजसभा में हजार तथा ग्रामसभा में पाँच सौ सभासद् होते हैं।"[13] किन्तु अन्यत्र महर्षि ने यह लिखा है कि, "जितने सभा में अधिक पुरुष हों, उतनी उत्तमता है।"[14] उक्त दोनों कथनों से यही भासित होता है कि कार्य और आवश्यकता को देखते हुए सभासदों की सँख्या का निर्धारण किया जाना चाहिए।

महर्षि ने मनुस्मृति के श्लोक संख्या 12.110.111, 112 की व्याख्या द्वारा भी सभासदों की संख्या पर प्रकाश डाला है, जिसके अनुसार, "गृहस्थ लोग छोटे-बड़े या राज्य-कार्यों के सिद्ध करने में कम से कम दश अर्थात् ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ, सामवेदज्ञ, हैतुक (नैयायिक), तर्ककर्त्ता (मीमांसा शास्त्रज्ञ), धर्माध्यापक, ब्रह्मचारी, स्नातक और

वानप्रस्थ विद्वानों अथवा अति न्यूनता करे तो तीन वेदवित् (ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ और सामवेदज्ञ) विद्वानों की सभा से कर्त्तव्याकर्त्तव्य, धर्म और अधर्म का जैसा निश्चय हो, वैसा ही आचरण किया करें।"[16] इससे स्पष्ट है कि सभासदों की न्यूनतम संख्या तीन और दश के मध्य होनी चाहिए, अधिक हो तो उचित ही है। परन्तु, इस बात पर विशेष बल दिया जाना चाहिए कि संख्या में वृद्धि योग्यतम व्यक्तियों को सभासद बनाकर किया जाय, मूर्खों को स्थान नहीं देना चाहिए। सदस्य-संख्या में गुणवत्ता को महत्त्व प्रदान करते हुए महर्षि ने स्पष्टतः कहा है कि, "यदि एक अकेला सब वेदों का जाननेहारा द्विजों से उत्तम संन्यासी जिस धर्म की व्यवस्था करे, वही श्रेष्ठ धर्म (नियम-व्यवस्था) है, क्योंकि अज्ञानियों के सहस्त्रों, लाखों, क्रोड़ों मिल के जो कुछ व्यवस्था करें, उसको कभी न मानना चाहिए।"[16]

महर्षि के उपर्युक्त कथन से पूर्णतया स्पष्ट है कि सभा में विद्वान् वेदज्ञ व्यक्ति ही सदस्य बनें, भले ही उनकी संख्या अति न्यून (एक) ही क्यों न हो। ऋषि का यह विचार पाँचवी शताब्दी ईसा पूर्व के ग्रीक विचारक 'हेराक्लाइट्स' के इस कथन से साम्य रखता है कि "हजारों मूर्खों की अपेक्षा वह एक व्यक्ति अच्छा है, जिसने अपनी आत्मा को अग्नि (सार्वभौम जगत् के मूल तत्त्व) से संयुक्त (राग-द्वेष-मुक्त) कर दिया हो। वही व्यक्ति स्वाभाविक (प्राकृतिक) शासक है।"[17] स्पष्ट है कि महर्षि द्वारा प्रयुक्त शब्द 'संन्यासी' 'हेराक्लाइट्स का राग-द्वेष से मुक्त शासक व्यक्ति का प्रतीक है।

(v) सभासदों की अर्हताएँ :

स्वामी दयानन्द ने सभासदों संख्या-निर्धारण में ही उनके विशेष गुणों का संकेत कर दिया है। अन्यत्र भी उन्होंने सभासदों की योग्यता की ओर ध्यान आकर्षित किया है। उनका अभिमत है कि, "... ... उत्तमों को सभासद् और सभासदों में से अत्युत्तम सभापति को स्थापन्न कर राज-प्रजा के प्रधान पुरुषों की एक अनुमति से राज कार्यों को

सिद्ध करें.....।"[18] इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि राजा तथा सभासदों की अर्हता में कोई विशेष अन्तर नहीं है। राजा और सभासदों की योग्ता के विषय में ऋषि ने एक स्थल पर समवेत रूप से कहा है कि, "राजा और राजसभा के सदस्य तब हो सकते हैं, कि जब वे चारो वेदों की कर्मोपासना ज्ञान विद्याओं को जानने वालों से तीन विद्या-सनातन दण्डनोति, न्याय-विद्या, आत्म-विद्या अर्थात् परमात्मा के गुणकर्मस्वभावरूप को यथावत् जानने रूप ब्रह्म-विद्या और लोक से वार्ताओं को आरम्भ (कहना और पूछना) सोखकर सभासद् वा सभापति हो सकें।"[19] इस कथन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा और सभासदों की अर्हताएँ समान हैं। महर्षि ने राजा की ही भाँति सभासदों एवं अन्य राजकर्मचारियों को भी समस्त अठारह (दश कामज तथा आठ क्रोधज) प्रकार के दुर्व्यसनों से पृथक् रहने का निर्दश दिया है,[20] जो इस तथ्य को सम्पुष्ट कर देता है कि समस्त राजन्यवर्ग के गुण तथा दिन-चर्या एवं दुर्व्यसनों से मुक्त रहने के निर्देश एक जैसे ही हैं। यदि सामान्य जन भी तदनुकूल आचरण करें, तो उनमें भी राजत्व- प्राप्ति की क्षमता और सामर्थ्य का विकास हो जाएगा।

महर्षि ने कई स्थलों पर सभासदों-हेतु कतिपय आवश्यक गुणों का उल्लेख भी किया है जिसके अनुसार कवि, सम्पूर्ण शास्त्र का वक्ता, कुटिलता का विनाशक, दुष्टों में कठोर, श्रेष्ठों में कोमल, बल-वर्द्धक,[21] उत्तम विद्या, शिक्षा, सत्य, विनय तथा न्यायदि से सबको सुभूषित करने वाला,[22] निष्कलंक कुल-परम्परा में उत्पन्न,[23] सूर्यवत् तेजस्वी, धन-युक्त, कुलीन, पवित्र अपराधरहित, श्रेष्ठ शरीर-युक्त, विद्या और अवस्था में वृद्ध तथा एक धर्मनिष्ठ व्यक्ति को[24] सभासद बनाना चाहिए। अन्यत्र पृथक्-पृथक् सभाओं में भिन्न-भिन्न गुण-धारकों को सदस्य बनाने का परामर्श देते हुए महर्षि ने लिखा है कि, "महाविद्वानों को विद्या सभाधिकारी, धार्मिक विद्वानो का धर्मसभाधिकारी तथा प्रशसनीय धार्मिक पुरुषों को राजसभा के सभसद् ..... बनाना चाहिए।"[25]

महाभारत के उद्योग पर्व के श्लोक संख्या 35·58 के उद्धरण द्वारा सभासदों की योग्यता पर प्रकाश डालते हुए दयानन्द ने लिखा है कि, "वह सभा नहीं है जिसमें वृद्ध पुरुष न होवें, वे वृद्ध नहीं हैं, जो धर्म हो की बात नहीं बोलते, वह धर्म नहीं है, जिसमें सत्य नहीं और न वह सत्य है, जो कि छल से युक्त हो।"[26] उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि महर्षि ने सभासदों की योग्यता में गुण, कर्म तथा स्वभाव की उत्कृष्टता एवं सुशिक्षा पर विशेष बल दिया है, जिससे कि सत्य और न्याय (धर्म) की स्थापना हो सके।

महर्षि सभा में मूर्खों और चाटुकारों की उपस्थिति को देश के अहित का प्रमुख कारण मानते हुए महाभारत के प्रसंग से एक प्रवचन में उपदिष्ट करते हैं कि, "इस (अनर्थ) का कारण इतना ही था कि ऐरे-गैरे लोगों के आधीन सम्मति देने का अधिकार चला गया और अयोग्य लोग उपदेश (परामर्श) देने लगे। जहाँ शकुनि सदृश क्षुद्रमनस्क) की सम्मति से राज्य चले और कनक शास्त्री सदृश धर्माधर्म का निर्णय करें, वहाँ घर का घर में युद्ध होकर नाश हो गया, तो इसमें आश्चर्य क्या।"[27]

सभासदों की उपर्युक्त अर्हताओं एवं दुर्गुणों आदि के विश्लेषण से यह सिद्धान्त प्रतिपादित होता है कि किसी भी स्थिति में मूख, गुण-हीन, अयोग्य तथा चाटुकार व्यक्तियों को सभा को सदस्यता नहीं प्रदान करना चाहिए। सदैव इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि राज्य-कार्यों के सहायक उत्तम, धार्मिक, विद्वान् तथा गुण, कर्म और स्वभाव में सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति हों। महर्षि निर्देशित सभासदों की अर्हताएँ आधुनिक संसद के सदस्यों-हेतु अनुकरणीय हैं। जब तक सांसदों में उच्चस्तरीय शैक्षणिक चारित्रिक, नैतिक एवं धार्मिक गुण न होंगे, वे कदापि राज्य का संचालन सुचारु रूप से नहीं कर सकेंगे।

(vi) सभासदों का चयन :

महर्षि ने तीनों सभाओं के संगठन का कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। परन्तु, उनके वेद-भाष्य एवं अन्य रचनाओं में ऐसे संकेत प्राप्त

होते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि सभासदों के चयन या मनोनयन का अधिकार महर्षि ने सामान्य जन, विद्वत् जन तथा राजा तीनों को दिया है। ऋग्वेद (3.38.6) की व्याख्या में महर्षि ने निर्दिष्ट किया है कि, "हे मनुष्यो ! आप लोग उत्तम गुण, कर्म और स्वभाव वाले यथार्थवक्ता विद्वान् पुरुषों को राजसभा, विद्यासभा और धर्मसभा में नियत कर और सम्पूर्ण राज्य-सम्बन्धी कर्मों को यथा योग्य सिद्धकर सकल प्रजा को निरन्तर सुख दीजिए।" इस कथन से सभासदों के चयन का अधिकार प्रजा को प्राप्त है, ऐसा स्पष्ट होता है।

कुछ ऐसे भी संकेत मिलते हैं, जिनके अनुसार सभासदों के चयन की प्रक्रिया में विशिष्ट वर्ग (विद्वानों) के अधिकार की पुष्टि होती है, यथा—'विद्वानों को चाहिए कि अच्छे प्रकार परीक्षा कर सभासदों और अध्यक्षों को नियत करें (ऋ० भा० 7.4.3)। पुनश्च, 'यदि मनुष्य अच्छे शिक्षित हो कर औरों को सुशिक्षित करें, उनमें से उत्तमों को सभासद् और सभासदों में से अत्युत्तम को सभापति स्थापन कर..... ...(यजु० भा० 29.19)। महर्षि ने उदयपुर के महाराणा श्री सज्जन सिंह को एक पत्र में निर्देशित किया कि, "इन समाजों (सभाओं) में राजपुरुष और प्रजा-पुरुष नियत रहें। राजपुरुष राजोन्नति और प्रजा-पुरुष प्रजा की वृद्धि में यत्न करें।"[28] अर्थात् सभाओं में दो प्रकार के सदस्य हों, एक राजपुरुष, दूसरा प्रजा-पुरुष। राज-पुरुष राजा द्वारा चयनित या मनोनीत होंगे तथा प्रजापुरुषों का चयन प्रजा करेगी। सभा के गठन में, स्पष्ट है कि किसी न किसी रूप में प्रजा को अधिकार अवश्य दिया गया है।

(vii) सभासदों द्वारा शपथ-ग्रहण :

महर्षि का अभिमत है कि गुण, कर्म तथा स्वभाव की श्रेष्ठता के आधार पर तीनों सभाओं के सभासदों के चयनित अथवा नामित होने के पश्चात् उनके द्वारा पद ग्रहण के पूर्व उन्हें पद और गोपनीयता के साथ ही साथ उत्तरदायित्व-निर्वहन-हेतु शपथ-ग्रहण करना अनिवार्य होगा।

महर्षि ने यह व्यवस्था दी है कि, "..... कुलीन विद्वानों को सभा में स्थित करें तथा वहाँ स्थापन समय में शपथों से आप लोग अन्याय को कभी मत करो, ऐसा प्रलम्भन करावें।"[29] शपथ-ग्रहण करते समय सभासद्गण ईश्वर से यह प्रार्थना करें कि, "हे सभा के योग्य परमेश्वर, आप हम लगों की राजसभा की रक्षा कीजिए। हमलोग जो सभा के सभासद् हैं, सो आपकी कृपा से सभ्यतायुक्त होकर अच्छी प्रकार से सत्य-न्याय को रक्षा करें। हे सबके उपास्य देव, हम लोग आप ही के सहाय से आपकी आज्ञा का पालन करते रहें, जिससे सम्पूर्ण आयु को सुख से भोगें।"[30] स्पष्ट है, कि महर्षि ने वर्तमान् व्यवस्था की ही भाँति कार्य-भार ग्रहण करने के पूर्व सभासदों को ईश्वरीय आज्ञा (वेद-संविधान) के अनुकूल आचरण करने, सत्य एवं न्याय की स्थापना करने तथा सभ्यतापूर्वक कार्य करने की शपथ-ग्रहण की आवश्यकता को स्वीकृति देकर एक स्वस्थ प्रजातान्त्रिक मानसिकता का परिचय दिया है।

(viii) सभा की कार्य-विधि :

स्वामी दयानन्द के चिन्तन में सभा की कार्यवाही का लगभग वही स्वरूप प्राप्त होता है, जो वर्तमान समय में संसदीय प्रजातन्त्र की कार्य-वाही का है। उनके अनुसार सभा (संसद—जिसके तीन सदन हैं) ही शासन की सर्वोच्च इकाई है। राजा (राष्ट्राध्यक्ष) सभा की सहमति एवं स्वीकृति से ही कार्य करने के लिए बाध्य है, क्योंकि उसकी स्थिति मात्र सभाध्यक्ष की ही है। वह सभासदों (सांसदों) के साथ समयानुकूल विचार-विमर्श द्वारा सत्यासत्य के निर्णय के पश्चात् ही कोई भी कार्य सम्पादित कर सकता है। महर्षि ने राजा को निर्देश दिया है कि "..... तू भी धार्मिक विद्वानों के उपदेश के अनुकूल होकर राज-धर्म का सेवन करता रह।"[31] पुनश्च, "राजा को मूर्ख अर्थात् अनाप्त के कहने में विश्वास और विद्वानों के कथन में अश्रद्धा कभी न करनी

चाहिए।"[32] इन दोनों कथनों से स्पष्ट है कि राजा किसी भी परिस्थिति में सभा के परामर्श की उपेक्षा (अश्रद्धा) नहीं कर सकता है।

(क) सभा में प्रवेश :

महर्षि के अनुसार राजा और सभासद्, सभा में प्रवेश करते समय ही सत्य के पक्ष-ग्रहण का निर्णय लें। वे अभिमान न रखें और अपने को बड़ा भी न मानें, अपितु उनकी बात का कोई खण्डन भी करे, तो उस पर क्रुद्ध या अप्रसन्न न हों।[33] सभा में धर्म के विजय और अधर्म के पराजय के प्रजाओं को आनन्दित करें।[34] सभा में सत्य-भाषण ही करे, क्योंकि सभा में बैठा हुआ भी असत्य बात को सुन कर मौन रहे अथवा सत्य के विरुद्ध बोले, तो वह मनुष्य अतिपापी है।[35]

(ख) कार्यवाही-हेतु आवश्यक कोरम (गणपूर्ति) :

किसी भी सभा की कार्यवाही के प्रारम्भ होने के लिए कोरम की आवश्यकता एक संसदीय अनिवार्यता है। सामान्यतः प्रजातान्त्रिक देशों में यह सदन के सम्पूर्ण सदस्यों की 1/10 (अर्थात् दशवाँ हिस्सा) होती है। स्वामी दयानन्द ने भी अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए कार्यवाही के प्रारम्भ होने के लिए कम से कम तीन सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक मानते हैं। इस सन्दर्भ में पूना के एक प्रवचन में ऋषि ने कहा था कि, "……दश विद्वानों के विराजे बिना परिषद् सभा नहीं होती थी और न्यून से न्यून तीन विद्वानों के आए बिना तो सभा का काम चलता ही न था।"[36] स्पष्ट है कि सभा की गणपूर्ति-हेतु न्यूनतम तीन सभासदों की उपस्थिति अनिवार्य है।

(ग) निर्णय-प्रक्रिया :

निर्णय-प्रक्रिया के अन्तर्गत सभा में सत्यासत्य का समान रूप से विचार होना चाहिए। उसमें किसी प्रकार का विरोध न हो। एक दूसरे के विचार (मन्त्र) पृथक्-पृथक् सुन कर धर्मयुक्त एवं सर्वहित कारक निर्णय को स्वीकार किया जाय, जिससे कि सम्पूर्ण प्रजा का सुख

निरन्तर बढ़ता रहे।[37] विचार-सभाओं में प्रवृत्त राजवर्गीय जनों से दो, तीन या बहुमत से सभासद् मिलकर अपने विचार से जो निर्णय (धर्म-युक्त) लं उसी के अनुकूल राज-पुरुष और प्रजा-पुरुष जन अपना व्यवहार करें।[38] राजा को चाहिए कि वह प्रत्येक सभासदों का पृथक्-पृथक् विचार सुन कर बहुमत के आधार पर, जो अपना और दूसरे का भी हितकारक कार्य हो, वही करे।[39] यदि सभा में किसी बिन्दु पर मतभेद हो, तो बहुपक्षानुसार माने और समपक्ष में उत्तमों की बात स्वीकार करे। यदि दोनों पक्ष वाले उत्तम हों, तो वहाँ संन्यासियों (तटस्थों) को की सम्मति ले, जिधर पक्षपात रहित, सर्वहितैषी संन्यासियों को सम्मति हो, वही उत्तम समझना चाहिए।[40] उक्त प्रक्रिया से स्पष्ट है कि राजा को सभा में अच्छी प्रकार विचार-विमर्श करके बहुमत, गुणवत्ता, जनहित एवं अन्ततः संन्यासियों को सहमति से निर्णय लेना चाहिए।

(घ) निर्णायक मत एवं जनमत-संग्रह :

निर्णय करते समय कभी-कभी ऐसा भी परिस्थिति आ जाती है कि किसी बिन्दु पर समान मत पड़ते हैं। ऐसी परिस्थिति में संसदीय व्यवस्था में प्रायः निर्णायक मत (कास्टिंग वोट) का अधिकार सभाध्यक्ष को दिया गया है। महर्षि ने भी इस व्यवस्था का अनुमोदन किया है। उनका मत है कि—यदि सभा के विचार में दो पक्ष आ पड़े (अर्थात् बराबर मत हो) तो उस स्थल पर 'निर्णायक मत' अध्यक्ष (राजा) का होगा।[41]

विश्व के विभिन्न देशों (स्विट्जरलैण्ड, रूस आदि) में महत्त्वपूर्ण निर्णयों एवं नीतियों के निर्धारण में जनमत-संग्रह की व्यवस्था है। ऋषि ने अपने अप्रतिम प्रातिभ शक्ति एवं प्रजातन्त्रीय मानसिकता का परिचय देते हुए यह व्यवस्था दी है कि—"वह आज्ञा जो कि प्रजा के साथ सम्बन्ध रखती हो, सब में प्रजा को सम्मति लेवे और सर्वत्र प्रसिद्ध

करके गुण-दोष समझे। पश्चात् गुणाढ्य नियमों को नियत और दोष-युक्तों का त्याग करें।"[42]

सभा की कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में महर्षि के समस्त निर्देशों से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि दयानन्द की सभा, किसी भी रूप में आधुनिक प्रजातान्त्रिक राज्यों की संसदों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। सभा की कार्य-विधि में बहस, बहुमत-निर्णय, निर्णायक मत, गण-पूर्ति आदि के सिद्धान्त स्पष्टतः प्रतिपादित किए गए हैं। महर्षि ने निर्णय-प्रक्रिया में मतभेद अथवा उत्तम जनों के मतवैभिन्य की स्थिति में 'संन्यासियों' की सम्मति स्वीकारने का निर्णय देकर, स्पष्टतः लोकमत के अनुसार निर्णय के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वास्तविक लोकमत बहुमत अथवा सर्वसम्मत का निर्णय नहीं होता है, अपितु लोकमत में विवेक एवं सर्वजन-कल्याण की भावना का निहित होना परमावश्यक है। वीतरागी, विवेकवान्, निष्पक्ष एवं विद्वान् संन्यासी ही इस प्रकार का धर्म एवं सत्य पर आधारित मत व्यक्त कर सकता है। यह व्यवस्था देकर महर्षि ने आधुनिक संसदीय कार्य-प्रणाली एवं उसके दलीय अनुशासन के आधार पर हुए बहुमत-निर्णय के सिद्धान्त के विरुद्ध एक तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त कर अपने राजनीतिक दर्शन की मौलिकता का प्रमाण दिया है। महर्षि ने सभा के निर्णयों पर प्रजा की सहमति को अनिवार्यता घोषित कर प्रत्यक्ष प्रजातन्त्रीय परम्परानुसार जनमत-संग्रह के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान कर अपनी दूरदर्शिता, मौलिकता तथा जनतान्त्रिक विचारधारा का परिचय दिया है। ब्रिटिश साम्राज्य के लौह पाश से आबद्ध भारत के ऋषि का यह प्रजातन्त्रीय चिन्तन उसके क्रान्तिकारी व्यक्तित्व का पुष्ट प्रमाण है।

(ix) तीनों सभाओं के कार्य :

महर्षि के चिन्तन में राजा प्रत्येक कार्य सभा के सहयोग, परामर्श एवं संस्तुति के अनुसार ही करने के लिए बाध्य है। अतः, उसके द्वारा

निष्पादित समस्त कार्य (राज्य के कार्य) सभा के कार्य माने जाएँगे। दयानन्द का मत है कि 'राज्य के प्रकाश का धारण करना सभा ही का काम है, और उसी सभा का नाम राजा है।'[43] दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि वास्तविक शक्ति सभा में निहित है, राजा में नहीं। महर्षि ने सभा के कार्य को बताते हुए लिखा है कि, " .... जैसे कोई मनुष्य बोझ उठा के पर्वत पर ले जाता है, वैसे ही सभा भी राज्य को उत्तम सुख को प्राप्त करा देती है।[44] यहाँ उत्तम सुख का तात्पर्य प्रजा के समस्त लौकिक एवं पारलौकिक सुख से है। अर्थात् सभा का कार्य मानव के पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति-हेतु प्रयास करना है। इसके लिए सभा राजा को कर्त्तव्य-बोध कराती रहेगी।

महर्षि ने समवेत रूप में तीनों सभाओं का कार्य धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति बताते हुए,[45] उनके पृथक्-पृथक् कार्यों का भी संकेत अपने ग्रन्थों में यत्र-तत्र किया है, जिसमें राजसभा का प्रमुख कार्य शासन-व्यवस्था का संचालन एवं शान्ति की स्थापना करना, विद्यासभा का कार्य शिक्षा-व्यवस्था तथा धर्मसभा का कार्य धर्म की स्थापना एवं अधर्म का नाश करना है। इसी तथ्य पर प्रकाश डालते हुए ऋषि ने यजुर्वेद के मन्त्र (7.45) के भाष्य में लिखा है कि, '.....धार्मिक सभ्य जनों की तीन सभा होनी चाहिए। उनमें से एक, राजसभा जिसके आधीन राज्य के सब कार्य चलें और सब उपद्रव निवृत्त रहें, दूसरी विद्यासभा—जिससे विद्या का प्रचार अनेक विधि किया जावे और अविद्या का नाश होता रहे और तीसरी, धर्मसभा—जिससे धर्म की उन्नति और अधर्म की हानि निरन्तर की जाय.....।" स्पष्ट है कि तीनों सभाओं के कुछ विशिष्ट कार्य-क्षेत्र हैं, जिनमें अलग-अलग रूप में उन्हें कार्य करना है। तथापि तीनों सभाओं का परम लक्ष्य पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति-हेतु प्रयास करना है। तीनों सभाओं के कार्यों का पृथक्-पृथक् उल्लेख अधोनिर्दिष्ट है—

(क) राजार्य सभा के कार्य :

स्वामी दयानन्द ने राजार्य सभा को अन्य सभाओं की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। इसका सर्वप्रमुख कार्य राज्य के शासन-प्रशासन का संचालन तथा शांति एवं सुव्यवस्था बनाए रखना है। राजा इसी सभा का अध्यक्ष होता है। उसी की अध्यक्षता में सम्पूर्ण कार्यों का सम्पादन होगा। इस सभा के प्रमुख कार्य निम्नांकित हैं:

1—राजा के निर्वाचन में सभी सभाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, परन्तु राजसभा के सदस्यों को विशेष निर्देश देते हुए महर्षि ने लिखा है कि, "राजसभा के सभासद् भी वेदज्ञ विद्वानों की आज्ञा का उल्लंघन न करें। जो सब गुणों में उत्तम हो, उसी को सभापति करें.....।"[46]

2—राजा और राजसभा राज्य-कार्य की सिद्धि के लिए ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे राज्य-कार्य यथावत् सिद्ध हो।[47]

3—राजा और राजसभा अलब्ध की प्राप्ति की इच्छा, प्राप्त की प्रयत्न से रक्षा, रक्षित की वृद्धि और बढ़े हुए धन को वेद-विद्या, धर्म-प्रचार, विद्यार्थी, वेदमार्गोपदेशक तथा असमर्थ-अनाथों के पालन में लगावें।[48]

4—राजा तथा राजसभा राज्य और प्रजा के हित को ध्यान में रखते हुए राज्य में कर स्थापना करे।[49]

5—राजसभा ऐसा प्रबन्ध करे, जिससे यथावत् प्रजापालन द्वारा इच्छित सुख (धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष) की प्राप्ति हो।[50]

6—राजसभा का कार्य है कि वह राजादि को दुर्व्यसनों से पृथक् कर सुशीलता को प्राप्त कराके ऐश्वर्य की वृद्धि-हेतु प्रवृत्त करे।[51]

7—राजसभा आवश्यकतानुसार राज्य-कर्मचारियों की नियुक्ति एवं उनके दायित्वों (कार्यों) का विभाजन करे।[52]

8 - राजसभा शिल्पियों एवं उपदेशकों को दुख से पार पहुँचाकर (उनका

भली-भाँति भरण-पोषण एवं संरक्षण कर) उन्हें निरन्तर आनन्दित करे।[53]

9—राजसभा न्याय-कार्य में पक्षपात न करे, क्योंकि "जब राजसभा में पक्षपात से अन्याय किया जाता है, वहाँ अधर्म के चार विभाग हो जाते हैं, उनमें से एक अधर्म के कर्त्ता, दूसरा साक्षी, तीसरा सभासदों और चौथा पाद (भाग) अधर्मी सभा के सभापति राजा को प्राप्त होता है।[54] अतः, "जब प्रजाजन सभा के बीच अपने दुख का निवेदन करें, तब उसके मन के काँटों को उपाड़ देवें··· जिससे राजपुरुष न्याय में वर्तें और प्रजाजन भी प्रसन्न हों।"[55]

10—विधि का निर्माण करना, राजसभा का एक प्रमुख कार्य है। वही सर्वोच्च विधि-निर्मात्री संस्था है। महर्षि का मत है कि, "जो-जो नियम राजा और प्रजा के सुखकारक और धर्मयुक्त समझे उन-उन नियमों को पूर्ण विद्वानों की राजसभा बाँधा करे।"[56] उल्लेखनीय है, कि मात्र राजसभा को ही विधायन का अधिकार नहीं है, अपितु तीनों सभाओं को यह अधिकार दिया गया है। महर्षि ने उदयपुर के महाराणा श्री सज्जन सिंह को एक पत्र में स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट किया है कि, "तीनों समाजों (सभाओं) के विचारानुकूल नए नियम प्रचरित किए जाँय। जो-जो आज्ञा (विधि) इन समाजों से निश्चित होकर प्रचरित की जाएँ, उनका उल्लंघन कोई भी न करे।"[57] ऋग्वेद के मन्त्र सं० 1.34.14 की व्याख्या करते हुए भी महर्षि ने लिखा है कि, "जो विद्या, धर्म वा राजसभाओं से आज्ञा प्रकाशित हो, सब मनुष्य उनका श्रवण तथा अनुष्ठान करें।" इन समस्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि विधि निर्माण की शक्ति तीनों सभाओं को समान रूप से प्राप्त है।

11—शिक्षा की समुचित व्यवस्था करना भी राजसभा का ही काय है। वह पाँच या आठ वर्ष की आयु के अपने बच्चों (पुत्र-पुत्री) को पाठशाला न भेजने वाले माता-पिता को यथोचित दण्ड दे।[58]

12—सामाजिक व्यवस्था का नियमन एवं सुचारु-संचालन का दायित्व भी राजसभा का ही है। वह इस बात का ध्यान दे कि जहाँ तक सम्भव हो बाल-विवाह, बहु-विवाह तथा व्यभिचार आदि की कुप्रवृत्तियों का समास कर ब्रह्मचर्य-सेवन तथा स्त्री-पुरुष के विद्याभ्यास के पूर्ण हुए विना विवाह न होने दे।[59]

उपर्युक्त कार्यों के प्रकाश में यह पूर्णतया स्पष्ट है कि राजसभा राजा के चयन, शांति-सुरक्षा की स्थापना, विधि-निर्माण, कर-स्थापना, न्याय, प्रजा-पालन शिक्षा एवं सामाजिक व्यवस्था आदि के नियम के साथ ही साथ राजन्य वर्ग को दुर्व्यसनों से मुक्त कर चरित्रवान् बनाने के कार्यों का भी सम्पादन करेगी।

(ख) धमार्य सभा के कार्य :

महर्षि का मत है कि धर्म का मानव-जीवन में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस संसार में एक धर्म ही सुहृद् है, जो मृत्यु के पश्चात् भी साथ चलता है, सबका संग छूट जाता है, परन्तु धर्म का संग कभी भी नहीं छूटता।[60] अतः, धमार्यसभा का दायित्व मनुष्यों को शिक्षा और उपदेश द्वारा चरित्रवान् एवं वैदिक धर्मानुयायी बनाना है। धर्मसभा ही वह संस्था है जो व्यक्ति को वास्तविक रूप में 'मनुष्य' बनाने का प्रयास करती है। दयानन्द की दृष्टि में मनुष्य वह है, जो विचार के कोई कार्य न करे।[61] जो मननशील होकर स्वात्वत् अन्यों के सुख-और हानि-लाभ को समझे तथा अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे, वही मनुष्य है।[62] स्पष्ट है, धर्म-सभा का प्रमुख कार्य मनुष्य को उसके वास्तविक अर्थों में मनुष्य बनाना है।

दयानन्द का निर्देश है कि राजा तथा प्रजा जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, परोपकारी तथा विद्वान् व्यक्ति को धर्मोपदेशक नियुक्त करे तथा उपदेशक सबको अच्छी शिक्षा और उपदेश से एक धर्म (वैदिक) में निरन्तर विरोध को छोड़ के सुखी करे।[63] धर्मसभा के उक्त कार्य से ही

वास्तविक सुख-शांति की प्राप्ति सम्भव है। महर्षि का विश्वास है कि, "जैसे सूर्य से वर्षा होकर जगत् निर्भय होता है, वैसे ही धार्मिक विद्वानों के संघ से समस्त राज्य निर्भय होता है।"[64] उल्लेखनीय है, कि धार्मिक विद्वानों के संघ का तात्पर्य धर्मार्यसभा से ही है। मानव के चरित्र-निर्माण के साथ-साथ शिल्प आदि विज्ञानों की उन्नति एवं राजसभा की ओर से न्याय-कार्य का सम्पादन करना भी इस सभा का कार्य है। इस सन्दर्भ में, अपने एक प्रवचन में महर्षि ने कहा है कि, "उपदेश के साथ ही साथ परीक्षा तथा शिल्पोन्नति—यह (धर्मार्यसभा) न्यूनाधिक के विषय में राजार्य सभा को विदित करके राजार्यसभा की ओर से दण्डादिक की व्यवस्था करती थी।"[65]

उपर्युक्त समस्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि धर्मार्य सभा का प्रमुख कार्य वैदिक धर्म की उन्नति, अधर्म की हानि, सच्चे मानव का निर्माण कर राष्ट्र एवं व्यक्ति के चरित्र का उन्नयन, न्याय, दण्ड एवं शिल्पोन्नति हेतु प्रयास करना है।

(ग) विद्यार्य सभा के कार्य :

स्वामी दयानन्द ने विद्या का प्रचार-प्रसार तथा अविद्या का नाश करना, विद्यार्यसभा का प्रमुख कार्य निर्धारित किया है। उनका मत है है कि विद्या और शिक्षा ही सभी प्रकार के सुखों का मूल है। विद्या से ही विद्वान् लोग स्वर्ग अर्थात् सुखों को प्राप्त होते हैं और शत्रुओं को जीत कर अपना मित्र बना लेते हैं।[66] अतः, जिस शिक्षा से विद्या, सभ्यता, आरोग्यता और अवस्था बढ़े, ऐसा उपाय निरन्तर किया जाना चाहिए।[67] जैसे स्त्री अपने जंघा आदि अंगों को वस्त्रों से सदा ढाँप रखती है, वैसे ही अपने सत्योपदेश, विद्या, धर्म और सुखों से प्रजा को सदा आच्छादित करें।[68]

महर्षि का अभिमत है कि विद्यार्यसभा के सदस्य शिल्पोन्नति तथा सम्पूर्ण शिक्षा-व्यवस्था का कार्य करें। विद्यार्यसभा ही पुरुष के पच्चीसवें तथा कन्या के सोलहवें वर्ष में योग्यता एवं क्षमता आदि के परीक्षण के

पश्चात् वर्ण का निर्धारण भी करे।[69] इस कथन से स्पष्ट है कि शिक्षा व्यवस्था के साथ ही साथ वर्ण-निर्धारण द्वारा सामाजिक व्यवस्था के सुचारु संचालन का गुरुतर दायित्व भी इसी सभा पर है।

निष्कर्ष :

स्वामी दयानन्द प्रतिपादित तीनों सभाओं के संगठनों, कार्य-प्रणालियों, सभासदों की अर्हताओं, सभाओं के कार्य आदि की सम्यक् समीक्षा से यह ज्ञात होता है कि ऋषि की दृष्टि अत्यन्त प्रजातान्त्रिक एवं लोक-कल्याणकारी है। आज के प्रजातान्त्रिक देशों में सभाओं (संसदों) का गठन एवं दायित्व दयानन्द की व्यवस्था की तुलना में निम्नस्तरीय प्रतीत होता है। आज के सभासदों (सांसदों) में नैतिकता एवं जीवन के उच्चतर मूल्यों आदि का सर्वथा अभाव है। मात्र भौतिक उपलब्धियों द्वारा ही संसदीय कार्य-कुशलता का आकलन किया जाता है। परन्तु, महर्षि ने तीनों सभाओं को पुरुषार्थ चतुष्टय से जोड़कर सभाओं को लौकिक एवं पारलौकिक लक्ष्यों की प्राप्ति-हेतु कार्य करने का निर्देश दिया है। महर्षि ने एक ओर सभाओं द्वारा राजा की निरंकुशता एवं स्वेच्छाचारिता को नियन्त्रित किया हैं, तो दूसरी ओर आधुनिक संसदीय प्रजातन्त्रीय व्यवस्था वाले राज्यों की कार्यपालिका के अधिनायकत्व के नियन्त्रण-हेतु सुझाव एवं परामर्शों द्वारा अनुकरणीय व्यवस्था भी दी है। उनके उपदेशों एवं निर्देशों को क्रियान्वित करने से निश्चय ही वर्त्तमान संसदीय प्रजातन्त्रीय शासन प्रणाली सफल, सुदृढ़, गरिमामय तथा वास्तविक अर्थों में लोक कल्याणकारी होगी।

पाद टिप्पणियाँ :

1. श्यामलाल पाण्डेय—वेद कालीन राज्य-व्यवस्था—पृ० 130—137
2. प्रियव्रत वेदवाचस्पति—वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त—भाग-J, पृ० 210
3. सं० वा० प्र० – पृ० 36
4. ऋ० द० स० के शा० और प्र०—(पूना-प्रवचन सं० 9) पृ० 373
5. प्रियव्रत वेदवाचस्पति—वैदिक राजनीति में राज्य की भूमिका पृ० 119

6. सा० प्र०—पृ० 21

7. स० प्र०—पृ० 91

8. सभाओं के नाम :

(i) स० वि० पृ० 226....राजसभा, धर्मसभा, विद्यासभा।

(ii) ऋ० भा० भू०—पृ० 238—आर्यराजसभा, आर्यधर्म सभा आर्य-विद्यासभा।

(iii) यजु० भा०—7.45—राजसभा, धर्मसभा, विद्यासभा।

(iv) पत्र और विज्ञापन-भाग 2—पृ० 633 राजसमाज, विद्यासमा, धर्मसमाज।

9. ऋ० भा० भू०—पृ० 239

10. ऋ० भा०—1.80.14

11. ऋ० भा०—1.52.4

12. ऋ० भा० भू०—पृ० 362—363

13. सं० वा० प्र०—पृ० 36—37

14. सं० वि०—पृ० 227

15. वही—पृ० 191; मनुस्मृति के श्लोक 12.110. 111, 112 की यही व्याख्या स० प्र०—पृ० 94 पर भी प्राप्त होती है।

16. सं० वि०—पृ० 227

17. सुखवीर सिंह—ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थॉट-भाग 1, पृ० 11

18. यजु० भा०—29.19

19. स० प्र०—पृ० 94 (मनु० 7.43)

20. वही—पृ० 94 (मनु० 7.44—52)

21. ऋ० भा० 1.51.11

22. ऋ० भा०—1.57.3

23. ऋ० भा० 1.71.5

24. ऋ० भा०—4.10.6

25. स० प्र०—पृ० 92 तथा ऋ० भा० भू०—पृ० 239

26. सं० वि०—पृ० 229

27. ऋ० द० स० के शा० और प्र०—पूना-प्रवचन सं० 12)—पृ० 412

28. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 633

29. ऋ० भा०—5.43.12

30. ऋ० भा० भू०—पृ० 247 (अथर्व० 19.7.55.6); इनके अतिरिक्त स० प्र०-पृ० 91 तथा सं० वि० पृ० 225—226 पर भी शपथ-ग्रहण का निर्देश प्राप्त होता है।

31. ऋ० भा० 1-31.13

32 ऋ० भा० 1.35.6; ऋ० शा०-28.8—"...आप सदा श्रेष्ठ पुरुषों की शिक्षा में प्रवृत्त हूजिए और जो-जो आपके लिए वे उपदेश देवें, वैसे ही करिए।" ऋ० भा० 7.18.4—"....आप हम लोगों को विद्वानों की सम्मति में वर्त्तकर राज्य शासन करें।"

33. व्य० भानु—पृ० 20

34. ऋ० भा० 3.55.12

35. स० वि०—पृ० 229 (मनु० 8.13)

36. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रनचन सं० 9)—पृ० 373

37. ऋ० भा० भू०—पृ० 101 "समानो मन्त्रः समितिः समानी....।"

38. यजु० भा०—7.32

39. स० प्र०—पृ० 96 (मनु० 7.57)

40. सं० वि०— पृ० 227

41. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना प्रवचम सं० 9)—पृ० 373

42. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 631

43, ऋ० भा० भू०—पृ० 359

44. वही—पृ० 365

45. ऋ० भा०—7.23-7—"....तीन सभा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष साधन देने वाले प्रकाशों को करती है।"

ऋ० भग०—1.44.14—".....जो सभासद् हों; वे भी पक्षपात

को छोड़कर प्रतिदिन सबके हित के लिए सब मिलकर जैसे अविद्या, अधर्म अन्याय का नाश होवे, वैसा यत्न करे....।'

46. यजु० भा० 7-35
47. स० प्र०—पृ० 101 (मनु०—7.113)
48. श० प्र०—पृ० 100 (मनु० 7.99, 101)
49. स० प्र०—पृ० 102 (मनु० 7.128.)
50. ऋ० भा० भू०—पृ० 254
51. यजु० भा० 27.8
52. ऋ० भा०—3.37.6
53. ऋ० भा०—1.118.6
54. स० प्र०—पृ० 109—110 (मनु० 8.18)
55. ऋ० भा० . 1-171.4
56. स० प्र०—पृ० 115
57. ऋ० द० त० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 633
58. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन सं० 10) पृ० 379
59. स० प्र०—पृ० 115 (विस्तृत जानकारी हेतु राज्य के कार्य के अन्तर्गत शिक्षा—व्यवस्था को देखें ।
60. सं० वि०—पृ० 229 (मनु० 8.17)
61. आर्योद्देश्य०—पृ० 7
62. स० प्र०—पृ० 405 (स्वमन्तव्य०)
63. यजु० भा० 12.59, तथा ऋ० भा० 3.54.19
64. ऋ० भा० 6.66.8
65. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन सं० 9) पृ० 373
66. ऋ० भा० भू०—पृ० 120
67. ऋ० भा०—3.19.5
68. ऋ० भा० भू० पृ० 366
69. स० प्र०—पृ० 60

—: ० :—

अध्याय 7

: शासन-संचालन के प्रमुख अभिकरण :

महर्षि के राजनीतिक दर्शन में राज्य का सर्वोपरि लक्ष्य त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ एवं काम) की प्राप्ति के साथ ही साथ मानव-जीवन के परम लक्ष्य (मोक्ष) की प्राप्ति-हेतु मार्ग-प्रशस्त करना है। इस गुरुतर दायित्व के निर्वहन के लिए महर्षि ने एक ऐसे प्रशासनिक ढाँचे का स्वरूप प्रस्तुत किया है, जिसमें शीर्ष पर राजा और सभा, उसके पश्चात् मन्त्री तथा निचले स्तर पर अन्य अधिकारी एवं कर्मचारी आते हैं। एक रूपक के माध्यम से इसी तथ्य को महर्षि ने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि, "हे राजन् वा राजपुरुष !.....जैसे प्रातःकाल का निमित्त सूर्य और सूर्य का निमित्त बिजुली, बिजुली का निमित्त वायु, वायु का कारण प्रकृति और प्रकृति का अधिष्ठाता परमेश्वर है, वैसे ही प्रजापालन निमित्ति भृत्य, भृत्य निमित्त अध्यक्ष, अध्यक्षों का निमित्त प्रधान और प्रधान का निमित्त राजा होवे।"[1] स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द ने राजा से लेकर भृत्य तक के प्रशासनिक गठन की आवश्यकता पर प्रकाश डाला है। इस प्रशासनिक व्यवस्था में एकता, समरसता, सहयोग एवं समन्वय स्थापित करने के लिए महर्षि ने पदसोपानवत् स्वरूप प्रदान किया है, जिसमें प्रत्येक अधीनस्थ पदाधिकारी अपने से ऊपर के अधिकारी तथा वह अधिकारी अपने से उच्च अधिकारी, एवं वह उच्चाधिकारी, सर्वोच्च अधिकारी के अधीन होता है तथा सर्वोच्च अधिकारी यदि नीचे के किसी अधीनस्थ कर्मचारी से सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है, तो वह सम्बन्ध स्थापित करते समय मध्य के अधिकारियों अथवा कर्मचारियों की उपेक्षा नहीं कर सकता है। इस पदसोपानवत्

व्यवस्था में प्रशासनिक संगठन की भीतर सत्ता का अवतरण, निर्देशन तथा नियन्त्रण सर्वोच्च पद से निम्नतम पद तक क्रमशः होता रहता है।

स्वामी दयानन्द ने प्रशासनिक पदसोपान-व्यवस्था में शासन का प्रमुख कार्य करने वाली संस्थाओं (अभिकरणों) के स्टाफ (अधिकारियों तथा कर्मचारियों का भी उल्लेख किया है। प्रशासनिक शब्दावली में स्टाफ का तात्पर्य सहायता या परामर्श देने वाले उन कर्मचा रयों से है, जो शासन के अभिकरणों एवं विभागों के अधिकारियों के निर्देशन में कार्य करते हैं। महर्षि ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से लिखा है कि, "हे राजन्, जो राज्य करने की इच्छा करो, तो उत्तम सहायों का ग्रहण करो।"[2] स्वामी दयानन्द ने राजा के सहायकों में चार प्रकार के अधिकारियों का उल्लेख किया है—राज्याधिकारी, सेनाधिकारी, न्यायाधिकारी और कोषाधिकारी।[3] इनके अधीन अन्य अधिकारी एवं कर्मचारी भी होंगे। इन उच्चपदाधिकारियों की नियुक्ति उत्तम पुरुषों में से ही की जानी चाहिए, जिसे धन, सेना, न्याय तथा राज्य की वर्तमान में रक्षा और भविष्यत् काल में उन्नति हो सके।[4] महर्षि ने शासन के सुचारु संचालन को ध्यान में रखते हुए यह भी स्पष्ट किया है, कि एक ही व्यक्ति के पास सभी अधिकार नहीं होने चाहिए, अपितु "आमात्य को दण्डाधिकार ..... राजा के आधीन कोश और राज्य-कार्य, सभा के आधीन सब कार्य और दूत के आधीन किसी से मेल वा विरोध करना अधिकार देवे।"[5]

उपर्युक्त समस्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि महर्षि दयानन्द ने राजा से भृत्य पर्यन्त के प्रशासनिक अभिकरणों तथा समस्त इकाइयों की महत्ता को स्वीकार किया है। ऋषि के उक्त कथनों में जिन अधिकारियो का संकेत मिलता है, उनमें राजा और सभा का विवेचन पूर्व ही किया जा चुका है तथा कोषाध्यक्ष सेनापति और न्यायाधीश का उल्लेख क्रमशः 'अर्थ-व्यवस्था', 'रक्षा-व्यवस्था' एवं 'न्याय-व्यवस्था' नामक अध्यायों में किया जायगा। शेष अन्य अधिकारियों यथा—मन्त्री,

अधिकारी एवं कर्मचारी तथा दूत के रूप में प्रशासन के तीन अभिकरणों का विवेचन ही यहाँ प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है।

(अ) मन्त्री :

स्वामी दयानन्द का मत है कि, राजा, मन्त्री और सेना के योग से राज्यकार्यों को सिद्ध कर सकता है। श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त मन्त्री और भृत्यों के साथ राजा को स्तुति को जाती है।[6] 'मन्त्री' शब्द का अर्थ बताते हुए महर्षि ने बम्बई के एक प्रवचन में कहा कि, मन्त्र अर्थात् विचार। राज मन्त्री अर्थात् विचार करने वाला।"[7] स्पष्ट है कि राज्य-कार्यों में विवेक पूर्वक विचार कर परामर्श देने वाला ही वास्तव में मन्त्री कहलाने का अधिकारी होता है

(i) मन्त्रियों की संख्या :

स्वामी दयानन्द ने मनुस्मृति के सप्तम अध्याय के श्लोक सं० 54 और 60 की व्याख्या में स्पष्ट किया है कि मन्त्रियों की संख्या सात या आठ होनी चाहिए तथा देश, काल, परिस्थिति तथा राज्य की आवश्यकता एवं क्षमतानुसार इसमें न्यूनता या वृद्धि भी की जा सकती है—"स्वराज्य स्वदेश में उत्पन्न हुए वेदादि शास्त्रों को जानने वाले, शूरवीर, जिनका लक्ष्य अर्थात् विचार निष्फल न हों और कुलीन, अच्छे प्रकार सुपरीक्षित सात वा आठ उत्तम, धार्मिक, चतुर 'सचिवान्' अर्थात् मन्त्री करे।.....अन्य भी पवित्रात्मा, बुद्धिमान्, निश्चित बुद्धि, पदार्थों के संग्रह करने में अतिचतुर सुपरीक्षित मन्त्री करें"[8]

(ii) मन्त्रियों की आर्हताएँ :

स्वामी दयानन्द ने मन्त्रियों की संख्या-निर्देश के साथ ही साथ अर्हता के सम्बन्ध में राष्ट्रीयता, कुलीनता, विद्वत्ता, चरित्र तथा देशभक्ति आदि का संकेत किया है। इसके अतिरिक्त, महर्षि ने मन्त्रियों की योग्यता में—कर न देने वालों से भी कर दिलानेवाला,[9] बल को बढ़ाने वाला, सामर्थ्ययुक्त और न्यायकारी[10], वायु और विद्युत् की भाँति

उपकारी[11] संग्राम में अति उत्साही तथा शूरतायुक्त युद्ध करनेवाला[12] आदि का होना आवश्यक बताया है।

मन्त्रियों की उपर्युक्त अर्हता से स्पष्ट होता है कि स्वामी दयानन्द प्रशासनिक पवित्रता, कर्त्तव्यपरायणता एवं राष्ट्रीय हित के प्रति अत्यन्त सतर्क थे। आज के परिवेश में इनका अनुकरण अत्यावश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि वर्तमान संसदीय प्रजातन्त्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत मन्त्रियो की अर्हता मात्र दलीय निष्ठा, राजनीतिक दाव-पेंच तथा शासन में स्थिर रहने की कला एवं चाटुकारिता आदि ही है। अत राज्य-हित एवं समाज-हित उनके लिए गौण हो गया है।

(iii) मन्त्रियों की नियुक्ति :

दयानन्द का यह स्पष्ट मत है कि, " .....राजा आदि सभा जिसको आदर से न चाहे, वह मन्त्री होने के योग्य नहीं हो सकता।"[13] अर्थात् मन्त्रियों की नियुक्ति राजा और सभा द्वारा संयुक्त रूप से की जाएगी।

(iv) मन्त्रणा-विषय :

दयानन्द ने राजा को यह निर्देश दिया है कि वह अनिवार्यतः प्रतिदिन दुष्ट व्यसनों से पृथक् हो कर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को धीरज, शांति तथा अप्रमाद से सिद्ध करने के लिए मन्त्रियों से विचार विमर्श किया करे।[14] उनके साथ सभा में बैठकर विवाद करने वालों के वचन सुन के उन पर विचार कर यथार्थ न्याय करे।[15] यही नहीं, अपितु राजा मन्त्रियों से सन्धि, विग्रह, स्थान, समुदय, गुप्ति तथा लब्ध-प्रशमन् आदि पर भी नित्य-प्रति विचार-विमर्श करता रहे।[16] उदयपुर के महाराणा श्री सज्जन सिंह को लिखे दिन-चर्या के पत्र में भी दयानन्द ने लिखा कि, "तीन दिन अर्थात् बुध, शुक्र, और शनैश्चर में सब राज्य की उन्नति और स्वास्थ्य के लिए प्रबन्धार्थ अकेले वा मुख्य धार्मिक स्वराज्य भक्त मन्त्रियों के साथ विचार करना चाहिए।"[17]

(v) मन्त्र गोपन :

दयानन्द ने मात्र मन्त्रणा के विषयों का उल्लेख ही नहीं किया है, अपितु मन्त्र की गोपनीयता की महत्ता पर भी प्रकाश डाला है। उनका मत है कि मन्त्रणा की गोपनीयता बनाए रखने वाला धन-हीन राजा भी सम्पूर्ण पृथ्वी पर राज्य करने में समर्थ होता है।[18] इसीलिए महर्षि ने राजा को अतिगोपनीय स्थान पर मन्त्रणा करने का निर्देश दिया है। उन्हीं के शब्दों में, "..... मुख्यमन्त्री के साथ राज्य-व्यवस्था का विचार करे। पश्चात् उसके साथ घूमने को चला जाय, पर्वत-शिखर अथवा एकान्त घर वा जंगल, जिसमें एक शलाका भी न हो, वैसे एकान्त स्थान में बैठकर विरुद्ध-भावना को छोड़ मन्त्री के साथ विचार करें।"[19]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि दयानन्द ने मन्त्रणा की गोपनीयता पर अत्यन्त बल दकर अपनी प्रशासनिक सूझ-बूझ का परिचय दिया है। वर्तमान शासन-व्यवस्था में गोपनीयता को हास्यास्पद एवं संदेहास्पद स्थिति को देखते हुए यही समोचीन प्रतीत होता है कि दयानन्द प्रतिपादित मन्त्र-गोपन का सिद्धान्त अनुकरणीय है।

(vi) मन्त्रियों के कार्य :

मन्त्रणा-विषय से ही मन्त्रियों के कार्य का आभास हो जाता है कि राज्य की सुरक्षा, अभिवृद्धि, प्रजा-पालन, वैदेशिक नीति का सफल संचालन तथा पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति आदि का प्रयास करना मन्त्रियों का कार्य है। सम्पूर्ण राज्य-कार्य का सम्पादन इन्हीं मन्त्रियों द्वारा होगा। महर्षि का मत है कि, "राजा, सेना और मन्त्रि-जनों से सम्पूर्ण राज्य-कार्य उसी प्रकार सिद्ध करता है, जैसे सूर्य अपनी किरणों से।"[20] अन्यत्र भी महर्षि का कथन है कि, "हे राजन्! जो आपके मन्त्री लोग सेना, विजय, धन, राज्य, उत्तम शिक्षा, विद्या और धर्म को बढ़ावें, उनका आप निरन्तर सत्कार (कर) उनके साथ राज्य के सुख का सदा भोग करो।"[21] इसीलिए महर्षि का निर्देश है कि,

"आप्त राजा मन्त्रियों को उपदेश देवे कि आप लोग न्यायकारी तथा धर्मात्मा हो कर पुत्र के समान प्रजा-जनों को पालें।"[22] इनके अतिरिक्त मन्त्रियों के कार्यों में प्रजा-पालन करना, दुष्टों को दण्ड देना, शत्रुओं को पराजित करना, प्रजा को पुत्रवत् रक्षा करना, प्राण और सूर्य की भाँति वर्ताव कर पृथ्वी के राज्य का पालन कर वैद्य और औषधियों की वृद्धि करना[23] आदि प्रमुख कार्यों की ओर भी दयानन्द ने संकेत किया है।

उपर्युक्त सन्दर्भों से यह ज्ञात होता है कि मन्त्रिगण धर्मनिष्ठ, कर्मनिष्ठ, स्वराष्ट्रभक्त तथा ऐसे प्रजापालक होंगे जो अहर्निश देशोन्नति एवं त्रिवर्ग की प्राप्ति-हेतु प्रयत्नशील रहकर ऐसे वातावरण के सृजन-हेतु निरन्तर क्रियाशील रहेंगे, जो लोगों को मोक्ष की प्राप्ति में सहायक सिद्ध हों। महर्षि का यह भी निर्देश है कि राजा सदैव अपने मन्त्रियों का सत्कार और सम्मान करता रहे, परन्तु साथ ही उनके कार्यों का गोपनीय निरीक्षण भी कराता रहे। इस सन्दर्भ में महर्षि का कथन है कि, "वही पुरुष राज्य करने योग्य है, जो मन्त्रियों के चरित्रों को नेत्र से रूप के सदृश प्रत्यक्ष करता है।"[24] स्पष्ट है कि महर्षि को आशंका थी कि आलस्य और प्रमादवश मन्त्रीजन कर्त्तव्यच्युत हो सकते हैं, क्योंकि यह सत्य है कि 'प्रभुता पाहि काहि मद नाहीं।' अतः, उन्होंने कार्यपालिका को भ्रष्टाचार एवं निरंकुशता से मुक्त रखने के लिए उसके कार्यों के गुप्त निरीक्षण की व्यवस्था दी है।

दयानन्द ने मन्त्रियों के जिन कार्यों की ओर सूत्रवत् संकेत किया है, वे आधुनिक मन्त्रिमण्डल के कार्य-क्षेत्र से न्यून नहीं है। वस्तुतः, महर्षि मन्त्रियों को 'वोट की राजनीति' से ऊपर उठाकर लोककल्याण के लिए समर्पित होने तथा राजनीत में सत्य, न्याय, धर्म एवं जीवन मूल्यों की स्थापना हेतु प्रेरित करते है।

(ब) अधिकारी एवं कर्मचारी :

शासन-संचालन में अधिकारियों एवं कर्मचारियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। राजा अपनी नीतियों तथा योजनाओं का क्रियान्वयन

इन्हीं अभिकरणों एवं सूत्रों के माध्यम से करता है। इनके संगठन, वेतन, आचार-संहिता आदि के सम्बन्ध में दयानन्द ने विस्तार से विचार किया है, जो संक्षेप में निम्नवत् है—

(i) संख्या :

महर्षि ने अधिकारियों की कोई निश्चित संख्या का निर्धारण नहीं किया है। राज्य में इनकी संख्या राज्य विशेष की आवश्यकता एवं क्षमता पर निर्भर करती है। अपने ऋग्वेद भाष्य में ऋग्वेद के मन्त्र 6.26.6 की व्याख्या में दयानन्द ने राजकर्मियों की संख्या के सन्दर्भ में लिखा है कि "हे राजन्! हजारों धार्मिक विद्वानों को अधिकारों में स्थापित करके यश बढ़ाओ।" अन्यत्र भी महर्षि ने यह इङ्गित किया है कि "जितने मनुष्यों से कार्य सिद्ध हो सके, उतने आलस्य-रहित, बलवान् और बड़े-बड़े चतुर प्रधान पुरुषों को (अधिकारी) अर्थात् नौकर करें। इनके आधीन शूरवीर, बलवान कुलोत्पन्न पवित्र भृत्यों को बड़े-बड़े कर्मों में और भीरु डरने वालों को भीतर के कर्मों में नियुक्त करें।"[१७] स्पष्ट है कि महर्षि ने अधिकारियों एवं कर्मचारियों की संख्या नहीं निर्धारित की है, जो उचित भी है।

(ii) अर्हताएँ :

महर्षि दयानन्द ने संख्या-निर्धारण के प्रसंग में विद्वत्ता, पवित्रता, कुलीनता, वीरता तथा धार्मिकता आदि को राज्यकर्मियों की योग्यता बताया है। अपने वेद-भाष्य में दयानन्द ने कतिपय मन्त्रों की व्याख्या में कर्मचारियों एवं अधिकारियों की योग्यताओं का संकेत किया है, यथा—'जिस देश में पूर्ण विद्या वाले राज कर्मचारी हों, वहाँ सबको एक मति होकर अत्यन्त सुख बढ़े (यजु० भा० 33.68);' जो लोग राज-भक्त, दुष्ट-हिंसक, एक बार में बहुत फ़लफूल देने और सबको धारण करने वाली भूमि के दुहने के समर्थ हों, वे राज्य-कार्य करने के योग्य होवें (यजु० भा० 33.28); 'राजा विद्या और विनय से युक्त, पुरुषार्थी

दृढ़ प्रतिज्ञा करने वाले, जितेन्द्रिय, धार्मिक, सत्यवादी धार्मिक विद्वानों को अधिकार में स्थापना करे ...(ऋ० भा० 6.48.21); 'हे राजन्, जो पूर्ण विद्या-संयुक्त, धन-धान्य, पशु-प्रजा को बढ़ाने और ब्रह्मचर्य से बड़ा पराक्रम वाला है, उसी को राज कर्मचारी कीजिए (ऋ० भा० 5.38.2)', इत्यादि ।

उक्त कथनों से स्पष्ट है कि अधिकारी एवं कर्मचारीगण को राज्य-कार्य में उनके उत्तम गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर स्थापन करने की दयानन्द ने स्वीकृति दी है। उल्लेखनीय है, कि दयानन्द कर्मचारियों की परीक्षा-व्यवस्था का भी निर्देश किया है। उनका मत है कि, "राजा को चाहिए कि राज कमचारियों को उत्तम प्रकार परीक्षा करके राज्य-व्यवहार में नियुक्त करे.....।"[26] इस कथन से ज्ञात होता है कि महर्षि कर्मचारियों की भर्ती में परोक्षा-सिद्धान्त के समर्थक थे।

(iii) नियुक्ति :

महर्षि ने अर्हताओं के उल्लेख में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि कर्मचारियों की नियुक्ति राजा और सभा द्वारा योग्य व्यक्तियों में से की जाएगी। राज्य-कर्मियों की नियुक्ति में सभा की सहमति अनिवार्य है। महर्षि ने यह स्पष्टतः स्वीकार भी किया है कि, "उस राज-कार्य में विविध प्रकार के विद्वान् अध्यक्षों को सभा नियत करे"[27] तथा कर्मचारियों की नियुक्ति के अवसर पर "जब राजा सभास्थ जनों को पूछें कि इस अधिकार में कौन पुरुष रखने योग्य है, तब सम्पूर्ण जन धार्मिक योग्य पुरुष के नियत करने में सम्मति देवें.....।"[28] उल्लेखनीय है, कि दयानन्द ने कर्मचारियों की नियुक्ति में प्रजा की सहमति प्राप्त करने के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया है। उनका इस विषय में यह मत है कि, "राजा को चाहिए कि अधिकारियों के नियत करने में प्रजा की सम्मति भी ग्रहण करे, ऐसा होने पर कभी भी उपद्रव नहीं होता है।"[29]

उपर्युक्त सन्दर्भों के प्रकाश में यह तथ्य प्रतिपादित होता है कि अधिकारियों तथा अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति का वैधानिक अधिकार राजा को है। परन्तु, राजा द्वारा की जाने वाली इन नियुक्तियों पर सभा का अनुसमर्थन प्राप्त होना अनिवार्य है। दयानन्द ने इन नियुक्तियों में "प्रजा की सम्मति" लेने की जो व्यवस्था दी है, उसका आशय यही प्रतीत होता है कि राज्य के पदाधिकारी एवं कर्मचारीगण जनता की मनोदशा के अनुकूल बने रहें तथा वे जनसामान्य में लोकप्रिय हों, जिससे कि सामान्य जनता उनके निर्देशों का पालन करे।

(iv) वेतन-पेन्शन :

राज्य-कार्य में संलग्न अधिकारियों, कर्मचारियों, भृत्यों तथा उनके आश्रितों एवं परिजनों के भरण-पोषण-हेतु महर्षि ने पर्याप्त वेतन आदि प्रदान करने का निर्देश दिया है, जिससे वे किसी अनुचित साधन का प्रयोग न करें तथा निश्चिन्त हो कर पूरी तन्मयता से कर्त्तव्य-पालन में लगे रहें। इस सम्बन्ध में दयानन्द के वेद-भाष्य के कतिपय मन्त्र उल्लेखनीय हैं, यथा—'राजपुरुषों को चाहिए कि वन तथा कक्षाओं में रहने वाले अध्येता और अध्यापकों, बलिष्ठ सेनाओं, शीघ्र चलने हारे यानों में बैठने वाले वीरों और दूतों को अन्न-धनादि से सत्कार पूर्वक उत्साह दे के सदा विजय को प्राप्त हो (यजु० भा० 16.34); 'राजपुरुषों को चाहिए कि सब भृत्यों को सत्कार और शिक्षापूर्वक अन्नादि पदार्थों से उन्नति दे के धर्म से राज्य का पालन करें (यजु० भा० 16.26) इत्यादि।

स्वामी दयानन्द ने वेतन तथा पेन्शन आदि के सम्बन्ध में उदयपुर के महाराणा श्री सज्जन सिंह को लिखे 'दिन-चर्या के नियम' नामक पत्र में कतिपय महत्त्वपूर्ण निर्देश दिए हैं, जो निम्नांकित हैं :

यदि राज-पुरुष धर्मात्मता से प्रीतिपूर्वक तीस वर्ष तक राज्य करें तो[30],

1. उनको आधो नौकरी (वेतन के बराबर धन) जब तक वे जीवित रहें, तब तक दिया जाय। दूसरे शब्दों में, तीस वर्ष की सेवा की समाप्ति के पश्चात् मूल वेतन का आधा भाग पेन्शन के रूप में कर्मचारियों को जीवन पर्यन्त दिया जाना चाहिए।

2. संग्रामादि में जिसकी मृत्यु हुई हो, उसकी स्त्री-पुत्रों को भी उसी प्रकार देना चाहिए, जब तक कि उनके पुत्र समर्थ न हो जाँय।

3. जब पुत्र समर्थ हो जाँय, तो उन्हें यथायोग्य अधिकार (नौकरी) देनी चाहिए।

4. परन्तु, स्त्री को उसके योग-क्षेम के लिए यथोचित आजीविका (धन आदि पदार्थ) आजीवन दी जाय। यदि मृत कर्मचारी पाँच रुपया (वर्तमान का पाँच सौ रुपया) मासिक वेतन पाता रहा हो, तो उसकी विधवा को पूरा (वेतन के बराबर धन) देना चाहिए। पुत्रों के समर्थ हो जाने पर भी, विधवा स्त्री को जीविकोपार्जन के लिए आधा धन अवश्य देना चाहिए।

दयानन्द का मत है कि यदि कर्मचारीगण धनादि के लोभ में पड़कर अन्याय करते हैं, तो उन्हें यथोचित दण्ड देकर उनको सेवा समाप्त कर देनी चाहिए तथा उन्हें ऐसे देश में रखा जाय कि जहाँ से वे लौट कर वापस न आ सकें, परन्तु[31],

1. जितने (धन) से उन राजपुरुषों का योग-क्षेम भली-भाँति हो और वे धनाढ्य भी हों, उतना धन या भूमि राज्य द्वारा मासिक या वार्षिक या एक बार में दिया जाय।

2. जो वृद्ध (कर्मचारी) हों, उनको भी आधा मिला करे, परन्तु यह ध्यान रहे कि जब तक वे जीवित रहे, तब तक ही वह जीविका बनी रहे, मृत्योपरान्त नहीं।

3. उनके सन्तानों को सत्कार या नौकरी उनके गुण के अनुसार अवश्य दी जानी चाहिए।

4. जब तक पुत्र समर्थ हों, उनकी स्त्री जीवित हो, तो उन सबके निर्वाह के लिए राज्य की ओर से यथा योग्य धन मिला करे।

5. परन्तु, यदि उसकी स्त्री या पुत्र कुकर्मी हो, तो कुछ भी न मिले।

उपर्युक्त समस्त विन्दुओं के विश्लेषण से स्पष्ट है कि दयानन्द राज्य-कर्मचारियों के वेतन तथा पेन्शन के सन्दर्भ में अतीव उदार दृष्टिकोण रखते हैं। अधर्मात्मा तथा अन्यायी कर्मचारियों एव उनके स्त्री-पुत्र के सम्बन्ध में कठोरता का व्यवहार करने का निर्देश देकर दयानन्द ने प्रशासनिक अनुशासन को बनाए रखा है।

(v) आचार-संहिता :

महर्षि के राजनीतिक दर्शन में अधिकार एवं कर्त्तव्यों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। चूंकि, राज्याधिकारियों तथा कर्मचारियों में अनेक अधिकार निहित होते हैं, अतः प्रशासनिक दायित्व के निर्वहन तथा उनके उत्तरदायित्व की गुरुता एवं पवित्रता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए दयानन्द ने निम्नलिखित आचार-संहिता प्रस्तावित किया है :

1. अधिष्ठाता लोग राजाज्ञा को अपने प्राण से भी अधिक मानें, चाहे कोई कैसा भी सम्बन्धी या मित्र क्यों न हो, यदि वह राजाज्ञा-भङ्ग या उसके अनुपालन में आलस्य करे, तो वह शत्रुवत् दण्डनीय हों।[32]

2. जो राजासन पर नियत हो, उसका किंचित् भी अपमान कोई मन, कर्म या वचन से न करे। परमेश्वर से द्वितीय स्थान में माननीय राजा और स्वामीवत् माननीय अपने-अपने प्रधान को माने।[33]

3. अपने आत्मा या शरीर को राजा या अधिकारी न समझे, किन्तु, राजनीति ही को राजा और राज्याधिकारिणी मानना चाहिए।[34]

4, सदा वेदादिशास्त्र, मनुस्मृति के सप्तम, अष्टम तथा नवम अध्याय, महाभारत के राज-धर्म, आपद् धर्म और विदुर प्रजागर विदुर-नीति

के शब्दार्थ, सम्बन्ध और कर्त्तव्य को सब राजपुरुष जान के तदनुकुल आचरण करें।[35]

5. सदा अधर्म-युक्त कर्मों को छोड़कर न्याय-रूप धर्मकृत्यों में प्रवृत्त रहें।[36]

6. वेदानुकूल हो कर प्रजा के साथ पिता के समान व्यवहार करे।[37]

7. कभी दुष्टाचार न करे, परन्तु सब दिन धर्म-न्याय से वर्तकर सबके सुधार का दृष्टान्त बने।[38]

8. सभी कर्मचारी यह समझें कि हम परमेश्वर की प्रजा और परमात्मा हमारा राजा है। हम उसके भृत्यवत् हैं।[39]

9. जिस कर्म में जिसको सभा स्थापित करे, वह पुरुष उस अधिकार की यथाप्रोग्य उन्नति करे। जिस अधिकार में जिसका नियोग हो, वहाँ जो आज्ञा हो, उसका वह कदाचित् उल्लंघन न करे।[40]

10. जिनका जो अधिष्ठाता हो, उसको आज्ञा में सबको यथावत् वर्तना चाहिए।[41]

11. न्याय एवं धर्म के अनुकूल स्वामी को आज्ञाओं को ही पालन करना चाहिए, अन्यों का नहीं।[42]

दयानन्द के उपर्युक्त निर्देश वस्तुतः, प्रशासनिक कार्य कुशलता एवं परस्पर सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए श्रेयस्कर प्रतीत होते हैं। इन नियमों का कठोरता से अनुपालन भ्रष्टाचार आदि दुष्प्रवृत्तियों को समाप्त करने में सहायक होगा तथा प्रशासनिक उत्तरदायित्व, गरिमा एवं पवित्रता को बनाए रखेगा।

(vi) राजपुरुषों के कार्यों का गोपनीय निरीक्षण तथा दण्ड की व्यवस्था :

महर्षि दयानन्द का निर्देश है कि सुपरीक्षित दूतों द्वारा राजा सम्पूर्ण राज्य तथा राजपुरुषों की सुचेष्टा तथा कुचेष्टा को जान कर

ऐसा प्रयत्न करें कि वे गर्हित कार्यों से पृथक् होकर अच्छे कार्यों में संलग्न रहें।[43] राजपुरुषों की गतिविधियों के गोपनीय निरीक्षण-हेतु दयानन्द ने यह व्यवस्था दी है कि, "जो नित्य घूमने वाले सभापति हों, उसके अधीन सब गुप्तचर अर्थात् दूतों को रखे। जो राजपुरुष और प्रजापुरुषों के साथ नित्य सम्बन्ध रखते हों, और वे भिन्न-भिन्न जाति के रहें, उनसे सब राज और प्रजापुरुषों के सब दोष और गुण गुप्त रीति से जाना करे, जिनका अपराध हो, उनको दण्ड और जिनका गुण हो उनकी प्रतिष्ठा सदा किया करे।"[44]

उपर्युक्त विधि से राजा को चाहिए कि वह राज्य-कर्मचारियों के गुण-दोष को जानकर शत्रुओं के निवारण में यथाशक्ति प्रयत्न न करने वाले या अपने-अपने अधिकार के कर्मों में यथायोग्य वर्ताव न करने वाले राजपुरुषों को अच्छी प्रकार दण्डित करे तथा न्यायानुकूल आचरण करने वालों को पुरस्कृत भी करे। उल्लेखनीय है कि महर्षि ने राजा से भृत्य पर्यन्त राजपुरुषों को अपराध में प्रजा-पुरुषों से अधिक दण्ड देने की व्यवस्था की, है क्योंकि उनका विश्वास है कि बकरी के प्रमाद को रोकने से सिंह के प्रमाद को रोकने में अधिक प्रयत्न करना चाहिए।[45]

इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द ने प्रशासनिक अनुशासन को बनाए रखने तथा भ्रष्टाचार की सम्भावना को समाप्त करने के लिए कर्मचारियों के कार्यों के गोपनीय निरीक्षण एवं कठोर दण्ड की व्यवस्था की है, जो सर्वथा अनुकरणीय है।

(vii) विभाग-विभाजन :

महर्षि दयानन्द ने कार्य-विशेषज्ञता एवं श्रम-विभाजन के महत्त्व को स्वीकार करते हुए विभागों के विभाजन-हेतु निम्नलिखित निर्देश दिया है:

1. उन्हीं को उत्तम अधिकार में नियुक्त किया जाय, जिससे राजा और प्रजा दोनों का निरन्तर सुख बढ़े।[46]
2. जो मनुष्य जिस कार्य में चतुर हो, उसको उसी कार्य में प्रवृत्त करे।[47]

3. धन, सेना, न्याय और राज्य का अधिकार उत्तम पुरुषों को दे। अन्य छोटे-छोटे अधिकार भी यथायोग्य पुरुषों को ही देना चाहिए।[48]

4. जो धर्मात्मा जिस कार्य को सम्पादित कर सके, उसके अधीन वही कार्य सौंपना चाहिए।[49]

5. दरिद्र या लोभी को प्रारम्भ में बड़ा अधिकार न दे। कुटुम्ब, सम्बन्धी तथा परस्पर मित्र को भी एक ही अधिकार (विभाग) में न रखे।[50]

6. वेदोक्त धर्मावलम्बी अधिकारियों पर अन्य मतावलम्बियों को अधिकार न दे।[51]

7. शूरवीर, बलवान् कुलोत्पन्न पवित्र भृत्यों को बड़े-बड़े कर्मों में और भीरु भृत्यों को भीतर के लघु कार्यों में नियुक्त करे।[52]

8. अमात्य को दण्डाधिकार, राजा के अधीन कोश और राज्य-कार्य तथा सभा के अधीन सब कार्य और दूत के अधीन मेल या विरोध करने-कराने का अधिकार देना चाहिए।[53]

9. नित्य भ्रमण करने वाले सभापति के आधीन समस्त गुप्तचरों को रखे।[54]

10. धार्मिक, सुपरीक्षित, विद्वान् तथा कुलीन अधिकारियों के आधीन शठ और पर-पदार्थ हरने वाले चोर-डाकुओं को भी, दुष्कर्म से बचाने के लिए, नौकर के रूप में रखना चाहिए।[55]

इस प्रकार, स्पष्ट है कि महर्षि ने कार्य के वितरण तथा विभाग-विभाजन का अत्यन्त सूक्ष्मता पूर्वक सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। वह चोर-डाकुओं को भी प्रजा की रक्षा के लिए नियुक्त करने में संकोच नहीं करते। वस्तुतः, दयानन्द का यह दृष्टिकोण अत्यन्त मौलिक एवं श्लाघ्य है।

(viii) अधिकारियों एवं राजकर्मियों के कार्य :

राज्य के समस्त पदाधिकारियों, कर्मचारियों एवं भृत्यों का सर्व-प्रमुख कार्य राजा एवं सभा के कार्यों के निष्पादन में निष्ठापूर्वक सहयोग करना है। इनके समस्त दायित्वों का एक मात्र लक्ष्य राज्योद्देश्य की पूर्ति में सहायक होना ही है।[56] इस प्रकार प्रजा-रक्षण, पालन तथा न्याय को स्थापना,[57] धर्म से राज्य का शासन करना,[58] शिल्पविद्या तथा सृष्टि के दृष्टान्त से विशेष रचना करना, [59] ईश्वर रचित सृष्टि से सम्पूर्ण सामग्रियों का ग्रहण कर उनसे शरीर-बल, विद्या और न्याय का प्रकाश, राज्य का अभिषेक, दुखों का विनाश, विद्वानो का संग तथा मनुष्यों के स्वभाव और वस्त्रादि की पवित्रता आदि को अच्छी प्रकार से सिद्ध करना आदि राज्य-कर्मचारियों के प्रमुख कार्य हैं।[60]

स्वामी दयानन्द का अभिमत था कि समस्त अधिकारी एवं कर्मचारी अपने-अपने कार्यों के निष्पादन में निरन्तर व्यस्त रहें। एक बार, बुलन्दशहर के कलेक्टर द्वारा यह कहने पर कि—चार घण्टे के पश्चात् उसे अवकाश ही अवकाश है—दयानन्द ने प्रत्युत्तर में व्यंगपूर्वक कहा कि, "एक साधारण गृहस्थ के सिर पर भी परिवार-पोषण का दायित्व इतना जबरदस्त होता है, जिसके कारण उसे दम मारने तक की फुरसत नहीं मिलती। फिर, उनके जैसे अधिकारी, जिन पर सम्पूर्ण जिले की सुरक्षा और सुव्यवस्था का गुरुतर भार है, यह कैसे कह सकते हैं कि चार घण्टे के पश्चात् उन्हें अवकाश ही अवकाश है।[61]

महर्षि दयानन्द को उक्त उद्गार इस तथ्य का प्रमाण है कि वह राजपुरुषों को निष्ठा से अहर्निश कार्य-सम्पादन में व्यस्त रखना चाहते हैं। राजा एवं राज्य के समस्त कार्यों को व्यावहारिक रूप में क्रियान्वित करना ही राजपुरुषों का कार्य है। आज के परिप्रेक्ष्य में, अकर्मण्यता, आलस्य, प्रमाद एवं दायित्वहीनता को समाप्त कर सक्रियता एवं कार्य-कुशलता-हेतु दयानन्द के विचार नितान्त उपयोगी हैं। आधुनिक प्रजा-

तान्त्रिक युग के कार्यपालकों में अपेक्षित गुणों एवं कर्त्तव्य-निष्ठा के अभाव के फलस्वरूप ही प्रशासन में नौकरशाही उत्तरदायित्व-विहीन तथा भ्रष्ट हो गई है। प्रशासन में 'लालफीताशाही' का वर्चस्व है। अतः, महर्षि के उपर्युक्त निर्देश प्रशासनिक सुधार तथा लोक सेवकों को निष्ठावान् बनाने में निश्चय ही उपयोगी सिद्ध होंगे।

(स) दूत-व्यवस्था :

वैदेशिक नीति के सफल संचालन एवं प्रजा-पुरुषों तथा राज-पुरुषों के कार्यों के निरीक्षण तथा राज्य की समस्त गतिविधियों की गोपनीय जानकारी के लिए स्वामी दयानन्द ने दूत-व्यवस्था को महत्ता को स्वीकार किया है। उनका अभिमत है कि प्रशसित कुलोत्पन्न, चतुर, पवित्र, हावभाव और चेष्टा से भीतर के हृदय और भविष्यत् में होने वाली बात को जानने वाला, सभी शास्त्रों में विशारद, राज्य-कार्यों में अत्यन्त उत्साही, प्रीति-युक्त, बहुत समय की बात को भी न भूलने वाला, देश और कालानुकूल वर्त्तमान का कर्त्ता, सुन्दर रूप-युक्त, निर्भीक,[62] लिखने-पढ़ने के कार्यों में अनुभवशील,[63] अग्नि की भाँति गुण, कर्म तथा स्वभाववाला[64], बहुभाषी, स्नेही और धार्मिक जन[65] (स्त्री-पुरुष) को दूत बनाना चाहिए।

दयानन्द ने दूतों की कोई निश्चित संख्या नहीं निर्धारित की है, अपितु उनका मत है कि, "जिसके राज्य में हजारों दूत, गुप्तचर और बैद्यजन विचरते हैं, उसकी थोड़ी भी राज्य की हानि नहीं होती।"[66] स्पष्ट है कि दयानन्द ने दूत की संख्या हजारों में बताकर उसे देश, काल, परिस्थिति, आवश्यकता, क्षमता एवं सामर्थ्य पर आधारित घोषित किया है।

दयानन्द ने दूतों का प्रमुख कार्य फूट में मेल और मेल में फूट डालना बताया है।[67] दूत द्वारा ही राजा, यदि दूर देश में हो और प्रजा, सेना तथा मन्त्री जन अन्यत्र वर्त्तमान हों, तथापि वह सबके साथ समीप वर्त-

मान् हो सकता है।[68] इसीलिए महर्षि दयानन्द ने महाराणा श्री सज्जन सिंह को दिन-चर्या के नियम सम्बन्धित पत्र में उन्हें सुझाव दिया कि वह (राजा) प्रतिदिन रात्रि पौने आठ से नौ बजे तक दूत द्वारा स्वदेश, स्वनगर, परदेश और पर-राज्य के अपने और दूसरों से सम्बन्धित समाचार को जाने तथा उन्हें स्वकार्य की सिद्धि-हेतु यथोचित आज्ञा भी दे।[69] दयानन्द ने महाराणा को लिखित उसी पत्र में यह भी निर्दिष्ट किया कि, राजा सुपरीक्षित दूतों द्वारा राज्य और राज-पुरुषों की सुचेष्टा और कुचेष्टा से अपने को भिज्ञ रखे।[70] महाराणा श्री सज्जन सिंह को ही एक अन्य पत्र में महर्षि दयानन्द ने दूतों के सम्बन्ध में पुनः लिखा कि, "स्वराज्य और परराज्य का जो चिकीर्षित और अच्छे बुरे काम होते हैं, उनको दूत द्वारा यथावत् जान कर, दुष्ट कार्य-कर्त्ताओं को दण्ड और उत्तम कार्य करनेहारों का सत्कार यथायोग्य कीजिए, जिससे उत्तम कार्य बढ़े और दुष्ट कर्म घट जाँय।"[71]

दूत-व्यवस्था के सन्दर्भ में दिए गए स्वामी दयानन्द के उपर्युक्त निर्देशों से स्पष्ट हो जाता है कि उनके राज-दर्शन में राज्य के आन्तरिक प्रशासन के संचालन तथा वैदेशिक सम्बन्धों के निर्धारण में दूत-व्यवस्था का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका स्पष्ट मत है कि दौत्य-कर्म की सफलता पर ही राज्य की जय-पराजय, यश-अपयश तथा हानि-लाभ निर्भर करता है।

निष्कर्ष :

महर्षि दयानन्द के समस्त प्रशासनिक अभिकरणों के संगठन तथा कार्यों आदि के विस्तृत विश्लेषण से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि जन-प्रशासन के क्षेत्र में महर्षि की दृष्टि अतीव पैनी एवं आधुनिक प्रशासनिक विचारकों, यथा—एल० डी० व्हाइट, हेनरी फेयाल, एल० उर्विक, डिमॉक पिफनर, लूथर गूलिक तथा टेलर आदि के समानान्तर है। इन विचारकों की भाँति ही दयानन्द ने संगठन के विभिन्न तत्त्वोपदसोपान-

नेतृत्व, समन्वय, आदेश की एकता, नियन्त्रण का विस्तार-क्षेत्र, स्टाफ तथा सूत्र अभिकरण एवं सहायकों आदि के सम्बन्ध में प्रत्येक दृष्टि से पूर्ण एवं विकसित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उनके चिन्तन में राजनीतिक अधिकारियों (राजा एवं सभासद) तथा प्रशासनिक अधिकारियों (अमात्य, न्यायाधीश, सेनापति, विभिन्न राज्याधिकारी, एवं कर्मचारी एवं दूत आदि) के नियुक्ति, आचार-संहिता, कार्य-विभाजन, अधिकार एवं कर्त्तव्य, वेतन- पेन्शन, पुरस्कार-दण्ड, इनके कार्यों का गोपनीय निरीक्षण, उचित शिक्षण-प्रशिक्षण, परीक्षा के आधार पर भर्ती आदि के विषय में अत्याधुनिक एव सांगोपांग व्यवस्था दी गई है। अतः, वर्तमान प्रजातान्त्रिक युग में दयानन्द के सिद्धान्त सर्वथा उपयोगी एवं अनुकरणीव हैं। स्वामी दयानन्द सच्चे अर्थों में एक प्रशासनिक दार्शनिक थे।

पाद टिप्पणियाँ :

1. ऋ० भा० 4.40.1
2. ऋ० भा० 4.48.5
3. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना प्रवचन सं० 9) पृ० 373
4. ऋ० द० स० प० और वि० भाग 1, पृ० 40
5. स० प्र०—पृ० 97 (मनु० 7.65)
6. ऋ० भा० 3.3.7.9, 4·29.2
7. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (बम्बई-प्रवचन) पृ० 514
8. स० प्र०—पृ० 96 (मनु० 7.54,7.60)
9. यजु० भा० 9.24
10. ऋ० भ० 4.47.3
11. ऋ० भा० 6.60.3
12. ऋ० शा० 7. 1.10
13. यजु० भा 6.2

14. यजु० भा० 27.5

15. यजु० भा०—33.15

16. स० प्र०—पृ० 96 (मनु० 7.56)

17. ऋ० द० स० के प० और वि०-भाग 2 पृ० 628

18. स० प्र०—पृ० 103 (मनु० 7.148)

19. स० प्र०—पृ० 103 (मनु० 7.146, 7.147)

20. ऋ० भा०—5.30.4

21. ऋ० भा०—3.23.3

22. ऋ० भा०—6.48.2

23. ऋ० भा०—5.62.3—"हे राजा और मन्त्री जनों, आप दोनों सूर्य और प्राण के सदृश वर्त्ताव कर पृथ्वी के राज्य का पालन कर वैद्य और ओषधियों की वृद्धि कर और वृष्टि की उन्नति करके सबके सुख के लिए वर्ताव कीजिये।"

ऋ० भा०—6.25.3—"वे ही मन्त्री उत्तम हैं, जो धार्मिक प्रजाओं की पुत्र के सदृश रक्षा करते हैं और दुष्टों को दण्ड देते हैं और अपनी सेनाओं को बढ़ाय के शत्रुओं की सेना को पराजित करते हैं।"

24. ऋ० भा—3.37.9

25. स० प्र०—पृ० 96 (मनु० 7.61, 7.62)

26. ऋ० भा०—6.18.2; इसी प्रकार ऋ० भा० 7.22.8, 6.44.19 में भी परीक्षा करके नियुक्ति करने का संकेत मिलता है। इसके अतिरिक्त दयानन्द के पत्र और विज्ञापन—भाग 2, के पृ० 629 पर उदयपुर के महाराणा श्री सज्जन सिंह के दिन-चर्या के नियम सं० 10 में भी महर्षि ने यह निर्दिष्ट किया कि, "बिना योग्यता वा परीक्षा के किसी को बड़ा वा छोटा अधिकार न देवे।"

स० प्र०—पृ० 98 (मनु० 7.81)

28. ऋ० भा०—4.4.8

29. ऋ० भा० 6.16.28

30. ऋ० द० स० के म० और वि०—भाग 2, पृ० 629 (दिनचर्या का नियम 12)
31. स० प्र०—पृ० 102 (मनु० 7.124)
32. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 632 (दिनचर्या का नियम 43)
33. वही पृ० 632 (दिनचर्या का नियम 42)
34. वही—पृ० 633 (दिनचर्या का नियम 45)
35. वही—पृ० 633 (दिनचर्या का नियम 49)
36. वही—पृ० 633 (दिनचर्या का नियम 5)
37. स० प्र०—पृ० 98 (मनु० 7.80)
38. स० प्र०—पृ० 115
39. स० प्र०—पृ० 115
40. ऋ० भा—3.19.5, 3.37.6
41. ऋ० भा—7.23.6
42. भवानीलाल भारतीय—नवजागरण के पुरोधा०—पृ०489
43. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 631
44. स० प्र०—पृ० 102 (मनु० 7.122)
45. 'न्याय-व्यवस्था' शीर्षक के अन्तर्गत 'दण्ड-विधान' द्रष्टव्य है।
46. ऋ० भा०—5.44.1
47. यजु० भा—8.20
48. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 1, पृ० 40
49. वही—भाग 2, पृ० 629 (दिनचर्या का नियम 10)
50. वही—पृ० 629 (नियम संख्या 10)
51. वही—पृ० 629 (नियम संख्या 11)
52. स० प्र०—पृ० 96 (मनु० 7.62)
53. स० प्र०—पृ० 97 (मनु० 7.65)
54. स० प्र०—पृ० 102 (मनु० 7.122)

55. स० प्र०—पृ० 102 (मनु० 7.123)

56, ऋ० भा०—3.40.3—"आप के सब श्रेष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ कर्मचारी लोग धर्मपूर्वक हम लोगों की निरन्तर रक्षा करें।"
ऋ० भा०—3.51.7—"हे राजन् ! जैसे आप अपने राज्य ऐश्वर्य, न्याय और धर्म की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार के आपके मन्त्री और नौकर आदि होवें।"

57. ऋ० भा० 3.53.20—"·····राजा के पुरुष सबके पालनकर्त्ता हों और न्याय का त्याग करके अन्याय कभी न करें।

58. ऋ० भा० 4.21.7—"जो कर्मचारी लोग धर्म से राज्य का शासन करते हुए राजा के राज्य में सत्य-न्याय से प्रजाओं का पालन करते हैं, वे अतुल आनन्द को प्राप्त होते हैं।"

59. यजु० भा०—30.6, 30.7

60. यजु० भा०—30.12

61. भवानीलाल भारतीय-नवजागरण के पुरोधा० पृ० 100-101

62. स० प्र०—पृ० 96-97 (मनु० 7.63, 7.64)

63. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन 9) पृ० 373

64. ऋ० भा०—3.6.5

65. ऋ० भा०—4.9.6

66. ऋ० भा० —7.46.3

67. स० प्र०—पृ० 97 (मनु० 7.66)

68, ऋ० भा०—3.40.9

69. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 627-628

70. वही—पृ० 331

71. वही—पृ० 756

—: ० :—

अध्याय 8

: स्थानीय स्वशासन :

स्थानीय स्वशासन प्रजातन्त्र का मूलाधार है। इसी के माध्यम से जनता को अपनी स्वतन्त्रता तथा स्वायत्तता की अनुभूति होती है। प्राचीन काल से ही भारतीय राजनीतिक ग्रन्थो में इस व्यवस्था के संकेत प्राप्त होते हैं। 'ग्राम' का अस्तित्व भारतीय सभ्यता, संस्कृति एवं प्रशासन के आधार के रूप में, अति प्राचीन काल से ही है। प्रत्येक ग्राम स्वशासित था तथा ग्राम्य संस्थाएँ, अन्य प्रशासनिक संस्थाओं के माध्यम द्वारा केन्द्रों से जुड़ी थीं। वस्तुतः, स्थानीय स्वशासन विकेन्द्रीकरण का ही दूसरा नाम है, जिसमें स्थानीय विषयों से सम्बन्धित इकाइयों का संगठन और कार्य-क्षेत्र केन्द्रीय विधियों द्वारा निर्धारित होता है।

वैदिक मन्त्रों में ग्रामों की समृद्धि-हेतु प्रार्थनाएँ की गई हैं। भारत में स्थानीय स्वशासन की इकाई के रूप में ग्राम पंचायतों की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। वेदज्ञ, 'ग्रामणी' (ग्राम का अधिकारी) को एक राजनीतिक अधिकारी की संज्ञा देते हैं। ऋग्वेद के विभिन्न मन्त्रों में 'ग्राम' नामक संस्था के संकेत प्राप्त होते हैं।[1] कौटिल्य, मनु, भीष्म तथा शुक्र आदि भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओं ने भी ग्राम-शासन के अन्तर्गत ग्राम अधिकारी को 'ग्रामणि', 'ग्रामाधिपति' या 'ग्रामप्' इत्यादि कहकर सम्बोधित किया है।[2] इस प्रकार, स्पष्ट है कि स्थानीय स्वशासन की संकल्पना वैदिक काल से ही किसी न किसी रूप में रही है, जिसकी प्रारम्भिक इकाई ग्राम है।

स्वामी दयानन्द का यह विश्वास था कि प्राचीन काल से ही प्रचलित पंचायत-प्रणाली, ग्राम प्रधान भारतीय व्यवस्था के सर्वथा अनुकूल है। इसमें ग्राम ही प्रशासन की वह प्राथमिक इकाई थी, जहाँ ग्रामवासी अपने विवादों का निर्णय परस्पर मिलकर कर लिया करते थे। इसीलिए महर्षि ने प्रशासन के प्रत्येक क्षेत्र में पंचायती व्यवस्था का समर्थन किया है। ग्राम एवं नगर-संघ ही दयानन्द के सम्पूर्ण राष्ट्रीय प्रतिष्ठान का वह स्वरूप है, जिसकी अन्तिम परिणित है—चक्रवर्ती राज्य की संकल्पना।

स्वामी दयानन्द ने स्थानीय स्वशासन के सन्दर्भ में अतीत के व्याख्यान द्वारा स्पष्ट किया है कि "ग्राम, महाग्राम, नगर, पुर ऐसे देश-विभाग होते थे। ग्रामों में सौ-सौ, महाग्रामों में हजार, नगर में दश हजार और पुर में इससे भी अधिक घरों की संख्या रहती थी। दश ग्राम पर एक (दशेश नाम का अधिकारी होता था और सौ ग्राम पर) शतेश नाम का अधिकारी होता था। दश सहस्र (ग्रामों) पर महासुशील नीतिवान् ऐसा ही एक अधिकारी रहता था।"[3]

स्वामी दयानन्द के इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने ग्राम को शासन की प्राथमिक इकाई स्वीकार की है, जिसमें लगभग सौ घर (परिवार) होते थे। इसके पश्चात् हजार घर वाले संगठन (संस्था) को महाग्राम, दश हजार घर वाले को नगर और इससे भी अधिक घर की संख्या वाले संगठन को पुर कहते थे। ग्रामों की संख्या के आधार पर ही इनमें दशेश, शतेश, सहस्रेश तथा दशसहस्रश आदि अधिकारी हुआ करते थे। स्वामी दयानन्द ने स्थानीय स्वशासन-हेतु कतिपय संकेत इस प्रकार दिए हैं :

1. प्रत्येक ग्राम में एक पंचायत होनी चाहिए और कई ग्रामों के ऊपर एक न्याय-सभा भी होनी चाहिए।[4]
2. दो, तीन, पाँच और सौ ग्रामों के बीच में एक राज-स्थान (सभा या पंचायत-भवन) हो, जिसमें यथायोग्य कर्मचारी आदि राज-पुरुष को रखकर राज्य-कार्य सम्पादित किया जाय।[5]

3. एक-एक ग्राम में एक-एक प्रधानपुरुष (अधिकारी) को रखना चाहिए। इसी प्रकार दश ग्रामों पर दूसरा, बीस ग्रामों पर तीसरा, सौ ग्रामों पर चौथा, सहस्र ग्रामों पर पाँचवाँ अधिकारी रखें। दयानन्द ने इस व्यवस्था के सम्बन्ध में उदाहरण देते हुए लिखा है कि जैसे एक ग्राम में एक पटवारी, दश ग्राम में एक थाना, दो थानों पर एक बड़ा थाना, पाँच बड़े थानों पर एक तहसील तथा दश तहसीलों पर एक जिला नियत किया गया है,[6] 'उसी प्रकार उपर्युक्त ग्राम्याधिकारियों की भी व्यवस्था को जानो चाहिए।

4. उपर्युक्त प्रकार की विभिन्न इकाइयों के मध्य शासन-व्यवस्था तथा आदेश-निर्देश का निर्धारण इस प्रकार का हो कि एक-एक ग्राम का अधिकारी अपने-अपने ग्रामों के नित्य-प्रति के गुण-दोष को अत्यन्त गोपनीयता से दश गामों के अधिकारी को सूचित करे। वह दश-ग्रामाधिपति अपने से उच्च बीस ग्राम के अधिकारी को दश गामों का वर्त्तमान सूचित कर दे।[7]

5. इसी क्रम में बीस ग्रामों का अधिपति, बीस ग्रामों के वर्तमान को शत ग्रामाधिपति को, शत ग्रामाधिपति सहस्राधिपति को सौ-सौ ग्रामों की सूचना, बीस-बीस ग्राम के पाँच अधिपति सौ-सौ ग्राम के अध्यक्ष को, सहस्र-सहस्र के दश अधिपति दशसहस्र के अधिपति को दश-दश सहस्र के दश अधिपति लक्ष ग्रामों को राजसभा को प्रति-दिन का वत्तमान सूचित किया करें। अन्ततः, सभी राजसभा महाराजसभा अर्थात् सार्वभौम चक्रवर्त्ती महाराज सभा में सब भूगोल का वर्त्तमान् सूचित किया करें।[8]

6. एक-एक दश-दश सहस्र ग्रामों पर दो सभापति नियुक्त करना चाहिए, जिनमें से एक राजसभा में और दूसरा अध्यक्ष, आलस्य छोड़कर सब न्यायाधीश आदि राजपुरुषों के कार्यों को सदा भ्रमण कर देखता रहे।[9]

7. बड़े-बड़े नगरों में विचार-विमर्श-हेतु सुन्दर, उच्च और विशाल चन्द्रमा-तुल्य सभा-भवन बनाया जाय, जिसमे विद्या-वृद्ध पुरुष बैठकर विचार किया करें। जिन नियमों से राजा-प्रजा की उन्नति हो, वैसे-वैसे नियम और विद्या प्रकाशित करें। [10] महर्षि के इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रायः सभी नगरों (दश हजार घर) में सभा-भवन होना चाहिए, जिसमें उस क्षेत्र विशेष के सभासद् बैठ कर, केन्द्रीय व्यवस्था के अनुकूल ही स्थानीय प्रशासनिक व्ववस्था की देख-रेख करें तथा यथोचित निर्णय भी लें।

निष्कर्ष :

स्वामी दयानन्द प्रतिपादित स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था के उपर्युक्त समस्त बिन्दुओं के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि स्थानीय स्वशासन में ग्राम से महाराज-सभा पर्यन्त सभी संगठन संचार-माध्यमों तथा दायित्वों से परस्पर सम्बद्ध हैं। दूसरे शब्दों मे, दयानन्द प्रतिपादित व्यवस्था पूर्णतया लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त पर आधारित है। ऋषि का यह अभिप्रेत था कि जब तक ग्रामों में स्वशासन एवं उत्तरदायित्व की भावना का विकास नहीं होगा, तब तक राजनीतिक रूप से स्वशासन और स्वराज्य का स्वप्न साकार नहीं होगा। दयानन्द स्थानीय स्वशासन के माध्यम से ग्रामों में भी राजनीतिक जागरूकता और शिक्षा का संचार करना चाहते थे। उनका अभीष्ट था कि स्थानीय स्वशासन प्रत्यक्षतः केन्द्रीय शासन नीतियों का निर्धारण कर उनके क्रियान्वयन-हेतु मार्ग-दर्शन करता रहे। इससे सामुदायिक सहयोग एवं बन्धुत्व की भावना में वृद्धि होगी।

दयानन्द की संकल्पना के उपर्युक्त स्थानीय स्वशासन के विवेचन के आधार पर निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आधुनिक भारतीय सर्वोदयी विचारकों द्वारा प्रतिपादित पंचायती राज-व्यवस्था सर्वथा हीन प्रतीत होती है। वस्तुतः, स्थानीय स्वशासन में, स्थानीय संस्थाओं को

स्वायत्तता अक्षुण्ण रहनी चाहिए, जिसका सर्वोदयी व्यवस्था में अभाव है। इसका दुष्परिणाम यह है कि स्थानीय संस्थाएँ केन्द्रीय सत्ता की अनुचर मात्र बन कर रह गई हैं, यहाँ तक कि उनका अस्तित्व भी केन्द्र की इच्छा पर निर्भर रहने लगा है। यदि वास्तव में, 'राम-राज्य' की संकल्पना को साकार रूप देना है, राजनीतिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण ग्राम्य-जन तक करना है तथा स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं को केन्द्र के कठोर दलीय नियन्त्रण से मुक्त रखना है, तो निश्चय ही दयानन्द के स्थानीय स्वशासन विषयक अवधारणा को व्यावहारिक रूप देना होगा। हमें प्रशासन की प्राथमिक इकाई ग्राम को सशक्त, स्वतन्त्र एवं क्रियाशील बनाना होगा तथा ग्राम्य-प्रशासन को प्रभावी रूप में प्रमुख प्रशासन से सम्बद्ध करना होगा।

पाद टिप्पणियाँ :

1. ऋग्वेद के विभिन्न मन्त्रों में 'ग्राम' शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है—1.100.10, 1.114.1, 2.12.7, 5.54.8, 10.62.11, 10.107.5, 10.127.5, इत्यादि।
2. अथर्ववेद—10.3.26
   मनु०—7.118
   महा० शा० प०—87.6
   शुक्र०—2.172
3. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन सं० 9) पृ० 373
4. प्रशान्त कुमार वेदालंकार—महर्षि दयानन्द प्रतिपादित राज्य-व्यवस्था पृ० 20
5. स० प्र० पृ० 101 (मनु० 7.114)
6. वही—पृ० 101 (मनु० 7.115)
7. वहीं—पृ० 101 (मनु० 7.116)
8. वही—पृ० 100 (मनु० 7.117)
9. वही—पृ० 101 (मनु० 7.120)
10. वही—पृ० 101-102 (मनु० 7.121)

—: o :—

अध्याय 9

: न्याय-व्यवस्था :

न्याय उन्नतिशील सभ्यता का आवश्यक अंग होता है। न्याय-व्यवस्था का सम्बन्ध मानव के समस्त क्रियाकलापों से होता है। न्याय मानवीय आवश्यकता पर आधारित संकल्पना है। किसी भी राजनीतिक व्यवस्था की सुचारुता की कसौटी उत्तम न्याय-व्यवस्था ही होती है। "न्याय" ही राज्य का वह तत्त्व है, जो उसे 'डकैतों के दल' से भिन्न करता है[1], क्योंकि निष्पक्ष, स्वतन्त्र और विधि-सम्मत न्याय-प्रणाली के अभाव में सर्वत्र अशांति एवं अराजकता व्याप्त हो जाती है। इसीलिए हेनरी सिजविक ने किसी भी राष्ट्र के राजनीतिक सभ्यता का मापदण्ड न्याय-व्यवस्था को ही स्वीकार किया है।[2] वास्तव में न्याय के अभाव में सभ्य राज्य या मानव-समाज की परिकल्पना ही नही की जा सकती है।

स्वामी दयानन्द ने अपने राज-दर्शन में न्याय-व्यवस्था के महत्त्व को पूर्णतः स्थापित कर आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन को सांगोपांग स्वरूप प्रदान किया है। दयानन्द ने न्याय-व्यवस्था के समस्त आयामों—विधि की संकल्पना, न्यायिक प्रक्रिया एवं दण्ड-विधान आदि—की विस्तृत रूप-रेखा प्रस्तुत की है, जो निम्नवत् है :

(अ) विधि की संकल्पना :

समाज की शांति, राष्ट्र की सुरक्षा और प्रगति तथा मानव-कल्याण के लिए विधि की अनिवार्यता को किसी न किसी रूप में समस्त पाश्चात्य तथा भारतीय दार्शनिकों ने स्वीकृति प्रदान की है। शब्द-व्युत्पत्ति के आधार पर कानून का बोध स्थिर एवं निश्चित स्थिति से

है। जब इसका प्रयोग विज्ञान के क्षेत्र में किया जाता है, तब इसका अर्थ ऐसे नियमों और सिद्धान्तों से होता है, जो अपरिवर्तनीय और अल्लंघनीय होते हैं—जैसे गुरुत्वाकर्षण का नियम, गति के नियम आदि। इसी प्रकार आचारशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र के क्षेत्रों में विधि का अलग-अलग रूपों में प्रयोग होता है। राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में विधि या कानून का सम्बन्ध राज्य के उन नियमों से माना जाता है, जो मानव के आचरणों को नियन्त्रित एवं निर्धारित करते हैं। विधि के लिए सर्वाधिक आवश्यक तत्त्व विधि प्रयोक्ता द्वारा दण्ड देने की शक्ति होती है। विधि के राज्य की संस्तुति को अनिवार्य माना जाता है।

(i) विधि का अर्थ :

स्वामी दयानन्द ने विधि को उपर्युक्त संकल्पनाओं एवं मान्यताओं से भी उच्च स्थिति प्रदान की है। उनके लिए विधि, मनुष्यों के समस्त बाह्य क्रिया-कलापों को नियन्त्रित तथा निर्देशित करने वाला सूत्र मात्र ही नहीं है. जिससे राज्य के प्रशासन का संचालन होता है, अपितु विधि का सम्बन्ध धर्म (वेदोक्त) एवं नैतिकता से भी है। वह मानव के लौकिक उद्देश्यों की पूर्ति के साथ ही पारलौकिक लक्ष्य से भी सम्बन्ध है

स्वामी दयानन्द ने विधि को प्राकृतिक विधि से उपमित करते हुए लिखा है कि, "जैसे ईश्वर के नियमों में सूर्य की किरणें आदि पदार्थ यथावत् वर्त्तमान हैं, वैसे ही तुम (राजा) प्रजापुरुषों को भी राजनीति के नियमो में वर्तना चाहिए।"[3] इससे स्पष्ट होता है कि राज्य के सफल संचालन हेतु विधि उसी प्रकार आवश्यक है, जैसे सृष्टि के संचालन के लिए प्राकृतिक या ईश्वरीय विधि की आवश्यकता होती है। दयानन्द ने वैदिक मान्यतानुकूल विधि को 'धर्म' की संज्ञा प्रदान करते हुए स्पष्ट किया है कि, "……ऐसा वह कानून होय, जिससे यह लोक और परलोक दोनों शुद्ध होवें। वह कानून धर्म से कुछ भी विरुद्ध न होवे, क्योंकि धर्म नाम है न्याय का और न्याय नाम है पक्षपात का न छोड़ना।"[4]

उल्लेखनीय है कि महर्षि ने धर्म को संकुचित अर्थों में प्रयुक्त न कर न्याय, सत्य, सद्गुण एवं ऋत् (प्राकृतिक विधान) के रूप में प्रयुक्त किया हैं।[5] स्पष्ट है कि ऋषि की विधि की संकल्पना उसी धर्म (सत्य और न्याय) की अवधारणा से जुड़ी हुई है। महर्षि के लिये विधि एक सार्वभौमिक आध्यात्मिक अवधारणा है, जो वैदिक 'ऋत्' की ही प्रतिकृति है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि दयानन्द की विधि की अवधारणा में राजसत्ता (राज्य) और धर्मसत्ता (ईश्वर) दोनों का सम्यक् सन्तुलन विद्यमान है।

(ii) विधि के उद्देश्य :

स्वामी दयानन्द की विधि की संकल्पना में ही यह स्पष्ट संकेत प्राप्त हो जाता है कि विधि का उद्देश्य मात्र लौकिक कल्याण ही नहीं, अपितु पारलौकिक हित भी है। वह मानव के बाह्य आचरणों का नियन्ता होने के साथ ही साथ नैतिकता, आध्यात्म एवं जीवन से उच्चतर मूल्यों का संरक्षण और संवर्द्धन करने वाला भी है। एक विज्ञापन में दयानन्द ने विधि को लोक-परलोक से संयुक्त बताते हुए लिखा कि, "ऐसा कानून राजा और प्रजा को चलाना चाहिए और मानना चाहिए, जिससे द्यूत, चोरी, परस्त्रीगमन और मिथ्या साक्षी और बाल्यावस्था में विवाह और विद्या का लोप न होने पावे .....।"[6] दूसरे शब्दों में, विधि का सर्वोपरि उद्देश्य धर्म (न्याय) की स्थापना, सामाजिक कुरीतियों का निवारण, स्वास्थ्य-सम्वर्द्धन, मानव-कल्याण तथा व्यक्तित्व का विकास, शांति तथा सुव्यवस्था की स्थापना, स्वतन्त्रता और समानता की रक्षा, भय एवं आतंक की समाप्ति के साथ ही साथ पारलौकिक हितों का संरक्षण भी है।

(iii) विधि के स्रोत :

सामान्यतः रीति-रिवाज, धर्म, न्यायालयों के निर्णय, टीकाएँ, औचित्य,, न्यायानुकरण तथा विधायन आदि को ही कानून का स्रोत

माना जाता है । परन्तु, स्वामी दयानन्द ने विधि के स्रोतों को इससे भी विस्तृत आयाम प्रदान किया है। उन्होंने यह निर्दिष्ट किया है कि, "राजा सनातन वेदोक्त राज-धर्म-नीति से प्रजा का पालन करे।"[7] इससे यह भासित होता है कि ऋषि ने वेद तथा स्मृत्यादि आर्षग्रन्थों के निर्देशों को ही विधि का स्रोत स्वीकार किया है । यही कारण है कि उन्होंने विधि निर्माताओं-हेतु वेदज्ञ होना आवश्यक बताया है)

परन्तु, कभी ऐसा भी हो सकता है कि किसी आवश्यक नियम वा व्यवस्था के सम्बन्ध में आर्ष ग्रन्थों में कोई स्पष्ट व्यवस्था न हो, तो क्या हो? इस प्रश्न पर दयानन्द ने यह व्यवस्था दी है कि, "हे गृहस्थ लोगों ! जो धर्म-युक्त व्यवहार मनुस्मृति आदि में प्रत्यक्ष न कहे हों, यदि उनमें शंका होवे, तो तुम जिसको शिष्ट आप्त विद्वान् कहे, उसी को शंका-रहित कर्त्तव्य धर्म (नियम) मानो ।"[8] इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्द ने वेद एवं स्मृति आदि को विधि का मूलस्रोत मानते हुए विशेष परिस्थिति में वेदज्ञ विद्वानों के निर्णय को भी विधि के आधार के रूप में मान्यता प्रदान की है। किसी बिन्दु पर स्पष्ट वैज्ञानिक (वैदिक) व्याख्या के अभाव में वेदविदों के निर्णय को मान्यता देकर ऋषि ने 'औचित्य' को विधि के स्रोत के रूप में स्पष्टतः स्वीकार किया है।

(iv) विधि-निर्माण-प्रक्रिया :

विधि-निर्माण के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द की व्यवस्था है कि राजा और सभाओं द्वारा वेदोक्त रीति से विधि का निर्माण किया जाना चाहिए। महर्षि ने विधायन के क्षेत्र में तीनों सभाओं की सक्रिय भूमिका को स्वीकार करते हुए लिखा है कि, "तीनों सभाओं की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम और नियमों के आधीन सब लोग वर्ते.....।"[9] इसी आशय का एक पत्र उदयपुर के महाराणा

श्री सज्जन सिंह को लिखा कि, "जो-जो सामयिक नियम और उप-नियम नियत करना होवे तो पूर्वोक्त समाज (तीनों सभाओं) और वेदादिशास्त्रों के अनुसार निश्चित करें और करावें।"[10] इन कथनों से स्पष्ट है कि विधि का निर्माण राजा द्वारा सभाओं की सहमति और स्वीकृति से ही किया जाएगा।

परन्तु, दयानन्द ने आजकल की भाँति बहुमत (संख्या) पर बल न देकर गुणवत्ता पर बल दिया है। उनका अभिमत है कि, "यदि एक अकेला सब वेदों का जानने हारा, द्विजों में उत्तम संन्यासी जिस (विधि) की व्यवस्था करें, वही श्रेष्ठ धर्म है, क्योंकि अज्ञानियों का सहस्रों, लाखों और क्रोड़ों मिल के जो कुछ व्यवस्था करें, उसको कभी न मानना चाहिए।"[11] अन्यत्र भी महर्षि ने विधि निर्माण में वेदविदों को महत्त्व देते हुए लिखते हैं कि, "राजसभा के सभासद् भी वेदज्ञ विद्वानों की आज्ञा का उल्लंघन न करें (यजु० भा० 7.35), क्योंकि जो राजपुरुष और प्रजापुरुष वेद और ईश्वर की आज्ञा को छोड़ के अपनी इच्छा के अनुकूल प्रवृत्त होवे तो इनकी उन्नति का विनाश क्यों न हो (यजु० भा० 10.18)।"

स्वामी दयानन्द के विधि-निर्माण की एक महत्त्वपूर्ण इकाई प्रजा की सहमति भी है। उन्होंने महाराणा श्री सज्जन सिंह को एक पत्र में[12] निर्देशित किया था कि प्रजा से सम्बन्धित विधियों का प्रचारित कर उस पर प्रजा की सहमति और स्वीकृति लेने के पश्चात् ही उस विधि को क्रियान्वित करे तथा यदि प्रजा को स्वीकृति न हो, तो उसे कदापि लागू न करे। इस प्रकार स्पष्ट है कि तत्कालीन भारत में महर्षि ही वह सर्वप्रथम चिन्तक थे, जिन्होंने विधि-निर्माण में धर्मपरायणता, गुणवत्ता, लोककल्याण जैसी मान्यताओं के साथ-साथ प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त 'जनमत-संग्रह' को व्यहृत करने का उद्घोष किया।

(v) विधि का अनुपालन :

स्वामी दयानन्द ने विधि के निर्माण के साथ ही साथ विधि-प्रयुक्ति, विधि-अधिनिर्णय तथा विधि-अनुपालन पर भी पर्याप्त बल दिया है।

उनका मत है कि 'जो विद्य, धर्म वा राज-सभाओं द्वारा आज्ञा प्रकाशित हो, सब मनुष्य उसका श्रवण तथा अनुष्ठान करें (ऋ० भा० 144.14) तथा परमेश्वर वा विद्वान् जिन कर्मों के करने की आज्ञा देवे उनको करो और जिनका निषेध करें उनको छोड़ दो (ऋ० भा० i, 79,127)' परन्तु, यह सर्वविदित है कि भय के बिना विधि का अनुपालन होना सम्भव नहीं हैं, क्योंकि उपदेशों से सभ्यजन ही विधि का पालन करते हैं, जबकि दुष्टजन के लिए दण्ड की आवश्यकता पड़ती है। इसीलिए दयानन्द ने उदयपुर के महाराणा श्री सज्जन सिंह को 'दिनचर्या के नियम' वाले पत्र में यह निर्देश दिया कि राजा को चाहिए कि वह आज्ञा निर्गत करने के पूर्व ही सर्वहित समझ ले और जब आज्ञा निर्गत हो जाय तो अधिष्ठाता लोग राजाज्ञा को अपने प्राण से भी अधिक मानें। जो न माने, वह शत्रुवत् दण्डनीय होगा। इसीलिए राजनीति को ही राजा मानना चाहिए।[13] इसी पत्र में दयानन्द ने पुनः राजा का ध्यान आकर्षित करते हुए लिखा है कि, जो यथोक्त समय में आज्ञा को यथावत् प्रीति से पूरी करे, उसका सत्कार ·····जो यथोचित न करे उसका अपमान, दण्ड और ह्रास किए बिना कभी न छोड़े।"[14]

उदयपुर-नरेश को लिखे पत्र में विधि के अनुपालन सम्बन्धी निर्देशों में उल्लिखित यह वाक्य कि 'राजनीति को ही राजा मानना चाहिए' इस तथ्य का द्योतक है कि दयानन्द ने 'विधि की सर्वोच्चता' और 'विधि के शासन' जैसे अत्याधुनिक विधिशास्त्र के सिद्धान्त का पूर्व ही प्रतिपादन किया है। उनका मत है कि विधि के समक्ष राजा-प्रजा, स्त्री-पुरुष आदि के आधार पर किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया जाना चाहिए। सबके लिए समान विधि हो तथा सबको विधि का समान संरक्षण प्राप्त हो। शासन विधि का होना चाहिए, व्यक्ति का नहीं। स्वामी दयानन्द ने शासन के राजतन्त्रीय स्वरूप को स्वीकारते हुए भी विधि की महत्ता पर जो प्रकाश डाला है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उन्होंने विधि-शासन सम्मत सीमित एवं नियन्त्रित राजतन्त्र को

अपनी स्वीकृति दी है, जिसके अनुसार समस्त राज-प्रजा पुरुष, यहाँ तक कि स्वयं राजा भी विधि के अधीन होंगे, स्वतन्त्र नहीं।

(ब) न्याय की संकल्पना :

विधि और न्याय एक दूसरे के पूरक हैं। न्याय साध्य है और कानून उसका साधन। न्याय कानून का अन्तिम पथ-प्रदर्शक है और कानून वह बुनियादी तकनीकि है, जिसके द्वारा न्याय की प्राप्ति हो सकती है। प्रसिद्ध राजनीतिक विचारक बार्कर का मत है कि, "राजसत्ता विधि को वैधता प्रदान करती है, और न्याय इसे मूल्य प्रदान करता है।"[15] इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि विधि और न्याय का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। यही कारण है कि प्रत्येक पाश्चात्य एवं पौर्वात्य दार्शनिकों ने विधि और न्याय की अवधारणा का प्रतिपादन समवेत रूप में ही किया है।

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में न्याय को 'धर्म' का प्रतीक माना गया है तथा इसी के कारण न्यायाधीश को 'धर्माध्यक्ष' या 'धर्माधिकारी' और न्यायालय को 'धर्माधिकरण' की संज्ञा प्रदान की गई है। याज्ञवल्क्य ने घोषित किया है कि निष्पक्ष न्याय से वही फल प्राप्त होता है, जो पवित्र वैदिक यज्ञों से प्राप्त होता है।[16] स्पष्ट है कि भारतीय हिन्दू चिन्तन न्याय को धर्म और यज्ञ की संज्ञा प्रदान कर उसकी महत्ता और उपयोगिता को सार्वभौमिक स्थिति प्रदान करता है।

(i) न्याय का अर्थ एवं महत्त्व :

वेदानुयायी स्वामी दयानन्द ने भारतीय वैदिक परम्परानुसार ही न्याय को 'धर्म' माना है। उनका मत है कि, "जो पक्षपात-रहित सत्याचरण करता है, वह न्याय और जो पक्षपात मिथ्याचरण करता है, वह अन्याय कहाता है।"[17] अपनी न्याय-अवधारणा को धर्माचरण से सयुक्त करते हुए दयानन्द ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि, "धर्म नाम है न्याय का और न्याय नाम है पक्षपात का छोड़ना।"[18] इसीलिए उन्होंने न्याय

पूर्वक राज्य-पालन को क्षत्रियों (राजाओं) का 'अश्वमेध'[19] यज्ञ तथा मोक्ष का कारण[20] भी स्वीकार किया है। उनका मत है कि, 'वही राजा है, जो न्याय को बढ़ाने वाला हो (यजु० भा० 17.15), जैसे प्रातः बेला सबको चैतन्य करती है, वैसे न्याय से सम्पूर्ण प्रजाओं को चैतन्य करो (ऋ० भा० 4.40.1); जैसे सूर्य और चन्द्रमा नियम से दिन-रात्रि चलते हैं, वैसे न्याय-मार्ग को प्राप्त हूजिए (ऋ० भा० 5.52.15)।'

दयानन्द ने राजा के कर-प्राप्ति के अधिकार का न्याय से प्रजा का पालन करना बताते हुए लिखा है कि, "यदि राजा न्याय से प्रजा की रक्षा न करे और प्रजा से कर लेवे तो जैसे प्रजा नष्ट हो वैसे ही राजा भी नष्ट होता है।"[21] महर्षि न्याय के प्रति इतने आस्थावान थे कि उन्होंने ईश्वर से इसके लिए प्रार्थना भी की है। उन्होंने न्याय-युक्त राज्य को 'आज'[22] की संज्ञा प्रदान करते हुए ईश्वर से यह प्रार्थना की है कि, "हे राजाधिराज ! जैसा सत्य-न्याय-युक्त अखण्डित आप का राज्य है, वैसा न्याय-राज्य हम लोगों का भी आपकी कृपा से स्थिर हो.....हे न्यायप्रिय ! हमको भी न्यायप्रिय यथावत् कर। हे धर्माधीश ! हमको धर्म (न्याय) में स्थिर रख.....।"[23] यही नहीं, उन्होंने महाराणा श्री सज्जन सिंह को निर्देश दिया कि, "सदा बलवान और राजपुरुषों से सताए हुओं की पुकार, यदि भोजन पर बैठे हों, तो भोजन को भी छोड़ के उनकी बात सुननी और यथोचित उनका न्याय करना। ऐसा न होवे कि निर्बल अनाथ लोग बलवान और राजपुरुषों से पीड़ित हो के रुदन करें और अश्रुपात भूमि पर गिरे कि जिससे सर्वनाश हो जावे।"[24] दयानन्द ने न्याय की महत्ता पर इतना बल दिया है कि उन्होंने अन्यायी राजा के अन्न-ग्रहण को भी पाप घोषित किया है।[25] उनकी मान्यता है कि, "जिस सभा वा न्यायाधीश के सामने अन्याय हो..... वह दोष सभाध्यक्ष, सभासद् और न्यायधीश का ही गिना जाता था.....आर्यावर्त्त न्याय-घर में कभी अन्याय नहीं होता था। और

जहाँ होता था, वहाँ उन्हीं न्यायाधीशों को दोष देते थे.....इन्हीं वेदादिशास्त्रों की रीति से आर्यों ने भूगोल में करोड़ो वर्ष राज्य किया है।"[26]

प्राचीन भारतीय आर्य-न्याय-व्यवस्था के प्रति दयानन्द की उपर्युक्त मान्यता तथा न्याय की आवश्यकता एवं महत्ता-सम्बन्धी उनके विचारों से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने न्याय को राज्य का परमधर्म मानते हुए उसकी अनिवार्यता पर विशेष बल दिया है। न्याय की महत्ता से सम्बन्धी दयानन्द की अवधारणा आधुनिक संविधान एवं विधि-शास्त्री पाश्चात्य विचारक जेम्स ब्राइस के इस विचार के समानान्तर है कि, "यदि न्याय का दीपक अन्धकार में विलीन हो जाय, तो वह अन्धकार (अन्याय) कितना दुखद और भयानक होगा।"[27] स्वामी दयानन्द अपनी सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था को इसी न्याय की संकल्पना पर आधारित करते हुए धर्म एवं विधि-सम्मत न्याय-व्यवस्था का प्रतिपादन करते हैं। उनके लिए न्याय राज्य की आत्मा है और समाज का वह सद्गुण है जो सम्पूर्ण व्यवस्था में परिव्याप्त है। न्याय का विनाश करना, मानव-सभ्यता का सर्वनाश करना है।

स्वामी दयानन्द प्रतिपादित न्याय की महत्ता उनके न्याय-प्रशासन के विवेचन की आवश्यकता को बल प्रदान करती है। न्याय-प्रशासन राज्य का अनन्य दायित्व है। महर्षि की सम्पूर्ण न्याय-व्यवस्था कहीं भी स्वतन्त्र एवं पृथक् रूप में वर्णित नहीं है। वस्तुतः न्याय-प्रक्रिया सम्बन्धी दयानन्द के विचार उनके ग्रन्थों, पत्रों-विज्ञापनों आदि में यत्र-तत्र विकीर्ण रूप में प्राप्त होते हैं, जिन्हें संकलित करने पर ही उनकी न्याय-प्रशासन की अवधारणा का सांगोपांग स्वरूप स्पष्ट होता है। उनके लिए न्याय का कार्य किसी एक व्यक्ति या संस्था का दायित्व न होकर सम्पूर्ण प्रशासनिक तन्त्र का है, जो निम्नवत् है—

(ii) न्यायिक संगठन :

स्वामी दयानन्द ने न्यायिक संगठन अथवा न्यायालय की संरचना

आदि का कहीं शीर्षक बद्ध उल्लेख नहीं किया है। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि न्याय का कार्य ग्रामीण स्तर पर न्याय-सभाओं तथा न्याय-पंचायतों द्वारा तथा राज्य स्तर पर राजा की अध्यक्षता में राजसभा और धर्मसभा द्वारा सम्पन्न किया जाएगा। अनूपशहर में स्वामी जी ने एक बार कहा था कि, "प्रत्येक ग्राम में एक पंचायत होनी चाहिए और कई ग्रामों के ऊपर एक न्याय-सभा भी होनी चाहिए।"[२९] इस कथन से यही इंगित होता है कि न्याय-कार्य-हेतु न्याय पंचायतों एवं न्याय सभाओं का एक प्राथमिक संगठन होना चाहिए। अपने पूना के एक प्रवचन में न्याय-कार्य के सम्बन्ध में धर्मसभा के कार्य का वर्णन करते हुए स्पष्ट किया कि, "धर्मसभा धर्माधर्म के विवेचन के अतिरिक्त न्यूनाधिक के विषय में राजार्यसभा को विदित करके राजार्यसभा की ओर से दण्डादि की व्यवस्था करती थी।"[२९] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि धर्मसभा राजार्यसभा की सहमति से न्याय-कार्य-हेतु अधिकृत संस्था थी। पूना प्रवचन में ही अन्यत्र राजसभा द्वारा न्याय किए जाने की चर्चा करते हुए बताया कि, "राजा सगर के दुष्ट और मूर्ख पुत्र असमंजा ने एक गरीब के बालक को पानी में फेंक दिया था। इसकी प्रार्थना का न्याय राजार्य सभा के सम्मुख होने पर राजा ने उसे शासन (दण्ड) किया।"[३०] इस कथ्य से स्पष्ट होता है कि राजा की अध्यक्षता में राजार्यसभा न्याय की सर्वोच्च संस्था (सर्वोच्च न्यायालय) थी।

उक्त तीनों कथनों तथा दयानन्द के स्थानीय स्वशासन की अवधारणा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि न्याय-कार्य की प्राथमिक इकाई ग्राम-पंचायत होगी तथा इसके पश्चात् तहसील (सौ ग्रामों का समूह) और जिला (एक हजार ग्रामों का समूह) स्तर पर न्यायालय होंगे। इसी प्रकार यह व्यवस्था दश सहस्र तथा लक्ष ग्रामों की राजसभाओं के स्तर पर उच्चन्यायालय के रूप में होगी। अन्ततः, सर्वोच्च न्यायालय के रूप में केन्द्रीय राजसभा (महाराज सभा अथवा सार्वभौम

चक्रवर्त्ती महाराज सभा) होगी, जिसमें सभी सभासद् न्यायाधीश के रूप में कार्य करेंगे और मुख्य न्यायाधीश के रूप में राजा सभी अन्य न्यायाधीशों (सभासदों) की सहमति और स्वीकृति से निर्णय देगा। उच्च एवं सर्वोच्च न्यायालय के संगठन के लिए सदस्यों की संख्या, योग्यता, नियुक्ति (चयन) आदि का सभाओं के संगठन के रूप में यथावत् स्वीकार करना ही समीचीन होगा।

(iii) न्यायाधीशों की अर्हताएँ :

चूंकि न्याय-कार्य राजा और सभासदों द्वारा सम्पादित किया जायगा, अतः जो अर्हताएँ एवं गुण आदि राजा और सभासदों के हैं, वे ही न्यायाधीश-हेतु भी वांछनीय हैं। पुनरपि, दयानन्द ने न्याय-कार्य को ध्यान में रखते हुए कतिपय गुणों का यत्र-तत्र पृथक् रूप में भी उल्लेख किया है, जिससे न्यायाधीशों की अर्हता का ज्ञान हो जाता है। यथा— न्यायाधीश में वायु के समान सबके प्राणवत् प्रिय और हृदय की बात जाननेहारा, यम की भाँति पक्षपात-रहित, सूर्य-तुल्य न्याय, धर्म और विद्या का प्रकाशक तथा अन्धकार, अविद्या एवं अन्याय का निरोधक, अग्निवत् दुष्टों को भस्म करने वाला[31], असत्य को छोड़ सत्य का ग्रहण करने वाला, अन्यायकारी को नष्ट और न्यायकारी को बढ़ानेवाला, स्वात्मवत् सबका सुख चाहने वाला[32], सत्यकारी, सत्यवादी, सत्यमानी[33], शुद्ध अन्तः करणवाला[34], सूर्य और चन्द्रमादि के गुणों से युक्त[35], अग्निवत् तेजस्वी और वेगवान[36], मित्र गुण युक्त[37] (न्याय करते समय न्यायाधीश के हृदय में मित्र या शत्रु का भाव न हो) आदि हों। दयानन्द ने तेजोमय दण्ड के धारक व्यक्ति को सभी दृष्टियों से सामर्थ्यवान् होना आवश्यक भी बताया है[38], क्योंकि यदि वह व्यक्ति गुण, कर्म, स्वभाव से सर्वश्रेष्ठ नहीं होगा तो दण्ड-धारण में सक्षम ही नहीं होगा।

उपर्युक्त अर्हताओं के विवेचन से स्पष्ट है कि दयानन्द ने न्यायाधीश हेतु शैक्षिक अर्हताओं के अतिरिक्त उच्चतम नैतिक एवं आध्यात्मिक

गुणों को सम्भवतः इसलिए आवश्यक बताया है कि दण्ड का धारण अविद्वान् और अधर्मी जन न कर सकें। उसे विद्वान्, विश्ववित्, सुमेधा, ऋषिमना, वचोवित, तथा सुश्रुवा आदि गुण धारक व्यक्ति ही धारण करें।

(iv) न्याय-प्रशासन में स्त्रियों की सहभागिता :

स्वामी दयानन्द ने न्याय-कार्य-हेतु मात्र पुरुषों को ही नहीं, अपितु स्त्रियों को भी अर्ह घाषित किया है।[39] उनका अभीष्ट था कि स्त्रियों को भी पुरुषों की ही भाँति शिक्षित और प्रशिक्षित किया जाना चाहिए, जिससे कि वे राज्य-कार्य और न्याय-प्रशासन आदि में पुरुषों से पीछे न रहें। न्याय-कार्य में नारी की सहभागिता के कारणों का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है कि, 'राजाओं की स्त्रियों को चाहिए कि सब स्त्रियों के लिए न्याय और अच्छी शिक्षा देवें और स्त्रियों का न्यायादि पुरुष न करें, क्योंकि पुरुषों के सामने स्त्री लज्जित और भययुक्त हो कर यथावत् बोल वा पढ़ ही नहीं सकती।"[40] इसीलिए ऋषि का मत है कि— 'रानी राजा के प्रति कहे कि मैं आप से न्यून नहीं हूँ। जैसे आप पुरुषों के न्यायाधीश हो, वैसे मैं स्त्रियों का न्याय करने वाली होती हूँ (ऋ० भा० 1.126.7)।" पुनश्च, जिस देश वा नगर में विदुषी स्त्री स्त्रियों का न्याय करने वाली और पुरुषों का न्याय करने वाला विद्वान् पुरुष हो, उस देश वा नगर में दिन-रात्रि निर्भय होते हैं (ऋ० भा० 2.27.14)।' दयानन्द द्वारा न्याय-प्रशासन जैसे राज्य-कार्य में स्त्रियों की सहगागिता का उद्घोष तत्कालीन भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में एक अभूतपूर्व क्रान्ति का सूत्रपात था, जिसके अनुकरण हेतु कालान्तर में लोगों को बाध्य होना पड़ा।

(v) न्यायालय में न्यायाधीश का व्यवहार :

स्वामी दयानन्द ने न्यायालय में न्यायाधीश के प्रवेश, आचरण एवं व्यवहार आदि को न्यायिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण माना है। उनका

विश्वास था कि इससे न्याय की प्रक्रिया, निर्णय आदि पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। अतः उनका मत है कि, "जब सभा (न्यायालय) में जावे, तब दृढ़ निश्चय कर लेवे कि मैं सत्य को जिताऊँ और असत्य को हराऊँगा।"[41] महाराणा श्री सज्जन सिंह को इस सन्दर्भ में विस्तार से लिखा कि, "जब न्याय-स्थान पर जावे तब सब प्रजास्थ वादी-प्रतिवादी, साक्षी, राजपुरुष, सम्प्रेक्षक आदि मनुष्यों को प्रसन्न वदन कृपा-दृष्टि से आनन्दित करे। दक्षिण (दाहिना) हाथ उठा कर सबको स्वास्थ्य, अभय-दान देकर न्यायासन पर बैठ, सर्वव्यापक यथावत् न्यायकारी, अन्तर्यामी को मन से नेत्रोन्मीलन करके प्रार्थना करे कि, 'हे परमेश्वर ! आप की कृपा-दृष्टि हो, जिसे मैं चाहता हूँ कि कभी काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोकादि के वश हो के अन्याय न करूँ। ऐसा अनुग्रह आप भी कीजिए।"[42]

उपर्युक्त निर्देशों में न्यायाशीश के वाह्य आचरण एवं व्यवहार के वर्णन में दयानन्द ने प्रसन्नचित्त रहने, अभय-दान-हेतु हाथ उठा कर सबको आश्वस्त करने आदि का जो संकेत किया है, उससे स्पष्ट होता है कि स्वामी जी ने न्याय के व्यावहारिक एवं मनोवैज्ञानिक पक्ष को अत्यधिक महत्त्व दिया है, जिसका सम्पूर्ण न्यायिक प्रकिया में विशिष्ट स्थान है। वास्तव में, न्यायाधीश के इस प्रकार के आचार-व्यवहार से वादी-प्रतिवादी, साक्षी तथा अधिवक्तागण सर्वथा तनाव-मुक्त एवं निर्भय होकर अपना पक्ष प्रस्तुत करने में समर्थ होंगे, जिससे सत्य एवं न्याय की प्रतिस्थापना का कार्य सहज और सरल हो जाएगा। दयानन्द का न्यायाधीश द्वारा न्यायालय में ईश्वर का स्मरण करने का सुझाव उसे निष्पक्ष निर्णय-हेतु आत्मबल प्रदान करने के लिए है।

(vi) न्याय-कार्य का समय :

दयानन्द ने राजा को न्याय-कार्य के लिए प्रतिक्षण उद्यत रहने का संकेत दिया है। उनका अभिमत है कि यदि राजा भोजन पर भी बैठा

हो, तो भी उसे न्याय के लिए भोजन छोड़ कर चल देना चाहिए। अपने वेद-भाष्य में महर्षि कहते हैं कि—हे राजन् .....हम सब जब आपको पुकारें, उसी समय आप को आना चाहिए तथा हम लोगों के वचन सुनना और यथार्थ न्याय करना चाहिए (ऋ० भा० 3.40.8)।

परन्तु, प्रशासनिक सुविधा को दृष्टिगत करते हुए ऋषि ने कतिपय विशिष्ट प्रकार के मामलों को सुनवायी के लिए पृथक्-पृथक् दिन निर्धारित किया है। इस सम्बन्ध में उनका मत है कि "प्रत्येक सप्ताह में गुरुवार के दिन ऋणदानादि में विवाद अर्थात् दिवानी का न्याय करें। रविवार के दिन साहसिकों का अर्थात् फहोजदारी का न्याय करें ... .मंगल के दिन किसी राजपुरुष ने वा अन्य राज्य से प्रजास्थ का राजजन पीड़ित हुए हों, उनकी बातें (सुनें).....।"[43] अर्थात् बृहस्पतिवार के दिन दीवानी के विवाद, रविवार के दिन फौजदारी और मंगलवार के दिन राजपुरुष या परराज्य सम्बन्धी विवादों की सुनवायी की जाय। इस प्रकार कहा जा सकता है कि दयानन्द ने न्याय-कार्य के सुचारु संचालन तथा प्रजा की सुविधा को ध्यान में रखते हुए यद्यपि कि विभिन्न दिनों का निर्धारण किया है, पुनरपि महर्षि ने न्याय के कार्य को अनवरत चलने वाली प्रक्रिया माना है। प्रजा को जब भी न्याय की आवश्यकता पड़े, राजा उसकी यथाशीघ्र पूर्ति करे।

(vii) विवादों के प्रकार (भेद):

स्वामी दयानन्द ने न्याय-कार्य के काल-निर्धारण में प्रमुख रूप से तीन प्रकार के विवाद बताए हैं—दिवानी, आपराधिक (फौजदारी) तथा वैधानिक। महाराणा श्री सज्जन सिंह को लिखे एक पत्र में ऋषि ने इस सम्बन्ध में निर्दिष्ट किया है कि, यदि भूमिधन, धरावट, सीमा आदि जितने विवाद लेख-वचन से हों अथवा साहस, मारपीट, कुवचन आदि से दूसरे को पीड़ा वा हानि पहुँचावे, उनका भी न्याय यथोचित करना।"[44] अन्यत्र महर्षि ने अन्याय को अधर्म बताते हुए उसके निम्न-लिखित दश प्रकार बताएँ हैं जिन्हें विवादों के प्रकार के रूप में समझा

जा सकता है"[45] तीन मानसिक अधर्म—पर द्रव्य-हरण अथवा चोरी, लोगों का बुरा चिन्तन करना तथा मिथ्या निश्चय करना; चार वाचिक अधर्म-कठोर भाषण, झूठ बोलना, चुगली करना तथा असम्बद्ध प्रलाप करना; तीन शरीरिक अधर्म—चोरी, हिंसा तथा व्यभिचार।

स्वामी दयानन्द ने मनुस्मृति के अष्टम अध्याय के कतिपय श्लोकों के आधार पर निम्नलिखित अठारह प्रकार के विवाद बताए है[46] :

1. ऋण लेने-देने का विवाद, 2. धरावट, अर्थात् किसी ने किसी का पदार्थ रखा हो और माँगने पर न देना, 3. दूसरे का पदार्थ कोई दूसरा बेच ले, 4. मिल-मिलाके किसी पर अत्याचार करना, 5. दिए हुए पदार्थ को न देना, 6. वेतन अर्थात् किसी की नौकरी में से ले लेना या कम देना, 7. प्रतिज्ञा के विरुद्ध वर्तना, 8. लेन-देन में झगड़ा होना, 9. पशु-स्वामी और पालने वाले का झगड़ा, 10. सीमा-विवाद, 11. किसी को कठोर दण्ड देना, 12. कठोर वाणी का बोलना, 13. चोरी-डाका करना. 14. किसी काम को बलात्कार से करना, 15. स्त्री या पुरुष का व्यभिचार होना, 16. स्त्री-पुरुष के धर्म में व्यतिक्रम होना 17. विभाग अर्थात् दाय भाग में बाद उठाना, 18, द्यूत अर्थात् जड़ पदार्थ और चेतन को दाव में धर के जुआ खेलना।

उपर्युक्त विवादों के अतिरिक्त स्वामी दयानन्द ने यत्र-तत्र यथोक्त समय पर आज्ञा (नियम) का पालन न करना, रिश्वत लेना, राजाज्ञा भंग करना, अन्याय करना, वेद की निन्दा करना, मादक द्रव्यों का सेवन करना, पशु-हिंसा करना, आदि विभिन्न अपराधों का उल्लेख किया है, जिसे विवादों के प्रकार के अन्तर्गत ही समझना चाहिए।

(viii) साक्षी :

न्यायिक प्रक्रिया में निर्णय के पूर्व साक्षी की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। इसके अभाव में न्याय का कार्य अपूर्ण तथा दुरूह हो जाता है। संस्कृत-भाषा के व्याकरणाचार्य महर्षि पाणिनि ने 'साक्षी' का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि, "साक्षी उसे कहते हैं, जिसने साक्षात्

देखा हो।"[47] पाणिनि की यह परिभाषा साक्षी की पात्रता को इंगित करती है।

साक्षी की भूमिका को स्पष्ट करते हुए स्वामी दयानन्द ने लिखा है कि, "अर्थी-प्रत्यर्थी के वचनों को सुनकर ही न्याय करें।"[48] यद्यपि कि यहाँ ऋषि ने वादी-प्रतिवादी के वचनों को सुनने का निर्देश दिया है, परन्तु निहित रूप में साक्षी की संकल्पना स्पष्ट प्रतीत होती है। दयानन्द ने न्याय-व्यवस्था के अन्तर्गत सर्वप्रथम साक्षी की पात्रता का उल्लेख करते हुए लिखा है कि, "सब वर्णों में धार्मिक, विद्वान्, निष्कपटी, सब प्रकार धर्म को जानने वाला, लोभ रहित सत्यवादियों को न्याय-व्यवस्था में साक्षी करे .....स्त्रियों की साक्षी स्त्री, द्विजों के द्विज, शूद्रों के शूद्र और अन्त्यजों के अन्त्यज साक्षी हों।"[49]

दयानन्द ने साक्षियों के दो भेद निर्दिष्ट किए हैं—प्रथम, साक्षात् देखने वाला और दूसरा, सुनने वाला।[50] परन्तु, बलात्कार तथा चोरी आदि कतिपय ऐसे गुप्त अपराध भी होते हैं, जिसका कोई प्रत्यक्षदर्शी नहीं होता है। अतः, ऐसे अपराधों के सम्बन्ध में दयानन्द ने साक्षी को आवश्यकता नहीं समझा है। इस सम्बन्ध में उनका मत है कि, "जितने बलात्कार, कामचोरी, व्यभिचार, कठोर वचन, दण्ड-निपात् रूप अपराध हैं, उनमें साक्षी की परीक्षा न करें और अत्यावश्यक भी समझें, क्योंकि ये सब काम गुप्त होते हैं।"[51] दयानन्द के उक्त कथन में व्यावहारिक दृष्टि परिलक्षित होती है। स्पष्ट है कि यदि उपर्युक्त अपराध गुप्त होते हैं, तो उसका साक्षी निश्चय ही बनावटी और असत्य होगा। ऐसे साक्षियों के कथनों (साक्ष्यों) से प्रभावित निर्णय निष्पक्ष और सत्य नहीं हो सकते। आजकल, प्रायः इस प्रकार के विवादों में भी साक्षी के बिना न्याय-कार्य सम्पन्न नहीं होता है। यह हमारी वर्तमान न्याय-व्यवस्था का दोष है।

((ix) शपथ :

साक्षियों द्वारा साक्ष्य देने के पूर्व सत्य-भाषण के लिए शपथ-ग्रहण करने की परम्परा अभिनव नहीं है। स्वामी दयानन्द ने भी साक्षी के

कर्त्तव्याकर्त्तव्य के अभिज्ञान एवं दुर्भावना की समाप्ति-हेतु कठोर शपथ का प्राविधान किया है। उनका मत है कि, "उनको कठिन से कठिन शपथ करावे.....और यह भी जना देवे कि मिथ्या बोलने, मानने और करने वाले को इस जन्म और परजन्म में सुख वा प्रतिष्ठा नहीं होती है। और देखो, थोड़ेसे जीवन में धर्मात्मा अर्थात् सत्यवादी, सत्य-मानी, सत्यकारी मनुष्य धर्मार्थ काम मोक्ष फलों को प्राप्त होता है। .... जैसा कुछ तुम्हारा आत्मा में हो वैसा जीभ से बोले।"[52] अन्यत्र भी महर्षि ने निर्देश देते हुए लिखा है कि, "जो साक्षी सत्य बोलता है, वह जन्मान्तर में उत्तम जन्म और उत्तम लोकान्तरों में जन्म को प्राप्त होके सुख भोगता है..... जो यह वाणी है, वही वेदों में सत्कार और तिरस्कार का कारण लिखी है .....सत्य बोलने से धर्म बढ़ता है..... .....आत्मा का साक्षी आत्मा और आत्मा का गति आत्मा है। इसको जान के हे पुरुष! तुम सब मनुष्यों का उत्तम साक्षी अपने आत्मा का अपमान मत कर.....जो दूसरा तेरे हृदय में अन्तर्यामी रूप से परमेश्वर पुण्य-पाप का देखने वाला मुनि स्थित है, उस परमात्मा से बोला कर।"[53]

स्वामी दयानन्द के साक्षी के कर्त्तव्य-बोध, औचित्य एवं धर्माधर्म सम्बन्धी उपर्युक्त निर्देशों के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि ऋषि द्वारा प्रस्तुत शपथ का स्वरूप वर्तमान व्यवस्था की भाँति मात्र एक सूत्रवाक्य के रूप में औपचारिकता का ही निर्वाह नहीं करता है, अपितु वह साक्षी के अन्तरात्मा को जागृत कर सत्य-न्याय की स्थापना करता है।

x) बहस एवं साक्ष्य-प्रक्रिया :

शपथ-ग्रहण की प्रक्रिया के समाप्त होते ही किसी भी विवाद के निर्णय-क्रिया की कार्यवाही के सम्बन्ध में दयानन्द का मत है कि, "न्यायाधीश और प्राङ्विवाक अर्थात् वकील वा बैरिस्टर इस प्रकार से

पूछे—हे साक्षियो ! इस कार्य में इन दोनों के परस्पर कर्मों में जो तुम जानते हो उसको सत्य के साथ बोलो। तुम्हारी इस कार्य में साक्षी है।"[54] साक्षियों द्वारा जब साक्ष्य दिया जा रहा हो, तो उस समय न्यायाधीश को यह ध्यान रखना चाहिए कि, "जब अर्थी वा प्रत्यर्थी अथवा साक्षी जो कुछ स्वभाव से बोले, उस पर अतीव ध्यान देकर विचार करें ....जब वे कुछ भाषण करें, वह सब लिपिबद्ध होवे। उनके नेत्र तथा मुखाकृति की ओर देखकर भीतर के आशय को पहचाने ... बैरिस्टर वा वकील जो कुछ प्रश्नोत्तर (बहस) करे, उस पर ध्यान देकर सुने तथा लिखे। यदि जहाँ-जहाँ पूछ उचित हो, पूछे। बीच में अन्य-अन्य संवाद करके वक्र (ता) वा सरलता से प्रश्न करे।"[55] महर्षि का स्पष्ट मत है कि, 'राजा वादी और प्रतिवादी का लिखा-पढ़ी पूर्वक न्याय करे (ऋ० भा० 6.53.7) तथा चेहरे पर ध्यान दे, क्योंकि मनुष्य जब सत्य कहते हैं, तब उनके मुख की आकृति मलीन नहीं होती और जब झूठ कहते हैं, तब उनका मुख मलीन हो जाता है (ऋ० भा० 1.181.8)।

उपर्युक्त कथनों में दयानन्द ने न्यायालय की सम्पूर्ण कार्यवाही को सजीव रूप में प्रस्तुत करते हुए यह सुझाया है कि न्यायाधीश को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से साक्षियों तथा वादी-प्रतिवादि आदि के कथनों और भाव-भंगिमाओं को देखकर सत्यासत्य का अनुमान करना चाहिए, जिससे वास्तविकता का स्पष्टीकरण हो जाय। सम्पूर्ण न्यायिक कार्यवाही को लिपिबद्ध भी किया जाना चाहिए, जिससे निर्णय-निर्माण में सुविधा हो सके।

दयानन्द का विचार है कि यदि सामान्य रूप से तथ्यान्वेषण न हो सके तो, सुपरीक्षित धार्मिक पुरुष तथा स्त्रियों की साक्षी में स्त्रियों से पूछ-ताछ करनी चाहिए। यदि इस प्रक्रिया द्वारा भी सत्यासत्य का निर्णय न हो सके, तो गुप्त ढग से दूतों (गुप्तचरों) के माध्यम से साक्षियों को बात-चीत करते सुनकर प्राप्त सूचना के आधार पर निर्णय करे।[56]

महर्षि को सम्भवतः इस बात का अदेशा रहा कि यदि साक्षी एक ही स्थान पर रहेंगे, तो वे अपने कथन या साक्ष्य समान रूप से तैयार कर सकते हैं। अतः, उन्हें एक दूसरे से पृथक् रखने का भी निर्देश दयानन्द ने दिया है।[57] उनका यह भी मत है कि लोभ, मोह, भय, मित्रता, काम, क्रोध, अज्ञान और बालकपन से दिए गए साक्ष्य को मिथ्या समझना चाहिए।[58] साक्षी के उस वचन को मानना चाहिए, जो स्वभाव ही से व्यवहार सम्बन्धी बोले। न्यायाधीश को चाहिए कि वह सिखाए हुए साक्ष्य को व्यर्थ समझे।[59]

उपर्युक्त बहस एवं साक्ष्य-प्रक्रिया अर्थात् किस प्रकार के साक्ष्य को मानना चाहिए और किसे नहीं, के समस्त सन्दर्भों के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्द ने एक न्यायवेत्ता की भांति न्यायिक कार्यवाही के प्रसंग में मानवोचित दुबलताओं तथा न्यायिक कुप्रथाओं को ध्यान में रखते हुए सत्य, न्याय एवं धर्म की स्थापना-हेतु व्यावहारिक तथा उपयोगी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया हैं।

(xi) स्त्रियों का साक्ष्य स्त्री (रानी या वकील) ले :

स्वामी दयानन्द का स्पष्ट विचार है कि पुरुषों का साक्ष्य पुरुष तथा स्त्रियों का साक्ष्य स्त्री ले। महाराणा श्री सज्जन सिंह को महर्षि ने निर्देशित भी किया था कि, "स्त्रियों को साक्षी में स्त्री जनों से पूछ-कर निश्चय करें। परन्तु, स्त्रियों से राणी पूछे। अथवा यदि पड़दे में रक्खें, तो बड़े प्रबन्ध से रख के पूछे कि वहाँ उसके बदले दूसरी स्त्री न बोले। यदि सामने होवे, तो न कोई उस पर दृष्टि डाले, न हास्य करे और न डरावे।"[60]

ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी दयानन्द न्यायिक प्रक्रिया में स्त्रियों के साथ होने वाली कुचेष्टाओं से पूर्णतः अवगत थे। साक्षी को डराने-धमकाने जैसे मामलों से भी वह अनभिज्ञ नहीं थे। उन्हें यह भी ज्ञात था कि परोक्ष में स्त्री-साक्षी के स्थान पर अन्य स्त्री द्वारा बयान

दिलाया जा सकता है। अतः, इन सब कारणों के साथ ही साथ ऋषि ने नारी सुलभ लज्जा और शील-संकोच को दृष्टि में रखते हुए स्त्रियों का साक्ष्य स्त्री द्वारा लिए जाने का सुझाव दिया है, जो सर्वथा अनुकरणीय है।

(xii) निर्णय—न्यायाधीश निष्पक्षता का त्याग न करे :

निर्णय, न्यायिक प्रक्रिया का अन्तिम चरण होता है। दयानन्द का मत है कि भली-भाँति छान-बीन, जाँच-पड़ताल तथा पर्याप्त साक्ष्य-प्रमाण के अनुशीलन के पश्चात् ही न्यायाधीश निर्णय ले। निर्णय में सत्य का ही समर्थन किया जाय, क्योंकि सत्य ही न्याय है। दयानन्द ने झालावाड़ के राजा राणा को न्याय की अनिवार्यता और निष्पक्षता के सम्बन्ध में एक पत्र में लिखा था कि, 'अर्थी-प्रत्यर्थी से लोभादि में फँस कर अन्याय न करे न करावे। किसी को अर्जी सुनकर निष्फल न करनी, किन्तु उसका यथावत् विचार करके जोत-हार तय करना चाहिए।"[61]

दयानन्द ने न्याय-अन्याय के निश्चय-हेतु वेद, मनुस्मृत्यादि शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार, वेद-प्रतिपादित कर्म तथा जिसको आत्मा चाहे, को आधार बताया है।[62] न्यायाधीश को निर्णय लेते समय इनका आलम्बन अवश्य लेना चाहिए। महर्षि ने वैदिक प्रसंग में 'सत्य-परीक्षण' के लिए पाँच प्रकार की परीक्षाओं का निर्देश किया है, जिनका उपयोग न्यायिक निर्णय में भी किया जा सकता है। ये पाँच प्रकार की परीक्षाएँ है[63]—ईश्वर, उसके गुण-कर्म-स्वभाव और वेद-विद्या; प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव तथा अभाव); सृष्टि-क्रम के अनुकूल, आप्तों का व्यवहार तथा अपने आत्मा की पवित्रता। स्पष्ट है, कि यदि उक्त आधारों पर साक्ष्य के परिप्रेक्ष्य में निर्णय लिया जाएगा, तो निश्चय ही सत्य और न्याय की स्थापना सम्भव होगी।

स्वामी दयानन्द ने न्यायाधीश को निर्णय सुनाने के पश्चात् अभि-

युक्त के हाव-भाव एवं गतिविधियों पर भी दृष्टि रखने का संकेत किया है, जिससे सजा-प्राप्त अपराधी अपना संयम खो कर कोई कुचेष्टा करने में सफल न हो सके। इस सम्बन्ध में महाराणा श्री सज्जन सिंह को लिखे एक पत्र में ऋषि ने चेतावनी दी है कि, "यदि कोई धूर्त वा आतुर बुरा शब्द बोले वा कुचेष्टा करे, सह लेना। परन्तु, अपने शरीर की सब प्रकार से रक्षा करना और सबकी मानसी वा बाह्य चेष्टा को जानते रहना।"[64]

दयानन्द की सम्पूर्ण न्यायिक प्रक्रिया का एक मात्र उद्देश्य न्याय और निष्पक्षता की स्थापना तथा पक्षपात का पूर्णतः परित्याग करना ही है। इसीलिए उन्होंने गुप्त धन लेकर अन्याय करने वाले राजपुरुष को देश-निष्कासन जैसे कठोर दण्ड का निर्धारण किया है[65] तथा यह भी उल्लिखित किया है कि दोषी माता-पिता, स्त्री-पुरुष, आचार्य-पुरोहित आदि भी अदण्ड्य नहीं हैं।[66] महाराणा श्री सज्जन सिंह को लिखे दिन-चर्या के नियम से सम्बन्धित पत्र में दयानन्द ने यह निर्देशित किया था कि, "उस (न्याय-कार्य के) समय न किसी का शत्रु और न किसी का मित्र तथा उदासीन बने। किन्तु, समदृष्टि कि जैसा पक्षपात छोड़ परमेश्वर वा आप्त पुरुष सबके साथ जैसे वर्त्तता है, वैसे वर्त्तें..... चाहे कोई कितना ही प्रार्थना करे वा क्रोड़ रुपैए भी देकर अन्याय कराया चाहै, तो भी कभी अन्याय न करें.....यदि न्यायाधीश ही प्रमादी होकर अन्याय किया चाहे, तो उनको राज्य और प्रजा के धार्मिक प्रधान पुरुष समझावें कि आप अन्याय मत कीजिए। यदि न मानें, तो उसको पदच्युत करके ....।"[67] अन्यत्र भी दयानन्द ने सत्य-न्याय के विरुद्ध आचरण करने वाले राजा को महापापी स्वीकार किया है[68] तथा यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि, "वही राजा सदा बढ़ता है, जो अपराधी मित्रों को भी दण्ड देने के बिना नहीं छोड़ता।"[69]

दयानन्द की उपर्युक्त मान्यताओं से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि उन्होंने किसी भी स्थिति में अन्याय और पक्षपात को स्वीकृति न देकर

न्याय को धर्म और धर्म को सत्य पर अवलम्बित मानते हुए इसका कठोरता से अनुपालन करने का निर्देश दिया है।

(स) दण्ड-विधान :

राजनीति विज्ञान में दण्ड को विधि की बाध्यकारी शक्ति माना गया है। दण्ड के अभाव में अशांति और असुरक्षा की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। दण्ड की महत्ता को ध्यान में रखते हुए ही पेरिस के द्वार पर ये शब्द उत्कीर्ण हैं—"तलवार न्याय की रक्षक है।"[70] ध्यातव्य है कि यहाँ 'तलवार' शब्द का प्रयोग दण्ड-शक्ति के रूप में किया गया है।

स्वामी दयानन्द के चिन्तन में भी दण्ड की महत्ता और उपादेयता का विशद विवेचन प्राप्त होता हैं। इनकी दृष्टि में दण्ड राज्य का ही आधार नहीं, अपितु धर्म का भी मूलाधार है। दण्ड ही समस्त लौकिक एवं पारलौकिक लक्ष्यों एवं कार्यों का निर्देशक एवं नियन्ता हैं। दयानन्द ने मनुस्मृति के सप्तम अध्याय के श्लोक संख्या 17, 18, 19, 24, 25, 26, 27, 28, 30 तथा 31 की व्याख्या करते हुए अपने अद्वितीय ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' के षष्ठ समुल्लास में दण्ड को ही वास्तविक राजा, वर्णाश्रम धर्म का प्रतिभू, शासनकर्त्ता, प्रजा का रक्षक, धर्म, कृष्णवर्ण रक्त नेत्र वाला भयकर पुरुष, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का प्रदाता आदि के रूप में स्वीकार किया है।[71] महर्षि प्रतिपादित न्याय-व्यवस्था में दण्ड की अवधारणा का सांगोपांग विवेचन अधोनिर्दिष्ट है :

(i) सम्यक् दण्ड की अवधारणा :

स्वामी दयानन्द का अभिमत है कि न्यायाधीश दण्ड-प्रयोग के समय दुर्भावना या पूर्वाग्रह-मुक्त होकर सत्य-स्थापना को ही अपना परमधर्म समझे। दण्ड, अपराधी के अपराध की मात्रा के अनुसार दिया जाना चाहिए। दयानन्द ने बिना अपराध के दण्ड देने को एक दुर्व्यसन[72] की संज्ञा देते हुए लिखा है कि जो जितना अपराध करे, उसको उतना दण्ड और जो जितना अच्छा काय करे, उसे उतना ही पारितोषिक

दिया जाना चाहिए, अधिक या न्यून नहीं।[73] महर्षि ने स्पष्ट रूप से व्यवस्था दी है कि, "जिस सभा में निन्दा के योग्य की निन्दा, स्तुति के योग्य की स्तुति, दण्ड के योग्य को दण्ड और मान्य के योग्य का मान्य होता है, वहाँ राजा और सभासद् पाप से रहित और पवित्र हो जाते हैं।"[74] यदि दण्ड का सम्यक् प्रयोग नहीं होता है, तो वह क्षुद्र नीच-बुद्धि न्यायाधीश दण्ड से ही मारा जाता है।[75] अतः, 'अपराध के अनुकूल प्रजा राजा को और राजा प्रजा को दण्ड देवे, किन्तु कभी अपराधी को दण्ड दिए बिना न छोड़े और निरपराधी को निष्प्रयोजन पीड़ा न देवे (यजु० भा० 8.23)।

उपर्युक्त सन्दर्भों में स्वामी दयानन्द की यह मान्यता स्पष्ट रूप में परिलक्षित होती है कि निर्दोष कदापि दण्डित न हो तथा अपराधी, किसी भी दशा में दण्ड से वंचित न हो, क्योंकि अपराधी के अदण्डित न होने से समाज में अपराध-वृत्ति को प्रोत्साहन प्राप्त होगा और अनपराधी के दण्डित होने से असंतोष तथा रोष की भावना भड़क सकती है। अतः दण्ड का प्रयोग बिना किसी भेद-भाव के सम्यक रूप से किया जाना ही श्रेयस्कर होगा।

(ii) दण्ड का उद्देश्य :

स्वामी दयानन्द का विचार है कि दण्ड का प्रयोजन सभी प्रकार के प्रमाद तथा व्यतिक्रमों के विरुद्ध एक व्यापक मानसिक नियम की अभिपुष्टि करना है। दण्ड का उद्देश्य परिशोधन है, प्रतिशोध नहीं। महर्षि का मत है कि "दण्ड देने का प्रयोजन है कि मनुष्य अपराध करने से बन्ध होकर दुखों को प्राप्त न हों ……।"[76] इसी प्रकार दण्ड का प्रयोजन दुष्ट जनों को शिक्षा देना बताते हुए दयानन्द ने लिखा है कि, "……यदि उसको दण्ड न दिया जाय तो उसको देख के अन्य राजपुरुष भी ऐसे दुष्ट काम करें और दण्ड दिया जाय, तो बचे रहें……।"[77] अतः, जिस प्रकार शिष्य एवं पुत्र का क्रमशः गुरु एवं पिता दण्ड देते हैं, उसी भाव से राजा भी दण्ड दे।[78] अन्यत्र भी महर्षि ने दण्ड के शिक्षा परक

उद्देश्य को ही लक्ष्य करते हुए यह—उद्घोषित किया है कि '.....दुष्टों को दण्ड द्वारा शिक्षा देकर श्रेष्ठ स्वभावयुक्त करें (ऋ० भा० 1.42.2)'

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्द के अनुसार दण्ड, अपराधी को पुनः अपराध करने से रोकने के साथ-साथ समाज में एक उदाहरण बनकर अपराध-भावना को नष्ट करने में सहायक सिद्ध होता है। यद्यपि, उन्होंने प्रधानतया दण्ड के सुधारात्मक सिद्धान्त को ही मान्यता दी है, तथापि वे दण्ड के निरोधात्मक एवं अंशतः प्रतिकारात्मक सिद्धान्त के भी समर्थक थे, जिसकी पुष्टि उनके दण्ड-प्रकारों के सन्दर्भ में प्राप्त प्रमाणों के आधार पर होती है। दण्ड की अवधारणा के अन्तर्गत व्यक्त विचारों के अनुशीलन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि दण्ड का उद्देश्य मानव के राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था के सम्यक् संचालन की व्यवस्था करना है, जिससे उसके भौतिक तथा आध्यात्मिक हितों की पूर्ति में किसी भी प्रकार की बाधा न आ सके।

(iii) दण्ड-प्रकार (भेद) :

महर्षि किसी भी स्थिति में अपराधी को दण्डित किए बिना मुक्त करना नहीं चाहते हैं। उनका अभिमत है कि 'हे राजन्! जो कदाचित अज्ञानता वा प्रमाद से हम लोग अपराध करें, उनको भी दण्ड के बिना क्षमा न कीजिए (ऋ० भा० 4. 12. 4)।' अन्यत्र भी दयानन्द ने स्पष्ट निर्देश दिया है कि, "जो अपराध करके लज्जित हो अर्थात् तुमसे क्षमा करवावे, तो उस पर क्रोध मत छोड़ो, किन्तु उसका अपराध सही और उसको यथावत् दण्ड भी दो।"[79] इस प्रकार यह निर्विवाद है कि दयानन्द ने दण्ड की अनिवार्यता को स्वीकार किया है।

दयानन्द ने अपराधी को दिए जाने वाले दण्ड के विभिन्न प्रकार बताए हैं, यथा-वाक्-दण्ड, धिक्-दण्ड, अर्थ-दण्ड, वध-दण्ड; देश-निर्वासन (यजु० भा० 8.44); अग्नि से जलाना (यजु० भा० 11.77); कारागार-दण्ड (ऋ० भा० 7.252) इत्यादि। महाराणा श्री सज्जन सिंह को लिखे

दिन-चर्या से सम्बन्धित पत्र में महर्षि ने वाक्-दण्ड तथा धिक्-दण्ड के सन्दर्भ में यह निर्देश दिया है कि, "जो हारे, उस पर ताना न मारे। किन्तु ऐसा कहे कि देखो भाई, मैं तुम से ऐसे काम करने की आशा नहीं करता था। तुमने ऐसे कुल वा ऐसे के पुत्र होकर ऐसा अनुचित किया। इस पर मुझको बड़ा शोक है।"[80] अन्यत्र महर्षि ने सभी प्रकार के दण्डों के सन्दर्भ में लिखा है कि, "प्रथम वाणी का दण्ड अर्थात् उसकी निन्दा, दूसरा धिक्-दण्ड अर्थात् तुझको धिक्कार है तूने ऐसा बुरा काम क्यों किया, तीसरा उससे 'धन लेना' और 'वध'-दण्ड अर्थात् उसको कोड़ा वा बेंत से मारना वा शिर काट देना।"[81] इस कथन से समस्त प्रकार के दण्ड के सम्बन्ध में दयानन्द का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। उल्लेखनीय है, कि मृत्यु-दण्ड का प्रयोग, शेष समस्त प्रकार के दण्ड-प्रयोग की विफलता के पश्चात् ही किया जा सकता है।

स्वामी दयानन्द ने दण्ड-प्रयोग-हेतु उपस्थेन्द्रिय, उदर, जिह्वा, हाथ, पग, आँख, नाक, कान, धन और देह, ये देश स्थान निर्दिष्ट किए हैं।[82] उनके ग्रन्थों आदि में यत्र-तत्र पृथक्-पृथक् अपराधों में भिन्न-भिन्न प्रकार के कतिपय दण्ड का भी उल्लेख प्राप्त होता है' जो निम्नलिखित है :

(क) झूठे साक्षी को दण्ड :

स्वामी दयानन्द ने साक्षी द्वारा असत्य, असम्बद्ध तथा अनर्गल साक्ष्य देने पर जिह्वा-छेदन जैसे शारीरिक दण्ड[83] के अतिरिक्त एक वर्ष का कारावास तथा लिखा हुआ असत्य सिद्ध होने पर वादी को छह महीने और उसके साक्षी को दो-दो महीने के लिए बन्दीगृह में रखने की संस्तुति की है।[84] यही नहीं, अपितु असत्य साक्ष्य देने पर विभिन्न प्रकार के अर्थ-दण्ड का प्रावधान करते हुए महर्षि ने लिखा है कि, "जो लोभ से झूठी साक्षी देवे उससे पन्द्रह रुपए दश आने दण्ड लेवे; मोह से झूठी साक्षी देने वाले से तीन रुपए दो आने; यदि झूठा साक्षी भय से हो, तो सवा छह रुपए; मित्रता के कारण हो, तो साढ़े बारह रुपए,

कामना के कारण हो, तो पच्चीस रुपए; क्रोध से हो, तो छियालीस रुपए चौदह आने; अज्ञानतावश होने से तीन रुपए तथा बालकपन से मिथ्या साक्षी देने पर एक रुपया नौ आने दण्ड लेना चाहिए।"[85]

(ख) चोर, डाकू एवं साहसिक (बलात्कारी) को दण्ड :

दयानन्द का स्पष्ट मत है कि चोर, डाकू, दुष्ट वचन बोलने वाले तथा साहस-बलात्कार आदि करने वाले पापी व्यक्तियों को दण्डित करने के लिए राजा क्षण मात्र भी विलम्ब न करे।[86] न मित्रता से, न पुष्कल धन-प्राप्ति से उनको बन्धन-छेदन किए बिना न छोड़े।[87] उन्हें या तो कारागार में डाल दे या मार डाले।[88] चोरादि जिस-जिस अंग से विरुद्ध चेष्टा करें, उस-उस अंग की समस्त मनुष्यों की शिक्षा-हेतु हरण या छेदन करे।[89] इन परिपस्थियों, लुटेरों तथा आततायियों के विरुद्ध कठोर दण्ड का प्रयोग साम, दाम तथा भेद-नीति के विफल हो जाने पर किया जाय।[90] यही नहीं, अपितु चोर-डाकुओं के सुधार-हेतु महर्षि ने उन्हें राजा द्वारा नौकर के रूप में नियुक्त करने का भी सुझाव दिया है।[91] यह उनके सुधारात्मक दण्ड का प्रमाण है।

(ग) वेद-शास्त्र-विरोधी अधर्मी को दण्ड :

स्वामी दयानन्द का मत है कि वेदों की निन्दा अर्थात् अपमान, त्याग, विरुद्ध आचरण करने वाला व्यक्ति ही नास्तिक कहलाता है।[92] ऐसे व्यक्ति को जाति, पंक्ति तथा देश से बाहर कर देना चाहिए।[93] जो बुरी शिक्षा से मनुष्यों को दूषित करे और निन्दा तथा विषयों की आसक्ति में प्रवृत्त करे उनको अवश्यमेव दण्ड दिया जाना चाहिए (ऋ० भा० 5.42.10)। महर्षि का स्पष्ट मत है कि—माता-पिता, गुरु, ब्राह्मण, शास्त्रज्ञ या पुत्रादि बालक भी यदि अधर्म (अन्याय, असत्य) का आचरण करते हैं, तो उन्हें विचार किए बिना ही मार डालना चाहिए।[94] दुष्ट पुरुषों को मारने से हन्ता को पाप नहीं होता, क्योंकि क्रोध को क्रोध से मारना, क्रोध से क्रोध की लड़ाई है।[95]

उल्लेखनीय है कि महर्षि ने 'वेद-निन्दक' व्यक्ति-हेतु जिस दण्ड का प्रतिपादन किया है, वस्तुतः वह संविधान-विरोधी के लिए प्रस्तावित दण्ड है, क्योंकि दयानन्द के चिन्तन में 'वेद' का तात्पर्य संविधान से भी है। महर्षि के लिए वेद ही देश की विधि का मूलस्रोत (संविधान) है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि महर्षि ने संविधान के निन्दक, अपमानकर्त्ता और उल्लंघनकर्त्ता को देश-निर्वासन का वैधानिक दण्ड सुझाया है। वे वेद (संविधान) तथा वेदशास्त्र-सम्मत धर्म (न्याय, विधि) की स्थापना-हेतु मृत्यु-दण्ड को स्वीकृत करने में तनिक भी नहीं हिचकते हैं।

(घ) व्यभिचारी स्त्री-पुरुष को दण्ड ;

अपने वेद-भाष्य में कतिपय मन्त्र की व्याख्या में ऋषि दयानन्द ने विषयासक्त व्यभिचारी स्त्री-पुरुषों को अत्यन्त कठोर दण्ड का निर्देश किया है, यथा—'हे राजादि मनुष्यों ! जैसे सूर्य रात्रि का निवारण करने वाला है, वैसे ही प्रजाजनों में जार कर्म में वर्त्तमान् मनुष्यों का निवारण करो (ऋ० भा०-6.55.4); 'हे राजा ! जो धूर्त मनुष्य ब्रह्मचर्य आदि के निवारण से मनुष्यों को रोगी करते हैं, उनको कारागृह में बाँधो (ऋ० भा०-7.25.2); इत्यादि। अन्यत्र भी उन्होंने ऐसे स्त्री-पुरुषों को अति कठोर दण्ड देने की संस्तुति की है। महर्षि ने व्यभिचारियों को जीवित ही कुत्ते से कटवा कर मार डालने तथा अग्नि से तप्त लौह-पलंग पर सुला कर मारने की प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए लिखा है कि, "जो स्त्री अपनी जाति गुण के घमण्ड से पति को छोड़ व्यभिचार करे, उसको बहुत-बहुत स्त्री-पुरुषों के सामने जीती हुई कुत्ती से राजा कटवा कर मरवा डाले। उसी प्रकार जो अपनी स्त्री को छोड़के परस्त्री वा वेश्यागमन करे उस पापी (पुरुष) को लोहे के पलंग को अग्नि से तपा के लाल कर उस पर सुला के जीते को बहुत पुरुषों के सम्मुख भस्म कर देवे।"[१०] अन्यत्र भी इसी प्रकार के कठोर दण्ड के विषय में महर्षि ने लिखा है कि, "जो कोई दुष्ट स्त्रियों में व्यभिचार करने वाला .....

इत्यादि दोषयुक्त पुरुष तथा व्यभिचार आदि दोषयुक्त स्त्री को ऊपर पग और नीचे शिर करके उसको टांग देना, इत्यादि अत्यन्त दुर्दशा करके मार डालना चाहिए……।"[97] इस कठोर दण्ड-विधान से स्पष्ट होता है कि दयानन्द चरित्रहीनता एवं व्यभिचार आदि दुष्कर्म को असह्य तथा अक्षम्य अपराध मानते थे।

(ङ) आर्थिक अपराधी को दण्ड :

दयानन्द ने पर-द्रव्य-हरण करने वाले, धन लेकर न देने वाले एवं माप-तौल से धन की चोरी करने वालों को भी कठोर दण्ड की व्यवस्था की है। उनका अभिमत है कि, '……दूसरे के द्रव्य के हरने वाले द्वेषकर्त्ता को दण्ड देकर निर्जन देश में बाँधो (ऋ० भा०-5.2.6)।' दयानन्द ने अपने हुगली-शास्त्रार्थ में मनु० (8.403,9.285) के श्लोकों की व्याख्या में 'प्रतिमा' के अर्थ को समझाते हुए स्पष्ट किया कि वणिक् वर्ग किस-किस प्रकार से तराजू के दण्डो को पीछे या आगे झुका कर या उसमें छिद्र कर त्रुटिपूर्ण ढंग से रस्सी आदि बाँध कर गलत तौल करते हैं। अतः उन्होंने स्पष्ट किया कि, "पक्ष-पक्ष में, वा मास-मास में अथवा छठवें-छठवें मास तुला की राजा परीक्षा करे।" तथा "…… प्रतिमा अर्थात् छटांक आदिक बटखरे ……जो तोड़ डाले वा अधिक न्यून कर देवे, उनको उससे राजा बनवा लेवे और जैसा जिसका ऐश्वर्य, उसके योग्य दण्ड करे। जो दरिद्र होवे, तो उससे पाँच सौ पैसा……कुछ धनाढ्य होवे, तो पाँच सौ रुपया ……बहुत धनाढ्य होवे, तो उससे पाँच सौ अशर्फी दण्ड लेवे।'[98]

(च) मद्यप, पशु-हिंसक तथा जुआरी को दण्ड :

महर्षि का मत है कि, "मादक द्रव्य अर्थात् उन्मत्तता करने वाले द्रव्यों के सेवन कर्त्ताओं का दण्ड करके और अपने-आप अव्यसनी होकर प्रजाओं के पालन करने को समर्थ होवे (ऋ० भा०-3.48.4)।'

जुआरिओं के दण्ड के सम्बन्ध में लिखा है कि, '.....जुआ खेलने वाले पाखण्डियों को मारो अर्थात् ताड़ना देओ (ऋ० भा०-6.53.3)।'

पशु-हिंसकों-हेतु भी कठोर दण्ड का निर्देश करते हुए ऋषि ने यह स्पष्ट किया है कि राजा को प्रजा अपनी और अपने पशुओं की रक्षा-निमित्त ही कर प्रदान करती है।[99] यजु० भाष्य में भी महर्षि ने लिखा है कि, 'जो जन इन उपकारक पशुओं को मारें, उनको राजादि न्यायाधीश अत्यन्त दण्ड देवें (यजु० भा० 13.49)।'

(छ) राजपुरुषों को दण्ड :

स्वामी दयानन्द ने राज्य-कार्य में संलग्न प्रत्येक राज-पुरुषों, अधिकारियों एवं कर्मचारियों तथा भृत्यों के लिए दण्ड के सम्बन्ध में महाराणा श्री सज्जन सिंह को लिखा था कि, "जो (राजा-प्रजा) नियमों का यथोचित पालन न करे, उसका अपमान, दण्ड और ह्रास किए बिना कभी न छोड़े··· ···राजाज्ञा-भग या उसमें आलस्य करने वाला शत्रुवत् दण्डनीय है।"[100] अन्याय करने वाले राजपुरुषों को प्रथमतः समझाना (वाक् एवं धिक् दण्ड) चाहिए, परन्तु यदि इस पर भी उनमें अपेक्षित सुधार न हो, तो उसे पदच्युत कर[101] तथा उसका सर्वस्व हरण करके ऐसे देश (स्थान) में रखना चाहिए कि जहाँ से वह पुनः लौट न सके।[102] यदि कोई राजपुरुष शत्रुओं का समर्थन करता है, तो ऐसे सेना एवं प्रजा विरोधी अधिकारी-कर्मचारी को अग्नि में जला देना चाहिए[103], जिससे एक तो अपराधी (राष्ट्रद्रोही) को समुचित दण्ड मिले तथा दूसरे, शेष अधिकारी-कर्मचारी भयभीत होकर अपराधों की ओर से विमुख हो जाँय। अपने वेद-भाष्य में अन्यत्र भी ऋषि ने लिखा है, "हे राजन्! जो विरुद्ध कर्म से प्रजाओं में चेष्टा करता है, उसे सदा दृढ़ बाँध के शस्त्रों से व्यथित कर सब प्रकार से बाँधो।"[104]

(ज) राजा-रानी को दण्ड :

स्वामी दयानन्द ने विधि के समक्ष समानता के सिद्धान्त का अनु-

सरण करते हुए राजा-रानी अथवा अन्य उच्च अधिकारियों एवं सामान्यजन मे कोई विभेद नहीं किया है। उनका स्पष्ट मत है कि, "अपराध के अनुकूल प्रजा राजा को और राजा प्रजा को दण्ड देवे।"[105] पूना-प्रवचन में महर्षि ने 'महाभारत' के प्रसंग से राजा 'सगर' के मूर्ख एवं दुष्ट पुत्र को स्वयं राजा द्वारा दण्डित किए जाने की प्रशंसा करते हुए कहा कि, "इसी का नाम न्याय है।"[106] इस प्रकार स्वामी जी के दण्ड विषय विचार से स्पष्ट हो जाता है कि उनके लिए कोई भी अपराधी अदण्ड्य नहीं है, चाहे वह राजा, रानी या उच्चाधिकारी हो अथवा इनका गुरु, पुत्र, मित्र. स्त्री, माता-पिता या प्रजा कोहै भी हो। विधि के समक्ष सब समान हैं तथा सबको विधि का समान संरक्षण भी प्राप्त होना चाहिए। महर्षि ने स्पष्ट किया है कि, "राजा भी एक पुण्यात्मा भाग्यशाली मनुष्य है। जब उसी को दण्ड न दिया जाय और वह ग्रहण न करे, तो दूसरे मनुष्य दण्ड क्यों मानेंगे?"[107] इसीलिए दयानन्द का निर्देश है कि जो राजा या रानी अथवा न्यायाधीश या उसकी स्त्री व्यभिचारादि कुकर्म करे, तो सभा उनको प्रजापुरुषों से भी अधिक दण्ड दे।"[108]

(iv) विवेक-सम्मत दण्ड-व्यवस्था :

स्वामी दयानन्द के दण्ड विषयक उपर्युक्त विचारों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि उन्होंने भिन्न-भिन्न अपराधों-हेतु विभिन्न प्रकार के दण्ड की व्यवस्था के साथ ही साथ दण्ड-प्रयोग के समय दोषसिद्ध अपराधी के सामाजिक, मानसिक एवं आर्थिक स्तर का भी ध्यान रखा है। इसके अतिरिक्त महर्षि का यह भी सुझाव है कि दण्ड सदैव देश, काल तथा परिस्थिति के अनुकूल देय होना चाहिए। इस सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है कि, "……जो अत्यन्त निर्धन हो, तो उससे कम और धनाढ्य हो, तो उससे दूना, तिगुना और चौगुना तक भी लेवे अर्थात् जैसा देश, जैसा काल और जैसा पुरुष हो, उसका जैसा अपराध हो, वैसा ही दण्ड करे।"[109]

अन्यत्र दयानन्द ने व्यक्ति के पद, स्थिति एवं योग्यता आदि के आधार पर एक ही प्रकार के अपराध में दण्ड की मात्रा में विभेद करने का निर्देश देते हुए लिखा है कि, "जिस अपराध में साधारण मनुष्य पर एक पैसा दण्ड हो उसी अपराध में राजा को सहस्त्र पैसा दण्ड होवे अर्थात् साधारण मनुष्य से राजा को सहस्त्र गुणा दण्ड होना चाहिए। मन्त्री .....को आठ सौ गुणा उससे न्यून सात सौ गुणा और उससे भी न्यून को छः सौ गुणा इसी प्रकार उत्तर-उत्तर अर्थात् जो एक छोटे से छोटा भृत्य अर्थात् चपरासी है उसको आठ गुणे दण्ड से कम न होना चाहिए। .....वैसे ही जो कुछ विवेकी होकर चोरी करे उस शूद्र को चोरी से आठ गुणा, वैश्य को सोलह गुणा, क्षत्रिय को बत्तीस गुणा, ब्राह्मण को चौसठ गुणा वा सौ गुणा अथवा एक सौ अट्ठाईस गुणा दंड होना चाहिए अर्थात् जिसका जितना ज्ञान और जितनी प्रतिष्ठा अधिक हो, उसको अपराध में उतना ही अधिक दण्ड होना चाहिए।"[110] दयानन्द ने दण्ड की मात्रा में विभिन्नता के औचित्य को सिद्ध करते हुए यह तर्क दिया है कि "यदि प्रजापुरुषों से राजपुरुषों को अधिक दण्ड न होवे, तो राज-पुरुष प्रजापुरुषों का नाश कर देवे, जैसे सिंह अधिक और बकरी थोड़े से ही वश में आ जाती है।"[111]

उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि दयानन्द के दण्ड-व्यवस्था सम्बन्धी उपयुक्त विचार मानवोचित, मनोवैज्ञानिक, अपराध की गुरुता, अपराधी की मनोवृत्ति तथा उसका सामाजिक, शैक्षणिक एवं आर्थिक स्तर के अनुकूल होने के साथ-साथ देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार तर्क-संगत प्रतीत होते हैं। यही कारण है, कि दयानन्द का दण्ड-विधान प्रतिकारात्मक, प्रतिरोधात्मक एवं सुधारात्मक होने के साथ ही साथ बुद्धि एवं तर्क सम्मत भी है।

(v) दयानन्द-प्रतिपादित दण्ड-व्यवस्था कठोर नहीं है :

कतिपय प्रबुद्धजनों ने महर्षि दयानन्द के दण्ड विषयक विचारों की भ्रमवश इस आधार पर आलोचना की है, कि उन्होंने 'अंग-छेदन', 'कुत्तों

से कटवाने', अग्नितप्त लौह-पलंग पर जीवित ही सुलाने' आदि को दण्ड-स्वरूप स्वीकृति प्रदान कर क्रूरता का परिचय दिया है, जो आधुनिक सभ्य युग-हेतु सर्वथा अमानवीय एवं अनौचित्यपूर्ण है। स्वामी दयानन्द ने इस प्रकार की सम्भावित आलोचनाओं का स्वयं उत्तर दिया है। उनका स्पष्टीकरण है कि, "जो इसको कड़ा दण्ड मानते हैं, वे राजनीति को नहीं समझते .....सच पूछो तो यही है कि एक राइ भर भी यह दण्ड सबके भाग में न आवेगा। और जो सुगम दण्ड दिया जाय, तो दुष्ट कार्य बहुत बढ़कर होने लगेंगे। वह जिसको तुम सुगम दण्ड कहते हो वह क्रोड़ो गुणा अधिक होने से क्रोड़ो गुणा कठिन होता है, क्योंकि जब बहुत मनुष्य दुष्ट कर्म करेंगे तब थोड़ा-थोड़ा दण्ड भी देना पड़ेगा .....।"[112] इस कथन से स्पष्ट होता है कि दयानन्द के अनुसार एक अपराधी को कठोर दण्ड देकर सैकड़ों को उसकी शिक्षा द्वारा मनोवैज्ञानिक रूप से अपराध वृत्ति से रोकने के कारण वह सुगम दण्ड है, जब कि एक अपराधी को सुगम दण्ड देने से कोई भयभीत नहीं होगा, ज्यादा संख्या में लोग अपराध करेंगे और यदि उन्हें थोड़ा-थोड़ा भी दण्ड दिया गया, तो गणितीय दृष्टिकोण से वह सुगम दण्ड एक व्यक्ति को दिए गए तथाकथित कठोर दण्ड की तुलना में अत्यधिक कठोर सिद्ध होगा।

यह भी उल्लेखनीय है कि दयानन्द ने न्याय-कार्य में 'क्षमा' को दया नहीं माना है। उनका मत है कि हजारों जीवों को दुख देने वाले डाकू को क्षमा करना, दया नहीं कहलाती है।[113] जब एक (डाकू या अपराधी) के छोड़ देने से सहस्रों मनुष्यों को दुख प्राप्त होता है, तो वह दया कैसी? दया वही है कि उस डाकू को कारागार में रखकर पाप करने से बचाना, डाकू पर, और उस डाकू को मार देने से अन्य सहस्रों मनुष्यों पर ही दया करना सिद्ध होता है।[114] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि महर्षि-प्रतिपादित दण्ड-व्यवस्था को कठोर अथवा क्रूर कह कर निन्दित करना तर्क संगत नहीं है। वस्तुतः एक अपराधी को दण्ड

देना ही सहस्रों निर्दोष व्यक्तियों पर दया करना है और यह दया ही न्याय है।

निष्कर्ष :

स्वामी दयानन्द के सम्पूर्ण न्याय-व्यवस्था का यदि सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी न्याय की अवधारणा उनके राज-दर्शन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। महर्षि प्रतिपादित न्याय मात्र व्यक्ति और व्यक्ति में ही सम्बन्ध नहीं स्थापित करता है, अपितु वह राजनीतिक संस्था के साथ ही साथ आध्यात्मिक संस्था से भी व्यक्ति के हितों को संयुक्त करता है। न्याय मनुष्य के बाह्य एवं आभ्यान्तरिक जीवन का वह मूल्य है, जो मानव-स्वतन्त्रता, समानता, बन्धुत्व एवं नैतिकता से सम्बद्ध है। यह सामाजिक हित और व्यक्तिगत हित में समन्वय लाता है।

ऋषि दयानन्द की न्याय की अवधारणा का उल्लेखनीय पक्ष उसकी विधि-विशेषज्ञता भी है। विधि और न्याय एक दूसरे के पूरक हैं। न्याय के कानून-पक्ष में 'न्यायपूर्ण कानून का निर्माण' और 'कानून के अनुरूप न्याय'—ये दो महत्त्वपूर्ण बिन्दु ऋषि के दर्शन में स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं। न्यायपूर्ण कानून के निर्माण का तात्पर्य यह है कि विधि सामाजिक मान्यताओं तथा नैतिक दृष्टिकोण के अनुरूप हो। कानून के अनुसार न्याय की अवधारणा में महर्षि ने 'विधि के शासन' और 'विधि की उचित प्रक्रिया'—दोनों का सुखद संयोग किया है।

दयानन्द की न्याय सम्बन्धी अवधारणा का सर्वाधिक प्रभावकारी-पक्ष उसकी आध्यात्मिकता एवं संवैधानिकता का अभूतपूर्व समन्वय है। उसमें विधि के शासन, सम्यक् दण्ड, संविधान (वेद) की सर्वोच्चता आदि ऐसे तत्त्व निहित हैं, जिसे वर्त्तमान 'संविधानवाद' की संकल्पना के समकक्ष समझा जा सकता है। वर्त्तमान व्यवस्था में यदि स्वामी दयानन्द की न्याय-प्रणाली को क्रियान्वित किया जाय, तो न्याय पर से

लोगों का उठा हुआ विश्वास पुनः लौट आएगा। न्याय राजन्यवर्ग, धनिक वर्ग, कुलीन वर्ग आदि के हाथों का खिलौना नहीं रह जाएगा। आतंक एवं अन्याय की समाप्ति के साथ ही साथ, व्यक्तियों के जीवन, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति और अस्मिता की सुरक्षा भी होगी। राजपुरुषों को सामान्यजन की अपेक्षा पद और प्रतिष्ठा के अनुरूप अधिक दण्ड देने से न्याय की गरिमा स्थापित होगी तथा 'न्याय के बिकने' की कहावत का अन्त सम्भव होगा। वर्त्तमान न्याय-प्रशासन और न्याय-वितरण को तभी न्यायसंगत भी कहा जा सकेगा। स्वामी दयानन्द प्रतिपादित न्याय को ही 'धर्म', न्यायालय को 'धर्माधिकरण' तथा न्यायाधीश को 'धर्माधिकारी' कहना सार्थक है।

पाद टिप्पणियाँ :

1. एल० सी० मैक्डानल्ड-वेस्टर्न पोलिटिकल थ्योरी भाग 1, पृ० 120
2. एच० जे० लास्की—राजनीति के मूल तत्त्व पृ० 456
3. ऋ० भा० 1.105.11
4. ऋ० द० स० के प० और वि० भाग 1, पृ० 42
5. विस्तृत ज्ञान-हेतु देखें—भारतीय चिन्तन में धर्म की संकल्पना; अध्याय 1 के अन्तर्गत।
6. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 1, पृ० 42; स० प्र०—पृ० 115 पर भी विधि के उद्देश्यों-हेतु ऐसा ही विवरण प्राप्त होता है।
7. यजु० भा० 9.35
8. सं० वि०—पृ० 226 (मनु० 12.108)
9. स० प्र०—पृ० 92
10. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 633 (दिनचर्या का नियम सं० 50)
11. स० प्र०—पृ० 94 (मनु० 12.113)
12. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 631 (नियम सं० 32)
13. वही—पृ० 632-633 (नियम सं० 43, 44, 45, 48)

14. वही—पृ० 629 (नियम सं० 9)

15. ज्ञान सिंह सन्धू (सं०)—राजनीति सिद्धान्त पृ० 284

16. याज्ञ०—1.359, 1.360

17. व्य० भा०—पृ० 28

18. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 1, पृ० 42

सं० वि०—पृ० 217 "धर्म नाम न्यायाचरण। न्याय नाम पक्षपात छोड़ के वर्त्तना।"

19. ऋ० भू०—पृ० 254 (शत० 13.1.5.3-6)

20. भवानीलाल भारतीय—नवजागरण के पुरोधा—पृ० 503

ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 780—जोधपुराधीश को ऋषि दयानन्द ने इसी सन्दर्भ में एक पत्र में लिखा था कि, "न्याय से राज्य का पालन करना ही आप लोगों का परमधर्म है।"

21. यजु० भा – 23.22

22. ऋ० भा० भू०—पृ० 250

23. आर्याभि०—पृ० 91-92 (तै० 10.1)

24. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 755

25. सं० वि०—पृ० 106 (मनु० 4.85) "जो अन्यायकारी राजा होता है, उसके अन्न आदि का ग्रहण अतिथि लोग कभी न करें।"

26. ऋ० भा० भू०—पृ० 256

27. जेम्स ब्राइस—मडर्न डिमाक्रेसीज—भाग 2, पृ० 421

28. प्रशान्त कुमार वेदालंकार—म० द० प्रतिपादित राज्य व्यवस्था पृ० 20

29. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन सं० 9) पृ० 373

30. वही—पृ० 375

31. स० प्र०—पृ० 93 (मनु० 7.4)

32. वही—(स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश) पृ० 406

33. ऋ० भा०—1.70.4

34. यजु० भा०—17.11

35. यजु० भा०—29.14

36. ऋ० भा०—5.50.4

37. आर्याभि०—पृ० 30

38. विस्तृत विवेचन-हेतु अध्याय-3 का शीर्षक 'दण्ड ही राजा है' देखें।

39. ऋ० भा०—2.27.7, 2.27.12, 2.27.14, 2.30.8, 4.22.7, 5.46.7, 7.15.4 इत्यादि।

यजु० भा०—13.16, 13.17, 13.27, 19.10 इत्यादि।

सं० वि०—पृ० 219

40. यजु० भा० 10.26

41. व्यहार० पृ० 20

42. ऋ० द० स० के प० और वि०-भाग 2 पृ० 625

43. यही—पृ० 626 तथा 628

44. वही—पृ० 627

45. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन सं० 3) पृ० 284

46. स० प्र० – पृ० 109 (मनु० 8.4, 5, 6, 7)

47. वीरेन्द्र नाथ—जुडीशियल एडमिनिस्ट्रेशन इन एन्शिएण्ट इण्डिया पृ० 110

48. ऋ० भा०—4.9.7

49, स० प्र०—पृ० 110 (मनु० 8.63,64,)

50. वही—पृ० 110 (मनु० 8.74)

51. वही—पृ० 110 (मनु० 8.72)

52. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2 पृ० 626

53. स० प्र०—पृ० 111 (मनु० 8.81,83,84,91)

54. वही—पृ० 111 (मनु० 8.79,80)

55. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 626

56. वही—पृ० 626-627

57. वही—पृ० 626

58. स० प्र०—पृ० 111 (मनु० 8.118)

59. स० प्र०—पृ० 110 (मनु० 8.78)

ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 626 'सिखावट की साक्षी को न मानें।'

60. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 626

61. वही—पृ० 798

62. स० प्र०—पृ० 36 (मनु० 1.131)

63. वही (स्वमन्तव्य०)—पृ० 407

64. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, 627

65. स० प्र०—पृ० 102 (मनु० 7.124)

66 वही—पृ० 113 (मनु० 8.335) "चाहे पिता, आचार्य, मित्र, स्त्री, पुत्र और पुरोहित क्यों न हो, जो स्वधर्म में स्थित नहीं रहता, वह राजा अदण्ड्य नहीं होता··· ।"

67. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 626-627

68. स० प्र०—पृ० 109 (मनु० 8.13) तथा ऐसा ही प्रसंग सं० वा० प्र० के पृ० 37 पर भी, "जो अन्याय से प्रजा को निरन्तर पीड़ा देता है, वह पापी है।"

69. ऋ० भा०—7.27.2; 1.42.4—"अपराध किए हुए माता-पिता, (पुत्र) आचार्य और मित्र आदि को भी अपराध के योग्य ताड़ना अवश्य देनी चाहिए।"

यजु० भा० 7.45 "परमेश्वर के तुल्य पक्षपात छोड़कर न्याय करें।"

69. ऋ० भा०—7.27.2, 1.42.4—'अपराध किए हुए माता-पिता, (पुत्र) आचार्य और मित्र आदि को भी अपराध के योग्य ताड़ना अवश्य देनी चाहिए।"

यजु० भा० 7.45—"परमेश्वर के तुल्य पक्षपात छोड़कर न्याय करें।"

70. अर्नेस्ट बार्कर—सामाजिक तथा राजनीतिक शास्त्र के सिद्धान्त—पृ० 208

71. विस्तृत विवेचन-हेतु तृतीय अध्याय के अन्तर्गत 'दण्ड ही राजा है' का शीर्षक देखें।

72. स० प्र०—पृ० 95 (मनु० 7.51)

73. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 756

74. स० प्र०—पृ० 110 (मनु० 8.19)

75. वही -पृ० 94 (मनु० 7.27) इसके अतिरिक्त भी सम्यक् दण्ड—हेतु निम्न सन्दर्भ द्रष्टव्य हैं :

(i) स० प्र०—पृ० 112 (मनु 8.127) "इस संसार में जो अधर्म से दण्ड करना है, वह पूर्व प्रतिष्ठा वर्त्तमान और भविष्यत् में और परजन्म में होने वालो कीर्ति का नाश करने हारा है और परजन्म में भो दुखदायक होता है, इसलिए अधर्मयुक्त दण्ड किसी पर न करे।"

(ii) स० प्र०—पृ० 112 (मनु० 8.128) "जो राजा दण्डनोयों को न दण्ड और अदण्डनीयों को दण्ड देता है····वह जीता हुआ बड़ी निन्दा को और मरे पीछे बड़े दुख को प्राप्त होता है ····।"

76. स० प्र० -पृ० 118

77. वही—पृ० 102 (मनु० 7.124)

78. वही—पृ० 24

79. ऋ० भा०—1.25.2

80. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 627

81. स० प्र०—पृ० 112 (मनु० 8.129)

82. वही—पृ० 112 (मनु० 8.125)

83. वही -पृ० 110 (मनु० 8.75)

84. सं० वा० प्र० —पृ० 23

85. स० प्र० —पृ० 111-112 (मनु० 8.120, 121)

86. वही—पृ० 113 (मनु० 8.344, 345)

87. वही—पृ० 113 (मनु० 8.347)

88, वही—पृ० 118

89. वही —पृ० 113 (मनु० 8.334)

90. वही—पृ० 101 (मनु० 7.107)

91. वही—पृ० 102 (मनु० 7.123)

92. वही – पृ० 214

93. वही—पृ० 36 (मनु० 1.130)

94. वही—पृ० 113 (मनु० 8.350)

95. वही –पृ० 113 (मनु० 8.351)

96. वही—पृ० 114 (मनु० 8.371, 372)

97. ऋ० भा० भू०—पृ० 369

98. ऋ० द० स० के शा० और प्रवचन (हुगली शास्त्रार्थ) पृ० 59-60

99. गोकरुणानिधि—पृ० 11

100. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 632-633 (नियम सं० 9, 43, 48)

101. वही—पृ० 632 (नियम सं० 38)

102. स० प्र०—पृ० 102 (मनु० 7.124)

103. यजु० भा०—11.77 तथा 15.2 "जो राज्य के सेवक शत्रुओं के निवारण करने में यथाशक्ति प्रयत्न न करें, उनको अच्छे प्रकार दण्ड देवें..... ।"

104. ऋ० भा०—4.18.9

105. यजु० भा०—8.23

106. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन सं० 9) पृ० 375-376

107. स० प्र०—पृ० 114

108. वही—पृ० 114

109. वही—पृ० 112 (मनु० 8.126)

110. वही –पृ० 113 (मनु० 8.336, 337, 338)

111. वही—पृ० 113 (मनु० 8.336) तथा यही उक्ति ऋ० द० स० के प० और वि० भाग 2, पृ० 631 में "अपराध में प्रजा से राजपुरुषों पर अधिक दण्ड देना चाहिए, क्योंकि बकरी के प्रमाद से सिंह का प्रमाद रोकने में अधिक प्रयत्न करना चाहिए ।"

112. स० प्र०—114

113. ऋ० द० स० के शा० और प्र०—(शास्त्रार्थ-बरेली) पृ० 159

114. स० प्र०—पृ० 118

—: ० :—

अध्याय 10

: रक्षा-व्यवस्था :

राजा का एक प्रमुख कार्य आभ्यान्तरिक एवं वाह्य संकटों तथा शत्रुओं से देश की रक्षा करना है। प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की यह मान्यता रही है कि प्रजा द्वारा राजा को कर-प्रदान करने का प्रमुख प्रयोजन राज्य द्वारा सुरक्षा की प्राप्ति करना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति-हेतु राज्य, एक ओर आन्तरिक शत्रुओं (चोर, डाकू, उपद्रवी आदि) से मुक्ति के लिए विधि, न्याय और दण्ड की समुचित व्यवस्था करता है, तो दूसरी ओर वाह्य शत्रुओं से त्राण-हेतु वह सशक्त सैन्य बल, अभेद्य दुर्ग एवं प्रभावी विदेश-नीति आदि का सावधानी पूर्वक प्रयोग, संरक्षण और सम्वर्द्धन करता है।

स्वामी दयानन्द ने भी अपने राजनीतिक चिन्तन में राष्ट्र-रक्षा, क्षेत्र-विस्तार, धर्म-स्थापना तथा पीड़ितों को अभय प्रदान करने के लिए सुदृढ़, रक्षा-व्यवस्था पर विशेष बल दिया है। उनका अभिमत है कि कोई भी राष्ट्र आन्तरिक एवं वाह्य सुरक्षा के अभाव में जीवित नहीं रह सकता है। राजा को अपने ब्रह्मवर्य रूपी तप से राष्ट्र की रक्षा करनी चाहिए। स्वामी दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट सैन्य संगठन, युद्ध-सिद्धान्त तथा वैदेशिक नीति का विस्तृत विवेचन अधोनिर्दिष्ट है :

(अ) सैन्य संगठन :

स्वामी दयानन्द का अभिमत है कि राज्य की रक्षा करना ही राजा की शोभा है।[1] स्पष्ट है, कि रक्षा-कार्य-हेतु सेना की आवश्यकता

अपरिहार्य है। इसी पर बल देते हुए महर्षि ने राज्य की सेना को हस्त के मूल के समान[2] राजा की भुजा मानते हुए लिखा है कि जिसकी पतिव्रता स्त्रियों के सदृश राज-भक्त सेना हो, वही राजा प्रशंसित होता है।[3] अपनी इसी मान्यता के परिप्रेक्ष्य में दयानन्द ने महाराणा श्री सज्जन सिंह को राज्य की आय का तीन अंश (१०%) सेना पर व्यय करने का निर्देश भी दिया है।[4] सैन्य संगठन से सम्बन्धित दयानन्द के विचारों को निम्नलिखित उपशीर्षकों में प्रस्तुत किया जा सकता है :

(i) सेना के प्रकार :

स्वामी दयानन्द ने थल, जल और नभ तीनों प्रकार की सेनाओं की महत्ता को स्वीकार करते हुए लिखा है कि, "जो नौकाओं से समुद्र में, रथों से पृथ्वी पर और विमानों से आकाश में युद्ध करते हैं, वे सदा ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं (ऋ० भा० 2.16.7)।" उन्होंने चतुरंगिणी (पैदल, हाथी, अश्व तथा रथ) सेना को विजय का मूल आधार स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए स्वामी दयानन्द ने अपने वेद-भाष्य में लिखा है कि, "जो प्रजा की रक्षा के लिए चतुरंगिणी अर्थात् चारों दिशाओं को रोकने वाली सेना और जितेन्द्रियता का अच्छे प्रकार आचरण करते हैं, वे धनवान और कान्तिमान होते हैं (यजु० भा० 24.29)।" इन कथनों से स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्द ने जल, थल और वायु तीनों प्रकार की सेनाओं तथा स्थल-सेना के चारों विभागों को सेना के प्रकार में सम्मिलित किया है।

(ii) सैनिकों की संख्या ;

दयानन्द ने किसी भी राज्य के सैन्य बल की संख्या का निर्धारण नहीं किया है, अपितु उसे राज्य विशेष की क्षमता, आवश्यकता तथा सामर्थ्य पर आधारित बताते हुए मात्र इतना ही संकेत किया है कि, "असंख्य शूरवीर पुरुषों की सेनाओं को रखके सब शत्रुओं के मुख फेरें।"[5] इसी प्रकार का संकेत अन्यत्र भी करते हुए ऋषि ने लिखा है

कि, "जिस राजा की मेघ के सदृश ऊँची और वाहनों के सदृश साथ चलने वाली सेनाएँ होती हैं, उसका सूय के सदृश विजय होता है।"[6] दयानन्द के उक्त कथन सेना की विशालता को इंगित करते हैं।

(iii) सैनिकों की अर्हताएँ :

स्वामी दयानन्द ने सैनिकों-हेतु सामान्यतः उन्हीं अर्हताओं को स्वीकार किया है, जो 'क्षत्रिय' वर्ण के लिए आवश्यक हैं। वे चाहते थे कि सेना में आर्य (श्रेष्ठ) जनों को रखा जाय।[7] ऋषि ने 'आर्य' शब्द से जाति का नहीं, अपितु योग्यता तथा गुण का संकेत किया है। उन्होंने गीता (18.43) का सन्दर्भ देते हुए क्षत्रिय-लक्षण-युक्त व्यक्तियों को ही सैनिक-पद-हेतु अर्ह घोषित किया है, जिनमें शस्त्र, संग्राम, मृत्यु तथा शस्त्र-प्रहार से निडर रहना, युद्ध में सदा उद्यत रहना, प्रगल्भता, वाक्-युद्ध, दूतत्व, न्याय-विचार, शत्रु के वशीभूत न होना आदि लक्षणों का होना आवश्यक है।[8]

अपने वेद-भाष्य में दयानन्द ने सैनिकों के लिए वांछनीय गुणों में नीलकंठ, श्येन पक्षी और घोड़े के समान पराक्रमी होना (यजु० भा० 9.15); सिंह के समान पराक्रम कर तीक्ष्ण शस्त्रों से शत्रु-सेनांग का छेदन कर संग्रामजयी (यजु० भा० 18.71); ब्रह्मचर्य सेवी होने के कारण अकेला ही गोलचक्र-तुल्य चौरानवे योद्धाओं को भ्रमा सकने वाला (ऋ० भा० 1.155.6); धनुर्वेदज्ञ, विश्वास-युक्त, मुख्य राज्य में उत्पन्न (ऋ० भा० 6.25.7); दो प्रकार की शूरता (शरीर की पुष्टि तथा विद्या-धर्म-संयुक्त आत्मा की पुष्टि) से युक्त (ऋ० भा० 1.8.4) आदि का होना आवश्यक बताया है। दयानन्द ने 'शूरवीर' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि, जो वेदादि शास्त्रों के पठन-पाठन, दुष्टों के दलन, श्रेष्ठों के पालन, अध्यापक तथा माता-पिता की सेवा में रत, परोपकारी, वानप्रस्थ के कर्म और गृहाश्रम के व्यवहार में शूरवीर होते है, वही वास्तविक शूरवीर कहलाने योग्य हैं।[9] इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द ने 'शूरवीर' शब्द का अत्यन्त व्यापक प्रयोग किया है।

उन्होंने सैनिकों के लिए जिन अर्हताओं का आदर्श प्रस्तुत किया है, उससे यह इंगित होता है कि दयानन्द सेना में आदर्श गुण-युक्त सैनिकों को रखने का सुझाव इसलिए देते हैं, जिससे कि राष्ट्र-रक्षा तथा यश-वृद्धि होने में कोई शंका शेष न रहे।

(iv) सेनापति एवं सेना के अन्य अधिकारी :

राजा के पश्चात्, सेना का सर्वोच्च अधिकारी सेनापति कहलाता है। दयानन्द का मत है कि, "सेनापति के आश्रय के बिना शत्रु-विजय, काम की सिद्धि, अपना रक्षण, उत्तम धन, बल और परम सुख प्राप्त नहीं हो सकता है।"[10] अतः, सामान्य रूप से सेनापति में राजोचित समस्त गुणों का होना आवश्यक है। ऋषि ने सेनापति की अर्हताओं का उल्लेख करते हुए लिखा है कि, "..... धनुर्वेद और ऋग्वेदादि शास्त्रों का जानने वाला, निर्भय, सब विद्याओं में कुशल, अतिबलवान्, धार्मिक, अपने स्वामी के राज्य में प्रीति करने वाला जितेन्द्रिय, शत्रुओं को जीतने हारा तथा अपनी सेना को सिखाने और युद्ध कराने में कुशल वीर पुरुष हो, उसको सेनापति के अधिकार पर नियुक्त करें।"[11] इसके अतिरिक्त दयानन्द ने सेनापति की योग्यताओं में, अग्नि की भाँति शत्रुओं को भस्म करने वाला और सब काल में सुख देने वाला (यजु० भा० 11.26); पुण्य कीर्ति वाला तथा विजय और विद्या में प्रसिद्ध, कुलीन (यजु० भा० 12.34); सैन्य प्रशिक्षण एवं संचालन क्रिया में दक्ष (यजु० भा० 17.33); भृत्य और वीरपुरुष योद्धाओं में पिता के समान, देश-काल की अनुकूलता से युद्ध करने के लिए समय के अनुकूल व्यवहार जानने वाला (ऋ० भा० 1.81.1); दश या सहस्र वीरों के साथ अकेले ही युद्ध करने में समर्थ (ऋ० भा० 2.1.9) आदि को आवश्यक बताया है। उपर्युक्त लक्षणों एवं योग्यताओं के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्द की सेनापति विषयक संकल्पना रक्षा की महत्ता के पूर्णतया अनुकूल है।

राजा और मुख्य सेनापति के अतिरिक्त अन्य सेनापतियों का संकेत भी दयानन्द ने किया है। इस सम्बन्ध में ऋ० भा० के मन्त्र संख्या 1.84.17 की व्याख्या में उन्होंने लिखा है कि, "·····सेनापति भी अपने अधीन छोटे सेनापतियों से स्वयं सब वार्ता पूछे।" उन सेनापतियों के अतिरिक्त सेना में विभिन्न टोलियों में, सैनिक की संख्या के आधार पर, दशेश, शतेश तथा सहस्त्रेश नामक अन्य अधिकारी होंगे।[12] अन्यत्र, महर्षि ने सेना में चार प्रमुख अधिकारियों (विभागों) का भी उल्लेख किया,[13] 1. वैद्यक शास्त्र की क्रियाओं में चतुर सबकी रक्षा करने वाला वैद्य, 2. सब वीरों को हर्ष देने वाला उपदेशक, 3. शत्रुओं का अपमान करने वाला, 4. शत्रुओं का विनाश करने वाला। उक्त सन्दर्भों से स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी दयानन्द की सैन्य संरचना 'पिरामिड' की भाँति है, जिसमें सर्वोच्च शिखर पर राजा और उसके पश्चात् क्रमशः प्रधान सेनापति, सहस्त्रेश, शतेश एवं दशेश नामक सेना-नायक तथा अन्त में सैनिक गण हैं। इनके अतिरिक्त वैद्य, उपदेशक, शत्रु-अपमानकर्त्ता, शत्रु-विनाशक तथा अनेकशः भृत्य एवं परिचारक भी सेना के अभिन्न अंग हैं।

(५) युद्ध में स्त्रियों की सहभागिता :

स्वामी दयानन्द ने युद्ध-कार्य में स्त्रियों की सहभागिता का पक्ष प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि, "देखो, आर्यावर्त्त के राजपुरुषों की स्त्रियाँ धनुर्वेद अर्थात् युद्ध-विद्या भी अच्छी प्रकार जानती थीं, क्योंकि जो न जानती होतीं, तो कैकेयी आदि दशरथ आदि के साथ युद्ध में क्यों कर जातीं और युद्ध कर सकतीं।"[14] प्राचीन भारतीय युद्ध-प्रसंग के इस उदाहरण को यथार्थपरक सिद्ध करने-हेतु दयानन्द ने अपने वेद-भाष्य में विभिन्न मन्त्रों की व्याख्या में स्पष्टतः निर्दिष्ट किया है कि—राजा को शूरवीर स्त्रियों की भी सेना रखनी चाहिए, क्योंकि अव्यभिचारिणी स्त्रियों की सेना, शत्रुओं को वश में करने में सक्षम होती है (यजु० भा० 17.44); इसीलिए, जैसे युद्ध-विद्या से पुरुषों को शिक्षा करे, वैसे

स्त्रियों की भी शिक्षा करे (यजु० भा० 17.45); तथा, संग्राम में राजा के अभाव में रानी सेनापति हो और जैसे राजा युद्ध करने को वीरों को प्रेरणा दे, वैसे ही वह भी आचरण करे (ऋ० भा० 6.75.13) इत्यादि।

उपर्युक्त समस्त कथनों से स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्द ने स्त्रियों को पुरुषों के समान समर्थ और सक्षम मानते हुए उन्हें युद्ध-संचालन करने आदि की स्वीकृति देकर तत्कालीन स्त्री-जाति को मात्र 'भोग्या' बनकर रहने के विरुद्ध एक क्रान्तिकारी चेतना को जन्म दिया है। नारी-उत्थान की दिशा में महर्षि की यह संकल्पना उनके चिन्तन के उदात्त स्वरूप की द्योतक है।

(vi) सैनिकों का शिक्षण-प्रशिक्षण :

स्वामी दयानन्द ने सैनिकों को शिक्षित तथा प्रशिक्षित करने पर विशेष बल दिया है। उनका स्पष्ट मत है कि, "जो राज्य किया चाहें, वे हाथ-पाँव का बल, युद्ध की शिक्षा तथा शस्त्र और अस्त्रों का संग्रह करें।"[15] इस कथन के पीछे महर्षि का यह विश्वास निहित है कि, "एक ओर सैकड़ों सेना और दूसरी ओर एक विद्या ही विजय दिलाने वाली होती है।"[16] अतः, सैनिकों के शिक्षण-प्रशिक्षण की व्यवस्था परमावश्यक है। यही नहीं, अपितु दयानन्द ने यह भी निर्दिष्ट किया है कि, राजा शत्रुओं के विनाश-हेतु सेना के घोड़े आदि अंगों को भी प्रशिक्षित करे (यजु० भा० 8.34)। महर्षि का यह भी मत है कि सैनिकों को मात्र युद्ध कला में प्रशिक्षित ही न किया जाय, वरन् उनको शस्त्रों के निर्माण और प्रयोग की भी शिक्षा दी जानी चाहिए (ऋ० भा० 6.75.2)।

दयानन्द ने राजादि पुरुषों की शिक्षा-व्यवस्था में युद्ध-विद्या को राज-धर्म की शिक्षा का आवश्यक अंग घोषित कर इसकी महत्ता को स्पष्ट किया है। उनका अभिमत है कि, "……राजकार्य में सब सेना के अध्यक्ष शस्त्रास्त्र विद्या, नाना प्रकार के व्यूहों का अभ्यास ……जो कि शत्रुओं से लड़ाई के समय में क्रिया करनी होती है, उनको यथावत्

सीखें ....।"[17] स्वामी जी ने सैन्य प्रशिक्षण का सम्पूर्ण दायित्व राजा और तीनों सभाओं पर सौंपा है। उनका मत है कि—'सभा आदि का अध्यक्ष विद्या, विनय वा शस्त्र-अस्त्रों के सीखने-सिखाने से युद्धों में कुशल सेना को सिद्ध कर शत्रुओं को जीत कर सब प्राणियों को आनन्दित किया करें (ऋ० भा० 1.61 6)', पुनश्च, 'सेनाओं के अध्यक्ष और नौकरों को उत्तम प्रकार शिक्षा देवे, जिससे निश्चय विजय होवे (ऋ० भा० 3.37.1)'। स्वामी दयानन्द पशु-हिंसा के प्रबल विरोधी थे, तथापि उन्होंने राजा को जंगली सूअरों अथवा सिंहों को पकड़वा कर उन पर सैनिकों के शस्त्र-प्रहार के अभ्यास का भी निर्देश किया है। इस सम्बन्ध में महाराणा श्री सज्जन सिंह को एक पत्र में दयानन्द ने लिखा था कि, "क्षत्रियों को जो कि शस्त्र चलाना जानते हैं, उनके उत्साह, शौर्य, धैर्य, बल तथा पराक्रम की परीक्षा करने के लिए जंगली सूअरों वा सिंह को प्रथम पकड़ा रख के उस दिन (दशहरा के दिन) मैदान में छोड़ के शस्त्र-प्रहार करने की आज्ञा देवे। इनको विदित होवे कि शस्त्र चलाना ऐसा होता है।"[18] उदयपुर के महाराणा को लिखे इस पत्र से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्द ने सैनिकों के प्रशिक्षण पर विशेष बल देते हुए उसे राजा का प्रमुख कार्य बताया है। उनके ग्रन्थों में ऐसे अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं जिनमें सेना के प्रशिक्षणार्थ व्यूहन, शस्त्रास्त्र-प्रयोग एवं तार-विद्या आदि के अभिज्ञान को आवश्यक घोषित किया गया है।

(क) व्यूहन :

स्वामी दयानन्द ने सैन्य प्रशिक्षण में व्यूह की रचना आदि पर बल देते हुए लिखा है कि, "....जब शिक्षा करे, तब 'दण्ड-व्यूह' दण्डा के समान सेना को चलावे, 'शकट-व्यूह' गाड़ी के समान, 'वराह-व्यूह' जैसे सूअर एक दूसरे के पीछे दौड़े जाते हैं और कभी-कभी मिलकर झुण्ड हो जाते हैं, 'मकर-व्यूह' जैसे मगर पानी में चलते हैं, 'सूची-व्यूह' जैसे सूई का अग्र भाग सूक्ष्म पश्चात् स्थूल....'नीलकंठ' जैसे ऊपर नीचे

झपट मारता है, इस प्रकार सेना को बनाकर लड़ावे।"[19] उपर्युक्त प्रकार के व्यूहों के अतिरिक्त दयानन्द ने अन्यत्र बलाका (एक पक्षी) व्यूह, चक्रव्यूह[20] तथा श्येन-व्यूह[21] का भी संकेत किया है। स्वामी दयानन्द ने व्यूह-रचना, प्रक्रिया एवं प्रयोग आदि के प्रशिक्षण पर अत्यधिक बल इसलिए दिया है कि इसके अभाव में सैनिक युद्ध-भूमि में कुछ नहीं कर सकते।

(ख) शस्त्रास्त्र-प्रयोग-प्रशिक्षण :

व्यूह-रचना के ज्ञान मात्र से ही विजय की प्राप्ति सुनिश्चित नहीं हो सकती है। अतः, दयानन्द ने सैनिकों को शस्त्रास्त्र के निर्माण तथा प्रयोग के प्रशिक्षण को भी अनिवार्य बताया है। उनका मत है कि, "जो विद्वान् लोग, जब वायु और विद्युत् का आलम्ब लेकर सूर्य की किरणों के समान आग्नेयादि अस्त्र, असि आदि शस्त्र और विमान आदि यानों को सिद्ध करते हैं, तब वे शत्रुओं को जीत राजा होकर सुखी होते हैं।"[22] महर्षि ने शस्त्रास्त्रों के सम्बन्ध में अपने ग्रन्थों तथा प्रवचनों आदि में यत्र-तत्र प्रकाश डाला है। उन्होंने शिक्षा-व्यवस्था के अन्तर्गत जिस 'धनुर्वेद'-विद्या के अध्ययन-अध्यापन का उल्लेख किया है, उसमें ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्र, नारायणास्त्र, वरुणास्त्र, सम्मोहनास्त्र तथा वायव्यास्त्र आदि पर विस्तार से विचार करते हुए इन्हें मन्त्रों पर निर्भर न मानकर रासायनिक क्रियाओं का परिणाम माना है।[23] यही नहीं, अपितु उन्होंने इस मान्यता का भी स्पष्ट रूप से खण्डन किया है कि उक्त अस्त्रों का प्रयोग देवताओं के मन्त्रों द्वारा किया जाता है। उनका मत है कि शब्दमय मन्त्र से कोई द्रव्य उत्पन्न नहीं हो सकता है। ये अस्त्र-शस्त्र 'मन्त्र' अर्थात् 'विचार' से सिद्ध होते एवं चलाए जाते हैं।[24]

उपर्युक्त अस्त्रों के अतिरिक्त स्वामी दयानन्द ने तोप (शतघ्नी) तथा बन्दूक (भुशुण्डी) जैसे अत्याधुनिक शस्त्रों के प्रयोग-प्रशिक्षण का भी उल्लेख तत्कालीन परिस्थितियों में ही किया है, जबकि इस प्रकार के

शस्त्रों का प्रयोग एवं ज्ञान अभिनव माना जाता था। एक मन्त्र की व्याख्या में ऋषि ने इन शस्त्रों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि, "जब युद्ध करना हो, तब सेनापति लोग सवारी शतघ्नी (तोप), भुशुण्डी (बन्दूक) आदि शस्त्र आग्नेय आदि ..... ।"[25] ऋषि ने अति प्राचीन शस्त्रास्त्र के रूप में धनुष-बाण के भी प्रशिक्षण को उपयोगी माना है। उनका स्पष्ट मत है कि, "जिसके बाम हाथ में धनुष, पीठ पर बाण, दाहिने हाथ से बाण को निकाल कर धनुष की प्रत्यञ्चा से संयुक्त कर छोड़ने के अभ्यास से शीघ्रता करने की शक्ति को प्राप्त करता है, वही विजयी होता है।"[26] उक्त कथनों से स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी दयानन्द ने ब्रह्मास्त्र आदि प्रसिद्ध अस्त्रों, तोप और बन्दूक जैसे आग्नेयास्त्रों तथा धनुष-विद्या जैसी प्राचीन युद्ध-कला आदि के शस्त्रास्त्रों के प्रयोग तथा निर्माण आदि के शिक्षण-प्रशिक्षण पर बल देकर सैनिकों को पूर्णरूपेण दक्ष बनाने का निर्देश दिया है।

(ग) तार-विद्या :

स्वामी दयानन्द ने व्यूहन तथा शस्त्रास्त्र के प्रशिक्षण आदि के साथ ही साथ सैनिकों एवं सेनाधिकारियों के लिए तार-विद्या के ज्ञान को भी आवश्यक बताया है। उनका मत है कि, "लड़ाई करने वाले जो राजपुरुष हैं, उनके लिए यह तार-विद्या अत्यन्त हितकारी है ..... दुष्ट शत्रुओं के पराजय और श्रेष्ठ पुरुषों के विजय के लिए तार-विद्या सिद्ध करनी चाहिए।"[27] सेना के लिए ऋषि ने तार-विद्या की आवश्यकता पर इसलिए बल दिया है कि इसके दूरस्थ स्वजनों (अपने सैनिकों) से वार्ता की जा सकती है।

(vii) सैनिकों के भंजन, चिकित्सा एवं मनोरंजन की व्यवस्था :

स्वामी दयानन्द ने सैनिकों के भरण-पोषण की जिम्मेदारी राजा को दी है। उनका मत है कि—"राजा और प्रजा के पुरुषों को चाहिए

कि योद्धा लोगों की सब प्रकार से रक्षा, सबके सुखदायी घर, खाने-पीने योग्य पदार्थ, प्रशंसित पुरुषों का संग, अत्युत्तम बाजे आदि दे के अपने अभीष्ट कार्यों को सिद्ध करें।"[28] इस कथन से स्पष्ट है कि सैनिकों के शारीरिक और मानसिक रख-रखाव का दायित्व राज्य का है।

सैनिकों के स्वास्थ्य-संरक्षण के प्रति भी महर्षि अत्यन्त जागरूक प्रतीत होते हैं। उनका विचार है कि सैनिकों को दिया जाने वाला भोजन वैद्यक रीति से सुपरीक्षित, आयु, बल, बुद्धि तथा पराक्रम-वर्द्धक एवं ऋतुओं के अनुकूल होना चाहिए। राजा को चाहिए कि वह सेना चिकित्सकीय सुविधा-प्रदान करने-हेतु उच्चकोटि के चिकित्सकों की भी नियुक्ति करे। इस सम्बन्ध में महर्षि ने ऋग्वेद-भाष्य के मन्त्र 5.6.9 की व्याख्या में लिखा है कि—जो राजा सेना के भोजन के उत्तम प्रबन्ध को और आरोग्य के लिए वैद्य को रखता है, वही प्रशंसित होकर राज्य बढ़ाता है। दयानन्द का मत है कि सेना के अधिकारियों को बीमार सैनिकों के उपचार आदि के लिए चिन्तित रहना चाहिए।[29] जो युद्ध में घायल, क्षीण, थके, पसीजे, छिदे-भिदे, कटे-फटे अंग वाले और मूर्छित हों, उनको युद्धि-भूमि से उठा कर चिकित्सालय (सुखालय = शफाखाने) में पहुँचा कर औषधि-पट्टी कर स्वस्थ करना चाहिए। जो मर जावें, उनको विधि से दाह दें। राजा जन उनके माता-पिता, स्त्री और बालकों की सदा रक्षा करें।[30]

स्वामी दयानन्द ने भोजन और चिकित्सा के परिप्रेक्ष्य में ही तत्कालीन सामाजिक बुराई 'छुआछूत' के कारण व्याप्त दुर्व्यवस्थाओं की भी निन्दा की है।[31] वह अस्पृश्यता के कट्टर आलोचक थे। सेना में इससे होने वाली हानियों की ओर संकेत करते हुए दयानन्द ने बताया है कि खान-पान सम्बन्धित छुआछूत के कारण सैनिकों का सम्पूर्ण मनोयोग से युद्ध करना तो दूर, आपस में ही ईर्ष्या-द्वेष व्याप्त हो जाता है। अतः, पूना के एक प्रवचन में स्वामी जी ने पंजाब के राजा रणजीत सिंह के प्रसिद्ध तथा स्वदेशभक्त सरदार हरि सिंह 'नलवा' द्वारा काबुल-कन्धार के युद्ध में भूख से तड़पती अपनी सेना के प्राण-रक्षार्थ मुसलमानों

को भोजन को लूट कर खाने के हेतु दिए गए आदेश की प्रसंशा करते हुए कहा कि,..... जब तक इस तरह के विचार नहीं होंगे, तब तक कल्याण नहीं हो सकता।[३१] उक्त कथन से ऋषि दयानन्द के अस्पृश्यता विरोधी भावना का परिचय प्राप्त हो जाता है तथा साथ ही राष्ट्र-रक्षा-हेतु तथाकथित सामाजिक प्रतिबन्धों के उल्लंघन की स्पष्ट स्वीकृति भी मिल जाती है, जो सर्वथा अनुकरणीय एवं श्लाघ्य है।

दयानन्द ने सैनिकों के मनोरंजन एवं उत्साह के संवर्द्धन-हेतु वाद्य-यन्त्रों को भी आवश्यक माना है। उनका मत है कि, 'हे राजादिजनों! तुम लोग दुन्दुभि आदि वाजनों से भूषित, हर्षित वा पुष्टि से युद्ध में सेनाओं को अच्छे प्रकार रख कर.....(ऋ० भा०—6.47.31)।' इस कथन से ज्ञात होता है कि स्वामी दयानन्द ने मनोहारी तथा वीर-भाव-युक्त दुन्दुभि आदि वाद्य-यन्त्रों की सुमधुर ध्वनियों से वीरों का पौरुष उद्दीप्त करने-हेतु यह व्यवस्था दी है।

(xiii) युद्धोपरान्त सैनिकों का सम्मान और उनके परिवारों की व्यवस्था :

स्वामी दयानन्द सेना को राष्ट्र के अस्तित्व, विकास एवं सुरक्षा का मूलाधार मानते थे। अतः, उन्होंने राजा को यह सुझाव दिया है कि वह संग्राम में तेजस्वी, भय-रहित, अग्रगामी एवं शत्रु नाशक वीरों का धन, अन्न, गृह और वस्त्रादि से निरन्तर सत्कार करते हुए उन्हें पुत्रवत् पाले।[३३] महर्षि का स्पष्ट मत था कि, शत्रु-निग्रह करने वाली सेना और प्रजा की सेवा गुरु-तुल्य करनी चाहिए।"[३४] यही कारण था कि पराजित एवं परतन्त्र स्वदेशवासियों की 'मूर्ति-पूजा' की अवधारणा पर व्यंग करते हुए दयानन्द ने लिखा है कि, देखो, जितनी मूर्तियाँ हैं, उतनी शूरवीरों की पूजा करते, तो भी कितनी रक्षा होती.....परन्तु मूर्ति एक मक्खी की टांग भी न तोड़ सकी।"[३५] स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द ने मूर्ति-पूजा के स्थान पर वीर-पूजा को राष्ट्र-रक्षा-हेतु श्रेयस्कर बताया है।

दयानन्द ने युद्धोपरान्त युद्ध में प्राप्त धन आदि के सेना में वितरण तथा वीरगति-प्राप्त योद्धाओं के आश्रितों-हेतु दी जाने वाली सहायता के कुछ उपायों का निर्देश किया है :

1. इस व्यवस्था को कभी न तोड़े कि जो-जो लड़ाई में जिस-जिस भृत्य या अध्यक्ष ने रथ, घोड़े, हाथी, छत्र, धन-धान्य, गाय आदि पशु और स्त्रियाँ तथा अन्य प्रकार के द्रव्य और घी-तेल आदि के कुप्पे जीते हों, वही उस-उस का ग्रहण करे।[36] उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त कथन में 'स्त्रियों के अधिग्रहण' का तात्पर्य कथमपि विषयासक्ति से नहीं है, क्योंकि दयानन्द शत्रुओं की स्त्रियों को भी माँ, भग्नी और कन्या-तुल्य समझने का निर्देश दिया है।[37]

2. सेनास्थ जन भी उन जीते हुए पदार्थों में से सोलहवाँ भाग राजा को दें तथा राजा भी सेनास्थ योद्धाओं को उस धन में से सोलहवाँ भाग दे।[38] इसी तथ्य को अपने वेद-भाष्य में (यजु० भा० 17.51) भी स्पष्टतः स्वीकार करते हुए लिखा है कि, ".....जो सभापति अपने हित को किया चाहे, तो लड़ने हारे भृत्यों का भाग आप न लेवे।" स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से पूर्णतया अवगत थे कि जीते हुए धन को सेना में वितरित कर देने से सैनिकों का उत्साह बढ़ता है तथा उन्हें उनके पौरुष-प्रदर्शन का प्रतिफल भी प्राप्त हो जाता है।

3. यदि संग्रामादि में किसी योद्धा (या अधिकारी) की मृत्यु हो जाय, तो उसकी विधवा तथा बच्चों को भरण-पोषण-हेतु उसके वेतन का आधा भाग राज्य की ओर से दिया जाना चाहिए। उसके पुत्रों के समर्थ हो जाने पर उन्हें यथायोग्य अधिकार (नौकरी) दिया जाय। परन्तु, उसकी विधवा को योगक्षेमार्थ जीवन पर्यन्त धन देना चाहिए। यदि वह मृत्यु-प्राप्त कर्मचारी न्यूनतम पाँच रुपया मासिक वेतन पाता रहा हो, तो उसकी विधवा को उक्त वेतन के बराबर पूरा धन दिया

जाय। पुत्रों के समर्थ होने पर भी उसे आधा धन अवश्य दिया जाय।[39]

स्वामी दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट उपर्युक्त उपाय सैनिकों में अनुशासन तथा मनोबल बनाए रखने के लिए अवश्यमेव उपयोगी हैं। वीरगति-प्राप्त योद्धा की विधवा एवं सन्तानों के भरण-पोषण की व्यवस्था महर्षि के मानवीय एवं लोककल्याणकारी मनोवृत्ति की द्योतक है। उपर्युक्त व्यवस्था के होने पर ही वीर सैनिक स्वदेश की रक्षा-हेतु अपना बलिदान करने में तनिक भी संकोच नहीं करेंगे।

(ब) दुर्ग व्यवस्था :

भारतीय युद्ध कौशल और भौगोलिक स्थिति के कारण भारत की रक्षा व्यवस्था में दुर्ग-व्यवस्था का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। दुर्ग की स्थिति एवं सुदृढ़ता पर ही राजा, प्रजा, कोश, एवं राज्य की सुरक्षा निर्भर करती है। सशक्त एवं अभेद्य दुर्ग सैनिकों के मनोबल-वृद्धि में भी सहायक होते हैं।

स्वामी दयानन्द ने प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन से प्रेरणा ग्रहण कर दुर्ग-व्यवस्था पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। उनका विचार है कि, सुन्दर जंगल, धन-धान्य देश (स्थान) में 'धनु-दुर्ग' धनुर्धारी पुरुषों से गहन 'मही--दुर्ग' मिट्टी से किया हुआ, 'अब्दुर्ग' जल से घेरा हुआ, 'वार्क्ष-दुर्ग' अर्थात् चारो ओर वन, 'नृ-दूर्ग' चारो ओर सेना रहे, 'गिरि-दुर्ग' अर्थात् चारो पहाड़ों के बीच में कोट बना के, इसके मध्य में नगर बनावे।"[40] उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त दुर्गों के सम्बन्ध में दयानन्द ने मनुस्मृति को ही आधार माना है, परन्तु मनुस्मृति के श्लोक (7,70) में आए 'धन्व दुर्ग' (मरुस्थल में बना किला, जहाँ मरु भूमि के कारण जाना दुर्गम हो) के स्थान 'धनु-दुर्गम्' पाठ लेकर स्वामी जी ने इसका अर्थ धनुर्धारी पुरुषों से गहन स्थान बताया है। दयानन्द द्वारा मनुस्मृति के श्लोक का यह पाठान्तर उचित एवं तर्कसंगत प्रतीत

होता है, क्योंकि मरु भूमि में बना हुआ दुर्ग अन्य सुख-सुविधाओं-हेतु अत्यन्त कष्ट साध्य होगा।

स्वामी दयानन्द ने दुर्ग-व्यवस्था को सुरक्षा का प्रमुख आधार मानते हुए उसकी स्थिति और निर्माण के सन्दर्भ में लिखा है, "नगर के चारो ओर प्रकोट बनावे, क्योंकि उसमें स्थित हुआ एक वीर धनुर्धारी शस्त्र-युक्त पुरुष सो के साथ और सौ दश हजार के साथ युद्ध कर सकते हैं। इसलिए अवश्य दुर्ग बनाना चाहिए। वह दुर्ग शास्त्रास्त्र, धन-धान्य, वाहन, ब्राह्मण (विद्वान्), कारीगर, यन्त्र नाना प्रकार की कला, चारा, घास और जल आदि से सम्पन्न अर्थात् परिपूर्ण हो।'[41]

दुर्ग-व्यवस्था सम्बन्धित महर्षि के उपर्युक्त निर्देशों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि दुर्ग, रक्षा-व्यवस्था का केन्द्रीय एवं अपरिहार्य तत्व है। वही समस्त सेना, कोश और शस्त्रास्त्र आदि का आगार है। अतः, इसके निर्माण, रख-रखाव एवं सुरक्षा आदि में सावधानी रखना अत्यन्त आवश्यक है।

(स) युद्ध-प्रकरण :

युद्ध मानव-स्वभाव में निहित स्वार्थपूर्ण इच्छाओं एवं आत्मरक्षा की प्रवृत्ति का परिणाम है। ब्रिटिश दार्शनिक थामस हाब्स का मत है मानव-स्वभाव में, सामान्यतः, शक्ति के बाद शक्ति-संचय की अजस्र एवं शाश्वत पिपासा होती है, जिसका पर्यावसान मृत्यु में निहित है। चूँकि, व्यक्ति अधिकांश मात्रा में संवेदनाओं और भावनाओं में संतरण करता रहता है, अतः अपनी इसी भावना प्रधान प्रवृत्ति के कारण वह शक्ति-संचय में निरन्तर संलग्न रहते हुए परस्पर संघर्ष और युद्ध भी करता रहता है। युद्ध की विभीषिका से संत्रस्त होकर जब उसमें बौद्धिक आत्मरक्षण का विचार उत्पन्न होता है, तभी वह शांतिपूर्ण जीवन-हेतु सन्धि तथा समझौते करता है। परन्तु 'तलवार के बिना समझौता शब्द मात्र होता है।'[42] उल्लेखनीय है कि यहाँ 'तलवार'

शब्द शक्ति (राजनीतिक शक्ति) का प्रतीक है। इसी मन्तव्य से सम्भवतः प्रसिद्ध सैन्य विज्ञान-शास्त्री क्लाजविट्ज ने अपनी पुस्तक 'ऑन वार' में युद्ध को परिभाषित करते हुए लिखा है कि, "युद्ध राज्य की नीति को क्रियान्वित करने का साधन मात्र है।"[43] इसी परिप्रेक्ष्य में माओत्सेतुंग ने भी कहा था कि, "युद्ध राजनीति का अनुवर्त्तन है।"[44] युद्ध सम्बन्धी इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि युद्ध राज्य की सम्प्रभुता और प्रतिष्ठा का प्रतीक है।

परन्तु, पाश्चात्य विचारकों के युद्ध सम्बन्धी विचार एकांगी संकीर्ण मनोवृत्ति के परिचायक हैं। स्वामी दयानन्द ने राष्ट्र की वाह्य सुरक्षा के दृष्टिकोण से ही युद्ध की अपरिहार्यता को स्वीकार किया है, क्योंकि यह सम्भव नहीं है कि पड़ोसी तथा अन्य राज्य सदैव मित्र ही बने रहें। परन्तु, युद्ध का प्रयोग राष्ट्र-रक्षा के अन्य समस्त उपायों एवं विकल्पों के विफल हो जाने पर ही किया जा सकता है। इसी सन्दर्भ में दयानन्द ने राज-धर्म और युद्ध-धर्म को क्षत्रिय-धर्म[45] की संज्ञा देते हुए लिखा है कि, "जब कभी प्रजा का पालन करने वाले राजा को कोई अपने से छोटा, तुल्य और उत्तम संग्राम में आह्वान करे, तो क्षत्रियों के धर्म का स्मरण करके संग्राम में जाने से कभी निवृत्त न हो।"[46] इस कथन से इङ्गित होता है कि दयानन्द के अनुसार राजा को युद्ध की चुनौती को अपना धर्म (कर्त्तव्य) समझ कर सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिए, परन्तु जहाँ तक सम्भव हो, वह स्वयं युद्ध की पहल न करे। स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों तथा पत्रों एवं प्रवचनों आदि में युद्ध के विभिन्न पक्षों का विस्तृत विवेचन किया है, जो अग्रानिर्दिष्ट है :

(i) युद्ध के उद्देश्य :

स्वामी दयानन्द का विचार है कि युद्ध का उद्देश्य किसी राष्ट्र की स्वतन्त्रता का अपहरण, आर्थिक स्वार्थ की पूर्ति अथवा विजय-लिप्सा की तुष्टि करना नहीं है, अपितु इसका प्रयोजन आत्मरक्षा, अधिकार-

सुरक्षा, धर्म-रक्षा तथा प्रजा-रक्षण होना चाहिए। आत्मरक्षा-हेतु युद्ध करने की स्वीकृति प्रदान करते हुए दयानन्द ने 1870 – 1881 ई० के मुसलमानों और अंग्रेजों के युद्ध में पराजित मुस्लिमों द्वारा उपद्रव न छोड़ने पर उनके समर्थन में कहा था कि, "यह तो पशु-पक्षियों का भी स्वभाव है कि जब कोई उनके घर आदि को छीन लेने की इच्छा करता है, तब यथाशक्ति युद्ध करते अर्थात् लड़ते हैं।"[47] इस प्रसंग से महर्षि ने स्पष्ट कर दिया है कि आत्मरक्षा के लिए युद्ध करना धर्म तथा नियम-विरुद्ध नहीं है।

धर्म-रक्षा और प्रजा-रक्षा को युद्ध का प्रयोजन मानते हुए ऋषि दयानन्द ने अपने वेद-भाष्य में यजुर्वेद के एक मन्त्र (7.31) की व्याख्या में लिखा है कि, "·····युद्ध का प्रयोजन है—राजा शत्रुओं को मार कर प्रजा को सुख, धर्मात्माओं को निर्भयता और दुष्टों को भय देवे।" पुनश्च,"·····हे राजन्! आप अधर्मी शत्रुओं के साथ ही युद्ध करिए, धर्मात्मा के साथ न करिए (ऋ० भा 6.31.3); कभी भी धार्मिक पुरुषों के ऊपर शस्त्रों का प्रहार न करें और दुष्ट पुरुषों को शस्त्रों से मारे बिना न छोड़े (ऋ० भा० 3.30.19)।' महर्षि ने धर्म-रक्षा को युद्ध का आधार बताते हुए यहाँ तक लिखा है कि—"जिसका आश्रय राजा ले और उस आश्रयदाता के कर्मों में कोई दोष भी हो तो, वहाँ पर भी निःशंक होकर युद्ध करे।"[48] इस कथन से पूर्णतः स्पष्ट होता है कि अपने आश्रयदाता के अधर्मी होने पर उससे भी युद्ध करने में संकोच नहीं करना चाहिए।

स्वामी दयानन्द ने धन, बल और प्रतिष्ठा-प्राप्ति को भी युद्ध का प्रयोजन माना है, परन्तु इनकी उपलब्धि में धर्म का ही आचरण करना चाहिए। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने निघण्टु (2.17) में, 'संग्राम' के लिए प्रयुक्त 'महाधन' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि, "युद्ध को 'महाधन इसलिए कहते हैं कि संग्राम के बिना अत्यन्त प्रतिष्ठा और धन की प्राप्ति नहीं होती है।"[49] उल्लेखनीय है कि इस कथन में 'धन का

तात्पर्य अधर्म-युक्त धन से नहीं है। दयानन्द ने तो अधर्म से सिद्ध होने वाले धन को 'अर्थ' न कह कर 'अनर्थ' कहा है।[50] अतएव, यही कहना समीचीन है कि ऋषि ने धर्म-युक्त यद्ध द्वारा ही यश, बल और धन-वृद्धि को स्वीकृति दी है।

(ii) युद्ध में ईश्वर पर विश्वास आवश्यक :

युद्ध के प्रयोजन-निर्धारण में ही दयानन्द ने धर्म की महत्ता को स्वीकार कर यह संकेत कर दिया है कि वे धर्म-युद्ध के समर्थक थे। उनका विचार था कि धर्मानुयायी, वेदानुरागी तथा ईश्वरभक्त राजा की ही विजय होती है। धर्मात्मा और न्यायकारी राजा की सेना में ईश्वर का अधिवास होता है। इन्द्र ही प्रतियुद्ध एवं विजय कराने वाला शूरवीर और हम सब का राजा है।[51] जो ईश्वर में विश्वास करते हैं उनको ईश्वर अपने रचे हुए भूगोल का राजा होने का आशीर्वाद देता है।[52] इसीलिए, सब मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर और सर्वोपकारक धर्म का ही आश्रय करके युद्ध करें।[53] स्वामी दयानन्द ने ऋ० अ० 1, अ० 3, व० 18, मं० 2 'स्थिरा वः सन्तायुधा.....पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः।' की व्याख्या द्वारा यह स्पष्ट किया है कि, "ईश्वर उपदेश करता है कि हे राजपुरुषों! तुम्हारे आग्नेयादि अस्त्र और शतघ्नी (तोप), भुशुण्डी (बन्दूक), धनुष-बाण करवाल (तलवार) आदि शस्त्र शत्रुओं के पराजय करने और रोकने के लिए प्रशंसित और दृढ़ हों .....तुम सदा विजयी होओ, परन्तु जो निन्दित अन्याय रूप काम करता है, उसके लिए पूर्व चीजें मत हों अर्थात् जब तक मनुष्य धार्मिक रहते हैं, तभी तक राज्य बढ़ता रहता है और जब दुष्टाचारी होते हैं, तब नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।"[54] इस व्याख्या से भी स्पष्ट है कि धर्म-निष्ठ राजा ही विजयश्री प्राप्त कर सकता है। स्वामी दयानन्द ने अपने इसी मन्तव्य के कारण ईश्वर से युद्ध में विजय-हेतु प्रार्थना करने का यह निर्देश दिया है कि, "हे ईश्वर..... शत्रओं के समूहों के आप ही

घातक हो·····हमारे शत्रुओं के योद्धाओं को जीतने वाले हो·····ईश्वर से रक्षित हम लोग कभी पराजय को न प्राप्त हों··· हमारे शत्रुओं के वीर्य पराक्रमादि को प्रभग्न, रुग्ण करके नष्ट कर दे·····आपकी रक्षा से शत्रुओं के सम्मुख हम निर्बल कभी न हों।"[55]

ध्यातव्य है कि, दयानन्द द्वारा युद्ध में ईश्वर पर विश्वास करने का उपदेश-निर्देश देने का अभिप्राय धर्माडम्बर आदि नहीं है। महमूद गजनवी द्वारा सोमनाथ के मन्दिर के तोड़े जाने तथा सम्वत् 1914 में अंग्रेजों द्वारा तोपों से मूर्तियों को उड़ाए जाने के सन्दर्भ में, हिन्दुओं के ज्योतिष आदि के अन्धविश्वासों पर व्यंग करते हुए दयानन्द ने लिखा है कि, "हाय! क्यों पत्थर की पूजा कर सत्यानाश को प्राप्त हुए? क्यों परमेश्वर की भक्ति नहीं की? जो म्लेच्छों के दांत तोड़ डालते और अपना विजय करते·····।"[56] स्पष्ट है कि ऋषि ने युद्ध के समय ज्योतिष तथा मूहूर्त्त आदि मिथ्याडम्बरों एवं भ्रमजालों के स्थान पर ईश्वर के प्रति आस्था रखने का निर्देश दिया है। परमेश्वर के प्रति आस्था और विश्वास से दयानन्द का अभिप्राय सत्य एवं शाश्वत वेदोक्त धर्म के प्रति आस्था तथा विश्वास से है।

(iii) युद्ध-निर्णय :

स्वामी दयानन्द का अभिमत हैं कि युद्ध के उपर्यक्त उद्देश्यों के आधार पर ईश्वर में विश्वास रखते हुए ही युद्ध का निर्णय लिया जाना चाहिए। उनका निर्देश है कि, "परमेश्वर के सहाय से एक सम्मति हो कर दुष्टों को युद्ध में जीतने का उपाय रचो।"[57] चूँकि राजा को स्वेच्छा से कोई निर्णय लेने का अधिकार नहीं है, अतः महर्षि द्वारा 'एक सम्मति' शब्द का प्रयोग सभाओं की सहमति और स्वीकृति-हेतु किया गया है। युद्ध-निर्णय के समय युद्ध के कारण, प्रयोजन, परिणाम आदि पर विचार किया जाना चाहिए। स्वामी दयानन्द ने युद्ध-निर्णय के विषय में सभाओं की सहमति की आवश्यकता पर बल देते हुए लिखा है

कि, "इन तीनों सभाओं से युद्ध में सब शत्रुओं को जीत कर नाना प्रकार के सुखों से विश्व को परिपूर्ण करना चाहिए।"[58]

(iv) युद्ध-काल :

युद्ध में राजा की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि सभाओं की सहमति से उसके द्वारा युद्ध की घोषणा कब और कैसे समय में की गई है, क्योंकि असमय में किया हुआ युद्ध विफलता का एक प्रमुख कारण होता है। इस सम्बन्ध में महर्षि का विचार है कि जब प्रजा तथा सेना अत्यन्त प्रसन्न एवं उन्नतिशील तथा श्रेष्ठ हो और राजा भी अपने को वैसा ही अनुभव करे तथा जब शत्रु का बल अपने से विपरीत निर्बल हो जाय, तब शत्रु की ओर युद्ध-हेतु जाना चाहिए।[59] अर्थात् अपने-अपने शत्रु के बलाबल के मूल्याङ्कन के पश्चात् ही युद्ध की घोषणा करनी चाहिए।

(v) युद्ध-हेतु प्रस्थान :

स्वामी दयानन्द के मतानुसार युद्ध के लिए प्रस्थान करने वाले राजा को निम्न बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए :

1 फूट में मेल और मिले हुए शत्रुओं को तोड़ने के लिए दूतों (गुप्तचरों) का प्रयोग करना चाहिए। राजा सभासद् या दूत आदि यथार्थ से विरोधी राजा के राज्य का अभिप्राय जानें, ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे अपने को पीड़ा न हो।[60]

2 सब ओर से रक्षा के साधनों का संग्रह कर विचार और उत्साह के साथ निरालस्य होकर शत्रुओं को जीतने में तत्पर हों।[61]

3 अपने राज्य की रक्षा का प्रबन्ध और यात्रा की सब सामग्री यथा-विधि करके, सब सेना, यान, वाहन, शस्त्रास्त्रादि पूर्ण लेकर सर्वत्र दूतों को गुप्त स्थापना करके शत्रुओं की ओर युद्ध करने को जावे।[62]

4 तीन प्रकार के मार्ग अर्थात् एक स्थल (भूमि) में, दूसरा जल (समुद्र या नदियों) में, तीसरा आकाश मार्गों को शुद्ध बनाकर भूमि मार्ग

में रथ, अश्व, हाथी, जल में नौका और आकाश में विमानादि यानों से जावे और पैदल, रथ, हाथी, घोड़े, शस्त्र और अस्त्र खानपानादि सामग्री को यथावत् साथ ले बलयुक्त पूर्ण करके किसी निमित्त (उद्देश्य) को प्रसिद्ध करके शत्रु के नगर के समीप धीरे-धीरे जावे ।[63]

5 अपने बलाबल को विचार कर और राग-द्वेषादि दोषों की शान्ति करके अधर्मी शत्रुओं को जीते ।[64]

6. कुशल शस्त्रास्त्र फेंकने और चलाने में प्रवीण बड़ी सेना, खजाना, अन्नादि सामग्री सहित युद्ध में जाय ।[65]

7. सावधान होकर तथा शत्रु की सेना आदि पदार्थों से कम से कम दो गुना बल करके प्रस्थान करे ।[66]

स्वमी दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट उपर्युक्त समस्त सावधानियों एवं युद्ध की तैयारियों के उपायों से स्पष्ट हो जाता है कि वे युद्ध-प्रस्थान के पूर्व पक्ष और प्रतिपक्ष के देश, काल, परिस्थिति, क्षमता, सामर्थ्य तथा निर्बलता आदि के भली-भाँति निरीक्षण-परीक्षण की आवश्यकता पर बल दियाहै, जिससे असफलता की कोई सम्भावना न रहे ।

(vi) युद्ध-काल की मर्यादा

स्वामी दयानन्द धर्म-युद्ध के समर्थक थे। उनका विचार है कि, 'धार्मिक मनुष्य ही परमात्मा के कृपा-पात्र होकर सदा विजय को प्राप्त होते हैं (ऋ० भा० 1.39.2), इसीलिए 'धर्म से ही शत्रुओं को जीतना चाहिए (ऋ० भा० 1.32.13)।' अपनी इसी धर्मनिष्ठ युद्ध की संकल्पना के कारण स्वामी जी ने युद्ध-काल में राजा-हेतु कतिपय मर्यादाओं (सीमाओं) का निर्देश किया है :

1, युद्ध के समय इधर-उधर खड़े, नपुंसक, हाथ जोड़े हुए, खुले केशों वाले, बैठे हुए, मैं तेरी शरण में हूँ—ऐसा कहने वाले, सुप्त, मूर्च्छित, नग्न, आयुध-रहित, युद्ध-दर्शक, शत्रु के मित्र, आयुध के प्रहार से

पीड़ित, दुखी, अत्यन्त घायल, भयभीत तथा पलायन करते हुए पुरुष को धर्म का स्मरण करते हुए कभी नहीं मारना चाहिए।[67]

2. स्त्री, बालक, वृद्ध, आतुर, शोक-युक्त, दूतों तथा शरणागत आदि व्यक्तियों को न मारें।[68]

3. शरण आए हुए जनों को अच्छे प्रकार पाल के सब ओर से कृतकृत्य हों।[69]

4. धर्म-युद्ध की मर्यादाओं का उल्लंघन कर जो युद्ध में भागते हुए तथा डरे हुओं को मारते हैं, उससे किसी प्रतिष्ठा में वृद्धि नहीं होती है।[70] अतः राजा को उपर्युक्त समस्त मर्यादाओं का पालन करते हुए ईश्वर पर विश्वास कर शत्रुओं को धर्म से ही जीतना चाहिए।

(vii) रणनीति एवं युद्ध-संचालन :

स्वामी दयानन्द ने रण-भूमि में युद्ध-संचालन-हेतु निम्नलिखित निर्देश दिए हैं :

1. प्रत्येक सैनिकों को यह संकल्प ले लेना चाहिए कि वे मृत्यु से नहीं डरेंगे, क्योंकि मृत्यु से डरना मूर्खों का काम है।[71]

2. संग्राम में सेना राज-धर्म का पालन करे[72] तथा यम-नियमों के अनुकूल जैसा चाहिए वैसा विचार करके विजय आदि धर्म-युक्त कार्यों को सिद्ध करे।[73]

3. जैसे शिक्षा वाले जन घोड़ों को तथा केवट नाव को उत्तम रीति से चलाता है, वैसा राजा जन अपनी सेना को पहुँचावें।[74]

4. राजा संग्राम में एक दूसरे को हनन करने की इच्छा करते हुए यथा सामर्थ्य युद्ध करता रहे, पीठ न दिखाए।[75]

5. युद्ध-प्रसंग में हजारों मनुष्यों का प्राण लेना राज-धर्म विहित है।[76]

6. जिस दिशा में शत्रु लोग उपाधि (उपद्रव) करते हों, वहीं जाकर उन्हें वश में करे।[77]

7. सैनिक एवं सेनापति आदि को चाहिए कि अपने-अपने रथ आदि में पहचान के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के चिह्न लगालें तथा जैसे अश्व और वीरों का अधिक विनाश न हो, वैसा उपाय करें।[78]

8. सब ओर से शस्त्र और अस्त्रों के प्रहार से उठी धूम धली आदि से शत्रु सना को ढाँप कर, जैस ये शत्रु जन परस्पर अपने दूसरे को न जाने, वैसा ढंग सेनापति आदि को करना चाहिए।[79]

9. शत्रु को जीतने वाले शूरवीर मनुष्य अपने नगरों को बचा कर युद्ध करें।[80]

10. राजा शत्रु के छल को नित्य-प्रति जानने की कोशिश करे और अपने छिद्र (निर्बलता) को न जानने दे, जैसे कछुआ अपने अंगों को गुप्त रखता है, वैस शत्रु के प्रवेश करने के छिद्र को गुप्त रख।[81]

11. व्यूह के बिना युद्ध न करे न करावे, लड़तो हुई अपनी सेना की चष्टा को देखा करे कि ठीक-ठीक लड़ती है या कपट रखती है।[82]

12. सैनिकों के पास बाण आदि युद्ध के साधन न रहें, तो फिर-फिर दिया करे।[83]

13. जिधर भय विदित हो उसी ओर सेना को फैलावे, सब सेना के स्वामियों को चारों ओर रख के 'पद्म-व्यूह' अर्थात् पद्माकार चारो ओर से सेनाओं को रख के मध्य में आप रहे।[84]

14. युद्ध के समय 'चक्र-व्यूह', 'श्येन-व्यूह' तथा 'शकट-व्यूह' आदि रचनादि युद्ध-कर्मों से सब दिशाओं में अपनी सेनाओं के भागों को स्थापन कर सब प्रकार से शत्रुओं को घेर-घार कर जीते।[85]

15. जब नगर, दुर्ग या शत्रु की सेना में प्रविष्ट हो कर युद्ध करना हो, तब 'सूची-व्यूह' अथवा 'वज्रव्यूह' जैसे दुधारी खड्ग, दोनों ओर युद्ध करते जाय और प्रविष्ट भी होता चले, वैसे अनेक प्रकार के व्यूह अर्थात् सेना को बना कर लड़ावे।[86]

16. जो सामने शतघ्नी (तोप) या भुशुण्डी (बन्दूक) छूट रही हो, तो 'सर्प-व्यूह' अर्थात् सर्प के समान सोते-सोते चले।[87]

17. जब तोपों के पास पहुँचे, तब उनको मार या पकड़, तोपों का मुख शत्रु की ओर फेर, उन्हीं तोपों से या बन्दूक आदि से उन शत्रओं को मारे अथवा वृद्ध पुरुषों को तोपों के मुख के सामने घोड़ों पर सवार करा दौड़ावे और मारे, बीच में अच्छे-अच्छे सवार रहें। एक बार धावा कर शत्रु की सेना को छिन्न-भिन्न कर पकड़ अथवा भगा देवे।[88]

18. सब दिशाओं में अध्यक्ष तथा शूरवीरों को आगे और डरने वालों को मध्य में स्थापित कर भोजन, आच्छादन, वाहन, अस्त्र और शस्त्रों के योग से युद्ध करे। विद्वानों की सेना के अधीन मूर्खों की सेना करनी चाहिए।[89]

19, सेनापति और बलाध्यक्ष को आठों दिशाओं में रखे, जिस ओर से लड़ाई होती हो, उसी ओर सब सेना का मुख रखे, परन्तु दूसरी ओर भी पक्का प्रबन्ध रखे, नहीं तो पीछे या पार्श्व से शत्रु को घात होने की सम्भावना होती है।[90]

20. जो गुल्म अर्थात् दृढ़ स्तम्भों के तुल्य युद्ध-विद्या से सुशिक्षित, धार्मिक, युद्ध करने में चतुर, भयरहित तथा जिनके मन में किसी प्रकार का विकार न हो, उनको सेना के चारो ओर रखे।[91]

21. जो थोड़े पुरुषों से बहुतों के साथ युद्ध करना हो, तो मिलकर लड़ावे और काम पड़े तो उन्हीं को झट फैला देवे।[92]

22. जो समभूमि में युद्ध करना हो, तो रथ, घोड़े और पदातियों से और जो समुद्र में युद्ध करना हो, तो नौका और थोड़े जल में हाथियों पर, वृक्ष और झाड़ी में बाण तथा स्थल-बालू में तलवार-ढाल से युद्ध करे और करावे।[93]

23. शत्रुओं को जीतने-हेतु उनके सामने से छिप जाना उचित है, क्योंकि

जिस प्रकार से शत्रु को जीत सके, वैसे काम करे। जैसे सिंह क्रोध से सामने आकर शस्त्राग्नि में शीघ्र भस्म हो जाता है, वैसे मूर्खता से नष्ट न होने जावे।[94]

24. शत्रु को जीतने के लिए सिंह के समान पराक्रम करे, चीता के समान छिप कर शत्रुओं को पकड़े और समीप आए बलवान शत्रुओं से सस्सा (खरगोश) के समान दूर भाग जाय और पश्चात् उनको छल से पकड़े।[95]

25. किसी समय उचित समझे, तो शत्रु को चारो ओर से घेर कर रोक रखे और उसके राज्य को पीड़ित कर शत्रु के चारा, अन्न, जल और इंधन को नष्ट-दूषित कर दे। तालाब, नगर के प्रकोट और खाईं को तोड़-फोड़ दे, रात्रि में उनको भय देने और जीतने का उपाय करे।[96]

26. जब शत्रु जन पर्वतों में वर्त्तमान मारे नहीं जा सकते हों, तब उनके अन्न-पान आदि को विदूषित कर उनको वश में लावे।[97]

27—सेना के वीरों को चाहिए कि शत्रुओं की सेनाओं को अतीव दुख से जाने योग्य गढ़ेले आदि से युक्त स्थान में गिरा कर मारे।[98]

28—आलस्य को त्याग कर, पुरुषार्थ का बिस्तार करके शत्रुओं को जलावे और अन्धकूप के सदृश कारागृह में उनका बन्धन करे तथा नीचता को प्राप्त करावे। जो लोग ऐसा करते हैं उनकी राजा गुरु के सदृश सेवा करे।[99]

29—राजा को चाहिए कि शत्रुओं के पुर, नगर, शरद आदि ऋतुओं में सुख देने वाले स्थान आदि वस्तु नष्ट करे।[100]

30—जैसे बिजुली सूर्य और पवन मेघों के अवयवों को काटते हैं, वैसे ही धार्मिक राजा आदि लोग शत्रुओं को काटे।

31—राजा को रण-भूमि में अपनी सेना का विधिपूर्वक सफल संचालन

करना चाहिए, क्योंकि सेना की हार या जीत ही राजा की हार या जीत होती है।[101]

स्वामी दयानन्द प्रतिपादित युद्ध-संचालन, व्यूहन एवं लक्ष्य-प्राप्ति-हेतु अपनाए जाने वाले उपर्युक्त आक्रामक एवं आकस्मिक उपायों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे दुष्ट तथा अधर्मात्मा शत्रु को धर्म-युद्ध में किसी भी स्थिति में पराजित करना चाहते हैं। विजेता होने के लिए तथा धर्म और प्रजा की रक्षा के लिए इन नीतियों और उपायों का क्रियान्वयन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि अपनी अधिकाधिक सुरक्षा एवं शत्रु की अधिक से अधिक हानि हो। स्वामी दयानन्द-निर्देशित रणनीति की उपयोगिता आज भी स्वयं सिद्ध है, क्योंकि युद्ध-नीति के सम्यक् ज्ञान एव अनुपालन के अभाव में राजा (राज्य) अपनी सेना और प्रजा को युद्ध की ज्वाला में झोंक देता है।

(viii) मनोबल :

युद्ध-काल में दुःसह यन्त्रणाओं तथा कष्टों के कारण सैनिकों के थक जाने, उदासीन या निरुत्साहित हो जाने की प्रबल सम्भावना रहती है। इसीलिए युद्ध-क्रिया में अस्त्र-शस्त्र तथा रणनीति के ज्ञान के साथ ही साथ मनोबल को भी महत्त्व प्रदान करते हुए स्वामी दयानन्द ने यह व्यवस्था दी है कि, "जिस समय युद्ध होता हो, उस समय लड़ने वालों को उत्साहित और हर्षित करें। जब युद्ध बन्द हो जाय, तब जिससे शौर्य और युद्ध में उत्साह हो, वक्तृत्वों से सबके चित्त को खान-पान, अस्त्र शस्त्र, सहाय और औषधि आदि से प्रसन्न रखें।"[102] स्वामी जी ने मनोबल की महत्ता का प्रतिपादन अपने वेद-भाष्य में भी किया है। वेद के मन्त्रों की व्याख्या करते हुए उन्होंने स्थान-स्थान पर लिखा है कि –अच्छे उत्साह से वीरों में जैसी शूरता होती है, वैसी और प्रकार से नहीं होती है (ऋ० भा० 1.100.7) इसलिए सेनापति संग्राम में विचरता हुआ सेना और प्रजा-पुरुषों को हर्षित करके शत्रुओं को जीते (यजु० भा० 6.20) और जब युद्ध निवृत हो रुक जाय और

अपने-अपने स्थान पर वीर बैठें, तब उन सबको इकट्ठा कर आनन्द देकर जीतने के ढंग की बातें-चीतें करे, जिससे वे सब युद्ध करने के लिए उत्साह बाँध के शत्रुओं को अवश्य जीतें (ऋ० भा० 1.119.3) इत्यादि। इन कथनों से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी दयानन्द ने मनोबल को युद्ध का सर्वाधिक विश्वस्त अस्त्र स्वीकार करते हुए उसे निरन्तर बनाए रखने का निर्देश दिया है।

(ix) शत्रु-राष्ट्र से युद्धोपरान्त व्यवहार :

स्वामी दयानन्द द्वारा युद्ध-नीति के समस्त निर्देशों के सम्यक् अनुपालन तथा उच्च मनोबल के कारण धर्मानुयायी, प्रजापालक तथा न्यायकारी राजा का विजयी होना सुनिश्चित है। चूंकि महर्षि धर्म-निष्ठ युद्ध के पक्षधर थे, अतः उन्होंने युद्ध के पश्चात् विजेता राजा को शोषणवादी नीति के परित्याग का परामर्श देते हुए कहा कि उसे विजित (पराजित) राष्ट्र की प्रजा का संरक्षण अपनी ही प्रजा की भाँति करना चाहिए। यही नहीं, अपितु उसे पराजित राष्ट्र की प्रजा का इतना अधिक सम्मान करना चाहिए, जिससे कि पराजय के दुख से दुखी प्रजा के हृदय से भय तथा आतंक की भावना समाप्त हो जाय। इसी प्रकार पराजित राजा के साथ भी आदर-सम्मान एवं मित्रता का भाव प्रदर्शित करना चाहिए, जिससे उसमें प्रतिशोध की भावना न रहे। स्वामी दयानन्द ने पराजित राज्य, राजा तथा प्रजा के प्रति अधोलिखित प्रकार से व्यवहार करने का सुझाव दिया है :

1—अनेक फाँसियों (बन्धनों) से शत्रुओं को बाँध, उनको बाण आदि अस्त्रों से ताड़ना दे और बन्दी-गृह में बन्द करके श्रेष्ठ पुरुषों का पालन करें।[103]

2—युद्ध में घायल शत्रु की भी रक्षा और चिकित्सा करनी चाहिए।[104]

3—पराजित शत्रु की अप्रतिष्ठा कभी न करे, किन्तु उसको यथायोग्य सम्मान दे।[105]

4—पराजित शत्रु को न चिढ़ावे, न हँसी और ठट्ठा करे, न उसके सामने हमने पराजित किया है—ऐसा भी कहे, किन्तु आप हमारे भाई हैं, ऐसा कहकर मान-प्रतिष्ठा दे।[106]

5—युद्ध में जो पकड़े जाँय, उन्हें बन्दीगृह में रख और भोजनादि दे तथा जो घायल हों, उनका विधिपूर्वक उपचारादि करावे। उनके बच्चों को सन्तानवत् तथा स्त्रियों को माँ, बहन और कन्या के समान समझे तथा कभी विषयासक्ति की दृष्टि से न देखे।[107]

6—जब पुनः युद्ध की आशंका न हो, तो बन्दियों को सत्कारपूर्वक छोड़कर उनके देश या घर भेज दे, परन्तु जिन बन्दियों से भविष्य में खतरा हो उनको सदा कारागार में रखे।[108]

7—युद्ध के पश्चात् राजपुरुषों को चाहिए कि विनय और पराक्रम से दुष्ट शत्रुओं को बाँध, मार और निवार अर्थात् उनको धार्मिक मित्र बनाकर समस्त प्रजाजनों को अच्छे कार्यों में प्रवृत्त कर आनन्दित करे तथा न्याय से शत्रुओं की प्रजा का भी पालन करे।[109]

8—विजयोपरान्त शत्रु से प्रमाण अर्थात् प्रतिज्ञादि (सन्धि-पत्र) लिखवा कर, यदि उचित समय हो, तो उसी के वंशस्थ किसी धार्मिक पुरुष को राजा कर दे और लिखित रूप में अनुबन्धित कर ले कि उसे धर्मयुक्त राजनीति के अनुकूल न्याय से प्रजा का पालन करना होगा।[110]

9—उस राज्य में ऐसे पुरुष (राजदूत आदि) रखे, जिससे पुनः उपद्रव न हो।[111]

10—पराजित राजा का विजेता राजा अपने प्रधान पुरुषों के साथ मिल कर रत्नादि उत्तम पदार्थों सहित सत्कार करे, ऐसा न करे कि जिससे उसका योगक्षेम भी न हो। यदि वह बन्दीगृह में हो, तो भी उसका यथायोग्य सत्कार करे, जिससे वह पराजय के शोक से रहित होकर सानन्द रहे।[112]

11—पराजित राजा के मनोवांक्षित पदार्थों को देना बहुत उत्तम है, क्योंकि संसार में दूसरे का पदार्थ-ग्रहण करना अप्रीति और देना प्रीति का कारण है ![113]

उपर्युक्त समस्त निर्देशों से स्पष्ट होता है कि विजेता राजा का उद्देश्य अपने साम्राज्य का मात्र विस्तार करना ही नहीं है, अपितु धर्म-न्याय की स्थापना तथा प्रजा-रंजन करना भी है। पराजित राजा का सत्कार और उसे विजेता द्वारा अपना धार्मिक मित्र बना लेना, युद्ध के पवित्र एवं उदात्त स्वरूप का द्योतक है। इससे स्पष्ट हैं कि दयानन्द को कदापि यह अभीष्ट नहीं था कि कोई भी राज्य मात्र अपनी युद्ध-लिप्सा की तुष्टि हेतु किसी अन्य राज्य को युद्ध की विभीषिका में पड़ने को बाध्य करे।

स्वामी दयानन्द द्वारा युद्ध-प्रकरण से सम्बन्धित समस्त पक्षों के सम्यक् अनुशीलन के पश्चात् यह तथ्य स्थापित होता है कि उन्होंने युद्ध-सम्बन्धी लगभग उन सभी कारकों का विवेचन अपने राज-दर्शन के अन्तर्गत किया है, जो राष्ट्र की रक्षा के लिए देश, काल और परिस्थिति के दृष्टिकोण से उपयोगी थे। यही नहीं, अपितु रक्षा-व्यवस्था के परि-प्रेक्ष्य में दयानन्द के चिन्तन में युद्ध-सिद्धान्त से उन समस्त तत्वों का भी समावेश है, जिन्हें आधुनिक युद्ध-सिद्धान्तों में स्विटजरलैण्ड के विचारक जेमिनी, प्रसिद्ध सैन्य विशेषज्ञ क्लॉजविट्ज, जनरल कॉलिन्स तथा जनरल फुलर आदि ने स्वीकार किया है। यद्यपि, इनके द्वारा पृथक्-पृथक् रूप में चार या छह युद्ध-सिद्धान्तों का ही उल्लेख किया गया है, परन्तु कुल मिलाकर वर्त्तमान में युद्ध-कला के दश सिद्धान्त सर्वाधिक प्रचलित है।[114] 1—युद्ध उद्देश्य निर्धारण तथा उस पर स्थिर रहना, 2—आक्रमणात्मक कार्यवाही, 3—आश्चर्य और विस्मय, 4—सुरक्षा, 5—गतिशीलता तथा लचीलापन, 6—संकेन्द्रण, 7—शक्ति की मितव्ययिता, 8—सहयोग, 9—प्रशासन, 10—मनोबल।

स्वामी दयानन्द के युद्ध-प्रकरण में युद्ध-कला के उपर्युक्त समस्त तत्वों का उल्लेख पूर्णतया प्राप्त होता है। उन्होंने युद्ध-प्रयोजन के निर्धारण को आवश्यक मानते हुए शत्रु को परास्त करने के लिए आक्रमणात्मक कार्यवाही शत्रुओं को धोखा देकर चकित करने, सिंह, चीते और खरगोश की भाँति छिप कर, झपट कर या भाग कर युद्ध करने, युद्ध-पूर्व और युद्ध-काल में अपनी तथा स्वदश की पूर्ण सुरक्षा करने, युद्ध में गतिशीलता और रणनीति में आवश्यकतानुसार लचीलापन लाने, युद्ध में किसी मोर्चे पर शक्ति के केन्द्रीयकरण करने, सफलता-प्राप्ति-हेतु कम से कम शक्ति एवं ससाधनों का अधिक लाभदायक रीति से प्रयोग करने सेना के प्रत्येक अंगों में सहयोग एवं समरसता बनाए रखने, सैन्य-संचालन, प्रशासन तथा व्यूहन के साथ ही साथ मनोबल अथवा उत्साह बनाए रखने आदि पर विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। यही नहीं, वरन् दयानन्द ने धर्म-युद्ध में ईश्वर पर विश्वास करने के सिद्धान्त को स्वीकृति प्रदान कर युद्ध के आध्यात्मिक स्वरूप का प्रतिपादन भी किया है, जो एक ओर तो अहंकार, स्वार्थ और शक्ति-प्रदर्शन के लिए होने वाले युद्ध का विरोध करता है तथा दूसरी ओर हमें युद्ध की नैतिकता की भी शिक्षा देता है। युद्ध-प्रसंग में दयानन्द का यह चिन्तन उनकी विलक्षण प्रतिभा का प्रतीक है।

(द) पर-राष्ट्र-सम्बन्ध के मूल तत्त्व ;

किसी भी राष्ट्र-रक्षा का महत्त्वपूर्ण आधार उसकी विदेशीनीति होती है। विदेशनीति का अभिप्राय ऐसी नीतियों तथा क्रियाओं से है जो एक राज्य द्वारा अन्य राज्य या राज्यों के मध्य सम्बन्ध बनाए रखने के लिए की जाती हैं। यह दूसरे राज्यों के व्यवहार अथवा आचरण को अपने राष्ट्रीय हितों के अनुरूप परिवर्तित करने का प्रयास है। यही कारण है, कि वर्त्तमान राजनीति में अन्तर-राष्ट्रीय सम्बन्धों की महत्ता और उपादेयता को समस्त विचारकों, दार्शनिकों तथा राष्ट्र-नेताओं द्वारा एकमत होकर स्वीकार किया गया है। कतिपय चिन्तकों ने पर-राष्ट्र-सम्बन्ध को

'शक्ति-संघर्ष' तथा 'शक्ति-सन्तुलन' का निर्धारक तत्त्व माना है। वस्तुतः, राज्यों के आपसी सम्बन्धों की विवेचना का नाम ही अन्तर-राष्ट्रीय सम्बन्ध है। यह राजनीतिक या गैर राजनीतिक, आर्थिक या भौगोलिक, शान्तिमय या युद्धमय आदि किसी भी रूप में हो शकता है। यह राष्ट्र-नेता के चातुर्य और बुद्धि द्वारा अपने हितों को दूसरे देशों के हितों से आगे रखने की कला है। इसका प्रमुख प्रयोजन मित्र राष्ट्रों से अपने सम्बन्धों को प्रगाढ़ बनाना, शत्रु राष्ट्रों से यथासम्भव तटस्थता बनाए रखना, राष्ट्र की एकता, अखण्डता तथा सम्प्रभुता की रक्षा करते हुए राष्ट्रीय हितों का संरक्षण करना, सद्भावना, मैत्री, सहयोग के साथ ही साथ विश्वशांति की स्थापना का प्रयास करना होता है। परराष्ट्र-सम्बन्धों को आधुनिक राजनीति की सफलता की कसौटी और राष्ट्रीय शक्ति माना जाता है।

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में मनु, कौटिल्य आदि समस्त राजशास्त्र प्रणेताओं ने पर-राष्ट्र-सम्बन्ध की सांगोपांग व्याख्या की है। इसी परम्परा में स्वामी दयानन्द ने भी अपने ग्रन्थों, प्रवचनों तथा पत्रों आदि में पर-राज्य-सम्बन्ध के कुशल संचालन पर सम्यक् प्रकाश डाला है। महर्षि की पर-राष्ट्र-सम्बन्ध विषयक अवधारणा प्रधानतया मनु-स्मृति पर आधारित है। उन्होंने उदयपुर के महाराणा को लिखे एक पत्र में राजनय (विदेशनीति) के सफल संचालन की गम्भीरता को ध्यान में रखते हुए यह निर्दिष्ट किया है कि राजा को दूत द्वारा प्रति-दिन स्वराज्य एवं पर-राज्य की विभिन्न सूचनाएँ अवश्यमेव प्राप्र करनी चाहिए तथा तदनुकूल ऐसा आचरण करना चाहिए, जिससे स्वदेश का अधिकाधिक हित हो।[116] दयानन्द ने पर-राष्ट्र-सम्बन्ध के निम्न-लिखित मूलभूत तत्त्वों का निर्देश किया है :

(i) गोपनीयता :

अपने शत्रु, मित्र तथा तटस्थ राज्यों से राजा को चाहिए कि वह योजनाओं एवं नीतियों का राष्ट्रीय हित में गुप्त रखे। दयानन्द का मत

है कि, "राजा सदा ही अपने विचारों को छिपावे, जब कार्य सिद्ध होवे, तभी लोग प्रकट जानें (ऋ० भा० 6.20.9)।" वह किसी को अपना भेद न दे और ऐसा प्रयास करे कि कोई उसका छिद्र न जान सके।[116] जैसे कछुआ अपने अंगों को गुप्त रखता है, वैसे ही राजा शत्रु के प्रवेश करने के छिद्र को गुप्त रखे।[117] महर्षि ने मन्त्र-गोपन को राज-धर्म का प्रमुख सिद्धान्त घोषित करते हुए लिखा है कि, "राजा इस राज-धर्म को यथावत् जान कर अपने राज्य का ऐसा प्रबन्ध करे, कि जिससे उसके देश पर कोई शत्रु न आ जाय।"[118] जो राजा भविष्यत् वाले कर्मों में गुण-दोष का ज्ञाता व वर्त्तमान में तुरन्त निश्चयकर्त्ता और किए हुए कार्यों में शेष कर्त्तव्यों को जानता है, वह शत्रुओं से कभी पराजित नहीं होता है।[119] दयानन्द के उपयुक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि राजा को मन्त्रणा की गोपनीयता पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

(ii) मित्र, उदासीन और शत्रु-राष्ट्र :

स्वामी दयानन्द का मत है कि नीतिज्ञ, पृथ्वीपति, राजा का चाहिए कि वह ऐसे समस्त उपायों का प्रयोग करे, जिससे उसके उदासीन (तटस्थ या मध्यस्थ) तथा शत्रु अधिक न हों तथा पड़ोसी या अन्य राज्यों से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बना रहे।

स्वामी दयानन्द ने 'मित्र' की महत्ता के सम्बन्ध में वेद-भाष्य में लिखा है कि, "मित्र-रहित पुरुष सुख की वृद्धि नहीं कर सकता है (ऋ० भा० 1.41.8)।" अन्यत्र महर्षि का मत है कि, "राजा सुवर्ण और भूमि की प्राप्ति से वैसा नहीं बढ़ता है कि जैसा निश्चल प्रेम-युक्त, भविष्यत् की बातों को सोचने और कार्य-सिद्ध करने वाले समर्थ मित्र अथवा दुर्बल मित्र को भी प्राप्त हो के बढ़ता है।"[120] दयानन्द ने ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों की व्याख्या में मित्र के लक्षणों का संकेत करते हुए लिखा है कि—मूर्खपन और खोटी सिखावटों को रोक के सबके सुख के लिए निरन्तर अच्छा यत्न करने वाला (ऋ० भा० 1.101.2); सभा-

ध्यक्ष के स्वभाव और वर्त्ताव के प्रकाश के समान विद्या, पृथ्वी के समान सहनशीलता, चन्द्रमा के तुल्य शांति, सूर्य के तुल्य नीति का प्रकाश और समुद्र के समान गम्भीरता जिसमें है उसको छोड़ के और को अपना मित्र न करे (ऋ० भा० 1.101.3)।' इन समस्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि दयानन्द ने राजा को मित्र-राष्ट्र की महत्ता, उपयोगिता एवं लक्षणों को बताकर सफल राजनय का प्रथम पाठ पढ़ाया है।

'उदासीन' का लक्षण निर्दिष्ट करते हुए दयानन्द ने यह व्यवस्था दी है, "जिनमें प्रशंसित गुण-युक्त अच्छे-बुरे मनुष्यों का ज्ञान, शूरवीरता और करुणा भी स्थूल लक्ष्य अर्थात् ऊपर-ऊपर की बातों को निरन्तर सुनाने वाला उदासीन कहाता है।"[121] स्पष्ट है कि उपर्युक्त लक्षण-युक्त राष्ट्र को ही तटस्थ राज्य कहा जा सकता है। इस प्रकार के राष्ट्र से शत्रुता या वास्तविक मित्रता नहीं करनी चाहिए। परन्तु, उदासीन राज्य हानिकारक नहीं होता है।

'शत्रु' से तात्पर्य उस व्यक्ति या राष्ट्र से है, जिसमें उपर्युक्त 'मित्र' या 'उदासीन' के लक्षण न हों। दयानन्द का मत है कि, "जो भीतर से शत्रु से मिला हो और अपने साथ भी ऊपर से मित्रता रखे, गुप्तता से शत्रु को भेद देवे, उसके आने-जाने में, उससे बात करने में अत्यन्त सावधानी रखे, क्योंकि भीतर शत्रु ऊपर मित्र पुरुष को बड़ा शत्रु समझना चाहिए।"[122] यही नहीं, अपितु राजा को चाहिए कि वह न अपने शत्रु न मित्र के शत्रु से प्रीति करे (ऋ० भा०—1. 41.8); जो मित्र के समान बात-चीत करते हुए दुष्ट प्रकृति चतुर शत्रु जन सज्जनों को उद्वेग कराते, उनको राजा समूल जैसे नष्ट हों, वैसे मारे (ऋ० भा० 1.74.6)।'

इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने राजा को विदेश-नीति के निर्धारण में मित्र, उदासीन और शत्रु-राष्ट्र के लक्षण बताते हुए सतर्क किया है कि वह अत्यन्त सावधानी से शत्रु-मित्र और उदासीन की परख करके ही राजनय का निर्धारण करे। दयानन्द ने स्पष्ट निर्देश दिया है कि,

"राजा आदि सभ्यजनों को चाहिए कि धर्म और विनय से समाहित हो के जल के समान मित्रों को शीतल करे, अग्नि के समान शत्रुओं को जलावे। जो उदासीन होकर शत्रुओं को बढ़ावे, उसको दृढ़ बन्धनों से बाँधकर निष्कण्टक राज्य करे (यजु० भा०—13.12)।" इस निर्देश से स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्द ने राजा को अन्तर-राष्ट्रीय राजनीति का मूल-मन्त्र मित्र, शत्रु और तटस्थ की पहचान कर उनसे तदनुकूल व्यवहार करना बताया है।

(iii) चार उपाय ;

स्वामी दयानन्द ने साम, दाम, भेद और दण्ड नामक चार उपायों को राजनय का निर्देशक तत्त्व बताया है। उनका अभिमत है कि, साम, दाम, दण्ड और भेद की युक्ति से दुष्ट और शत्रुजनों को निवृत्ति करके विद्या और चक्रवर्ती राज्य की यथावत् उन्नति करनी चाहिए (ऋ० भा०—1.11.7)। शत्रुओं तथा परिपन्थी डाकुओं आदि को वश में करने के लिए राजा को चाहिए कि वह साम (मेल), दाम (कुछ देकर), भेद (उन्हें आपस में तोड़-फोड़ कर) तथा दण्ड का प्रयोग विवेक पूर्वक करे।[123] जिस-जिस उपाय से दुष्ट बल-हीन हों, उनका अनुष्ठान (प्रयोग) नित्य करे (ऋ० भा०—7.22.2)। परन्तु, इस बात का ध्यान रखे कि, जहाँ साम, दाम, भेद से कार्य सिद्ध न हो, वहीं दण्ड का प्रयोग करे।[124] उपर्युक्त निर्देशों से स्पष्ट है कि स्वामीजी ने राजा को राज्य की सीमा-वृद्धि, आन्तरिक शांति एवं सुव्यवस्था, प्रजा-हित-रक्षण तथा पर-राष्ट्र-सम्बन्ध के क्षेत्र में चारो उपायों को सतकता पूर्वक प्रयोग कर यश और कीर्ति अर्जित करने का सुझाव दिया है।

(iv) षड् गुण :

वैदेशिक नीति-निर्धारण एवं युद्ध प्रसंग में निश्चित सफलता-हेतु जिन छह सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है, उसे भारतीय चिन्तन

परम्परा के अनुरूप ऋषि दयानन्द ने 'षड् गुण' की संज्ञा दी है। उनका अभिमत है कि, 'सभापति को उचित है कि, नित्य-प्रति उन राज्य कर्मों में कुशल विद्वान् मन्त्रियों के साथ सामान्य करके किसी से 'सन्धि' मित्रता, किसी से 'विग्रह' विरोध, 'स्थान' स्थिति-समय को देख के चुप रहना, अपने राज्य की रक्षा करके बैठे रहना 'समुदय' जब अपना उदय अर्थात् वृद्धि तो तब दुष्ट शत्रु पर चढ़ाई करना, 'गुप्तिम्' मूल राज-सेना तथा कोश आदि की रक्षा, 'लब्ध प्रशमन्' जो-जो देश प्राप्त हों, उस-उस में शांति स्थापना उपद्रव रहित करना, इन छः गुणों का विचार नित्य प्रति करे।"[125] दयानन्द के उक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने राजा द्वारा सन्धि-विग्रह आदि छः नीतियों के सम्यक् परिपालन को दिन-चर्या बताया है। ऋषि के अनुसार सन्धि-विग्रह आदि छः नीतियों के दो-दो भेद होते हैं।[126] इनका संक्षिप्त विवेचन अधोलिखित है :

सन्धि :

'सन्धि' का शब्दार्थ है 'मेल'। दयानन्द का विचार है कि, "शत्रु से मेल 'सन्धि' अथवा उससे विपरीतता करे, परन्तु वर्त्तमान और भविष्यत् में करने के काम बराबर करता जाय, यह दो प्रकार का मेल कहाता है।"[127] स्वामी जी का स्पष्ट मत है कि धार्मिक राजा से सदा मेल रखे[128] तथा जब उसे शत्रु से सन्धि करना हो तो, "जब यह जान ले कि इस समय करने से थोड़ी पीड़ा प्राप्त होगी और पश्चात् करने से अपनी वृद्धि और विजय अवश्य होगी, तब शत्रु से मेल करके उचित समय तक धीरज करे।"[129]

विग्रह :

'विग्रह' का तात्पर्य है—विरोध या युद्ध। दयानन्द के अनुसार विग्रह दो प्रकार का होता है—अपने लिए या मित्र के लिए[130]। विग्रह-हेतु उचित समय के सम्बन्ध में ऋषि का अभिमत है कि राजा

जब अपनी सम्पूर्ण प्रजा तथा सेना को अत्यन्त प्रसन्न, उन्नतिशील और श्रेष्ठ जाने, वैसे अपने को भी समझे, तभी शत्रु से 'विग्रह' (युद्ध) करे।[131]

यान :

युद्ध के लिए चढ़ाई करना 'यान' कहलाता है। इसके भी दो भेद होते हैं—अकस्मात् कोई कार्य (कारण) प्राप्त होने पर अकेले चढ़ाई करना या मित्र के साथ मिल कर शत्रु की ओर गमन करना।[132] इसके उचित समय के सम्बन्ध में दयानन्द का मत है कि, "जब अपने बल अर्थात् सेना को हर्ष और पुष्टि-युक्त प्रसन्न-भाव से जाने ओर शत्रु का वल अपने से विपरीत निर्बल हो जावे, तब शत्रु की ओर युद्ध करने के लिए जावे।"[133]

आसन :

युद्ध में जाने की अपेक्षा अपने ही राज्य में स्थित रहना 'आसन' कहलाता है। यह भी दो प्रकार का होता है—स्वयं निर्बल हो कर बैठ जाना या मित्र के रोकने से अपने स्थान (राज्य) में बैठे रहना।[134] राजा जब अपना सैन्य बल क्षीण और न्यून देखे, तब शान्त हो कर बैठ जाय।[135]

द्वैध :

कार्य सिद्धि-हेतु सेना के दो विभाग करके विजय करना (यह) दो प्रकार का 'द्वैध' कहलाता है। जब राजा शत्रु को अत्यन्त बलवान जाने, तब द्विगुणा या दो प्रकार की सेना करके अपना कार्य सिद्ध करे।[136]

आश्रय :

'आश्रय' का तात्पर्य शरण या आलम्बन लेना है। जब शत्रु के आक्रमण की पूरी सम्भावना हो, तब शीघ्र ही किसी धार्मिक बलवान राजा का आश्रय ले लेना चाहिए।[137] दयानन्द ने आश्रय-नीति के सन्दर्भ में यह व्यवस्था दी है कि—जब राजा अपनी दशा हीन देखे और

शत्रु प्रबल हो तथा पराजय की भी सम्भावना हो, तो ऐसी स्थिति में किसी शक्तिशाली राजा का आश्रय लेकर अपनी रक्षा का उपाय करना चाहिए। यह आश्रय भी दो प्रकार का होता है—किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए बलवान राजा या किसी महात्मा की शरण लेना, जिससे शत्रु से पीड़ित न हों।[138] परन्तु, यदि आश्रय-दाता राजा कोई धर्म-विरुद्ध आचारण करे तो उससे भी बेहिचक युद्ध कर लेना चाहिए।

उपर्युक्त समस्त छः प्रकार की नीतियों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्द ने नीति तथा युद्धमें सफलता-हेतु राजा को राजनय के जिन सूत्रों का निर्देशन किया है, उनका वर्त्तमान अन्तर-राष्ट्रीय राजनीति में प्रयोग होता है। परन्तु, इन नीतियों का प्रयोग आज धर्माधर्म का विचार किए बिना भी किया जाता है, जबकि स्वामी जी का अभिमत है कि इन नीतियों का क्रियान्वयन धर्मविरुद्ध (न्याय या सत्य के प्रतिकूल) न हो।

(५) गुप्तचर-व्यवस्था :

संदेश-वाहक के रूप में 'दूत' की कल्पना अति प्राचीन है। ऋग्वेद में अग्नि को देवताओं के संदेशवाहक के रूप में स्वीकार किया गया है।[139] प्राचीन भारतीय राजनीतिक दार्शनिकों ने भी राजनीतिक क्रियाकलापों में दूत की महत्ता को स्थापित करते हुए, उसे राजनय के समस्त सूत्रों का संचालक माना है।

स्वामी दयानन्द ने 'दूत' शब्द का प्रयोग 'गुप्तचर' के अर्थ में भी किया है। चारो उपायों, छहो नीतियों तथा मित्र, उदासीन और शत्रु-राष्ट्रों के निर्माण और व्यवहार-संचालन में दूतों के सक्रिय योगदान को स्वीकार करते हुए अपने वेद-भाष्य में लिखा है कि- राजा आदि न्यायाधीश सभासदों को चाहिए कि गुप्त दूतों से प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध शत्रुओं को निश्चय करके वश में करें (यजु० भा 15.1)। दूतों द्वारा ही स्वराज्य और पर-राज्य के चिकीर्षित एवं अच्छे बुरे कार्यों का यथावत्

सम्पादन किया जाता है।[140] जो राजा प्रिय-अप्रिय को छोड़ न्याय-धर्म से समस्त प्रजा का शासन, सब राज-कर्मों में चार रूप आँखों वाला अर्थात् राज्य के गुप्त हाल को देने वाले ही जिसके नेत्र के समान, वैसा (दूत) हो, मध्यस्थ-वृत्ति से सब प्रजाओं का पालन कर-कराके निरन्तर विद्या की शिक्षा को बढ़ावे, वही सबका पूज्य होवे (यजु० भा० 20.10)। अन्यत्र दयानन्द ने दूतों के कार्यों के सम्बन्ध में संकेत किया है कि, "दूत के आधीन किसी से मेल (सन्धि) वा विरोध (विग्रह) करना अधिकार देवे।"[141] इन समस्त कथनों से स्पष्ट हो जाता हैं कि दयानन्द ने दूत को राजा का नेत्र तथा समस्त राजनीतिक गतिविधियों का सूत्रधार माना है।

निष्कर्ष :

राष्ट्र की रक्षा-व्यवस्था के सन्दर्भ में स्वामी दयानन्द-प्रतिपादित समस्त सिद्धान्तों यथा—सैन्य संगठन, दुर्ग-व्यवस्था, युद्ध-प्रकरण, रण-नीति, मनोबल, पर-राष्ट्र-सम्बन्ध तथा गुप्तचर-व्यवस्था के विश्लेषण तथा विवेचन के पश्चात् यह तथ्य स्थापित होता है कि दयानन्द प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा को राज्य का परम लक्ष्य मानते थे। उनके लिए रक्षा-कार्य राज्य की सम्प्रभुता तथा अस्तित्व-रक्षण के लिए परमावश्यक है, जिसका सम्पादन शस्त्रास्त्रों एवं वीर पुरुषों से सुसज्जित सेनाओं के माध्यम से ही सम्भव है। सेनाएँ आन्तरिक शांति एवं सुव्यवस्था की स्थापना तथा बाह्य आक्रमणों से देश की स्वतन्त्रता की रक्षा की सर्वाधिक विश्वसनीय साधन हैं। ये राज्य के भौतिक शक्ति के स्रोत भी हैं। सुदृढ़ दुर्ग-निर्माण द्वारा इन्हें और भी सशक्त बनाना राजा का लक्ष्य होना चाहिए।

कूट-युद्ध के परिणामस्वरूप होने वाली हानियों से त्राण-हेतु दयानन्द ने जिस धर्म-युद्ध की स्वीकृति दी है, वह आज अत्यन्त उपयोगी एवं अनुकरणीय है। न्यायपूर्ण युद्ध के सिद्धान्त तथा युद्ध-काल की मर्यादाओं

के अनुपालन से मनुष्य के मानस में परिव्याप्त युद्ध के भय एवं आतंक को समाप्त किया जा सकता है। युद्ध की लपेटों में समाज का सम्पूर्ण अंग, उद्योग-धन्धे, उत्पादन, राष्ट्रीय तकनीकी तो भस्म होती ही हैं, साथ ही आने वाली पीढ़ियाँ संहारक शस्त्रास्त्रों के गैसों और विषाक्त वातावरण से अपंग-निष्क्रिय हो जाती हैं। नागाशाकी तथा हिरोशिमा इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। स्वामी दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट उपायों एवं युद्ध के प्रयोजनों तथा धर्म-युद्ध की मर्यादाओं के अनुसरण से एक ओर हम धर्म, न्याय, प्रजा और राष्ट्र-रक्षा-हेतु आवश्यक युद्ध की कार्यवाही को सम्पन्न कर सकेंगे, तो दूसरी ओर न्यूनतम क्षति द्वारा मानव के विनाश को रोक सकेंगे। तभी युद्ध द्वारा सुरक्षा और शांति दोनों की स्थापना सम्भव होगी। धर्म-युद्ध की संकल्पना से ही निरस्त्रीकरण की समस्या का भी समाधान होगा, जो आज सुरक्षा की समस्या के स्थायी हल के अभाव, राजनीतिक हितों के असंतुलित समायोजन, स्त्रातकी तथा नाभिकीय—आणविक युद्ध के भय से असम्भव प्रतीत हाता है।

दयानन्द ने पर-राष्ट्र-सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य में मित्र, शत्रु तथा उदासीन राष्ट्र; साम, दाम, भेद तथा दण्ड; सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध तथा आश्रय की नीतियों और उनके सफल संचालन के लिए गुप्तचर-व्यवस्था का जो उल्लेख किया है, वह आज भी प्रयुक्त होता है। परन्तु उसमें नैतिकता एवं न्याय के समन्वय का अभाव रहता है। अतः विदेश-नीति के निर्धारण में दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट मान्यताओं के समादर से ही छल-छद्म, धूर्तता, कपट और सैनिकवाद जैसी कुप्रवृत्तियों से बचा जा सकता है। स्वामी दयानन्द के पर-राष्ट्र-सम्बन्ध के सिद्धान्त द्वारा ही विश्व-शांति सम्भव है, जिसकी वर्तमान आणविक युग में परमावश्यकता है। देश-हित, देश-रक्षा तथा विश्व-कल्याण-हेतु प्रतिपादित दयानन्द की रक्षा-व्यवस्था सांगोपांग एवं सर्वहितकारी है। यह उनकी दूरदर्शिता, मौलिक चिन्तन-प्रतिभा एवं राष्ट्र-रक्षा के प्रति सतर्कता का परिचायक

है। एक वीतरागी संन्यासी द्वारा प्रस्तुत इस प्रकार का चिन्तन निश्चय ही आश्चर्यजनक एवं अभूतपूर्व है।

पाद टिप्पणियाँ :

1. ऋ० भा० भू० पृ० 255
2. वही—पृ० 241-242; इसी पुस्तक के पृ० 319 पर सेसा को 'इन्द्रिय' कहा गया है।
3. ऋ० भा०—4.19.7
4. ऋ० द० स० के पत्र और वि०—भाग 2, पृ० 632
   (दिन-चर्या-नियम सं० 40)
5. यजु० भा० 16.53
6. ऋ० भा०—4.19.5
7. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 797
   (झालावाड़ के राजराणा को पत्र)
8. सं० वि०—पृ० 218
9. व्य० भा०—पृ० 8-9
10. ऋ० भा०—1.81.9
11. यजु भा०—17,33
12. ऋ० द० स० के शा० और प्र०—(पूनाप्र-वचन सं० 9) पृ० 374
13. यजु० भा०—17.44
14. स० प्र०—पृ० 51; ऐसा ही उद्धरण पूना-प्रवचन सं० 10, पृ० 383 पर भी
15. यजु० भा०—16.1
16. यजु० भा—34.52
17. स० प्र०—पृ० 47; यही सन्दर्भ सं० वि०—पृ० 116 पर भी
18. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 756
19. स० प्र०—पृ० 106 (मनु० 7.187, 188, 191)

20. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन सं० 9) पृ० 374

21. यजु० भा०—6.19

22. ऋ० भा० भू० पृ० 1.205

23. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन सं० 10) पृ० 389

24. वही—(पूना-प्रवचन सं० 5) पृ० 311-312

25. ऋ० भा०—1.81.3

26. यजु० भा—29.42

27. ऋ० भा० भू०—पृ० 218-219

28. यजु० भा०—16.35

29. ऋ० द० स० के शा० और प्रवचन (पूना प्र० 9) पृ० 374

30. यजु० भा०—17.48

31. स० प्र०—पृ० 180 "इसी मूढ़ता से इन लोगों ने चौका लगाते-लगाते विरोध करते-कराते सब स्वातन्त्र्य, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगा कर हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं और इच्छा करते हैं कि कुछ पदार्थ मिले तो पका कर खावें।"

32. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन सं० 11) पृ० 402-403

33. ऋ० भा०—4.15.4 तथा यजु० भा०—17.50

34. स० प्र०—पृ० 104 (मनु० 7.175)

35. वही—पृ० 220

36. वही—पृ० 99 (मनु० 7.96)

37. वही—पृ० 99 (मनु० 7.93)

38. वही—पृ० 99 (मनु० 7.97)

39. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 629
(दिन-चर्या नियम सं० 12)

40. स० प्र०—पृ० 97 (मनु० 7.70)

41. वही—पृ० 97 (मनु० 7.75, 76)

42. थामस हब्स—लेवियाथन—अध्याय 17, पृ० 87

43. बी० एन० मालीवाल—स्थल-युद्ध-कला पृ० 8

44. माओत्सेतुंग की चुनी हुई फौजी रचनाएँ पृ० 295

45. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन सं० 8) पृ० 364

46. स० प्र०—पृ० 98 (मनु० 7.87)

47. सं० वा० प्र०—पृ० 37-38

48. स० प्र०—पृ० 104 (मनु० 7.176)

49. ऋ० भा० भू०—पृ० 254 'युद्धं वै राजन्यस्य वीर्यं' शत० 13.1.5.6

50. स० प्र०—पृ० 406 (स्वमन्तव्य०)

51. ऋ० भा० भू०—पृ० 243

52. वही—पृ० 245

53. वही—पृ० 247

54. स० प्र० —पृ० 93; यही सन्दर्भ आर्याभि०—पृ० 36; ऋ० भा० भू० —पृ० 163-164 तथा ऋ० भा०—1.39.2 में भी प्राप्त होता है।

55, आर्याभि० —पृ० 40, 43, 66, 69, 137

56. स० प्र०—पृ० 219-220

57. ऋ० भा० भू०—पृ० 247

58. वही—पृ० 238

59. स० प्र०—पृ० 104 (मनु० 7.164, 165)

60. वही—पृ० 97 (मनु० 7.66, 68)

61. यजु० भा०—17.37

62 स० प्र०—पृ० 106 (मनु० 7.184)

63. वही—पृ० 106 (मनु० 7.185)

64. यजु० भा०—11.18

65. सं० वा० प्र०—पृ० 37

66. ऋ० भा०—1.8.6

67. स० प्र०—पृ० 99 (मनु० 7.91, 92)

68. वही—पृ० 99 (मनु० 7.93)

69. ऋ० भा०—1.117.19

70. स० प्र०—पृ० 99 (मनु० 7.94,95)

71. ऋ० भा०—1.41.1

72. स० प्र० पृ०—91

73. ऋ० भा०—1.84.12

74. वही – 2.34.3

75. स० प्र०—पृ० 98 (मनु० 7.89)

76. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन सं० 7) पृ० 348.

77. यजु० भा०—8.23

78 वही – 17.43

79. वही—17.47

80. ऋ० भा०—1·28.5

81. स० प्र०—पृ० 100 (मनु० 7,104, 105)

82. वही—पृ० 107 (मनु० 7.194)

83. यजु० भा०—16.10

84. स० प्र०—पृ० 106 (मनु० 7.188)

85. यजु० भा०—6.19

86. स० प्र०—पृ० 105 (मनु० 7.191)

87. वही—पृ० 106 (मनु० 7.191)

88, वही – पृ० 106 (मनु० 7.191)

89. यजु० भा०—17.40

90. स० प्र०—पृ० 106 (मनु० 7.189)

91. वही—पृ० 106 (मनु० 7.190)

92. वही—पृ० 106 (मनु० 7.191)

93. वही—पृ० 107 (मनु० 7.192)

94. वही—पृ० 98-99 (मनु० 7 89)

95. वही—पृ० 101 (मनु० 7.106)

96. वही—पृ० 107 (मनु० 7.195, 196)

97. ऋ० भा०—1.117.16

98. वही—1.133.3

99. वही—4.4.4

100. वही—1.74.2

101. वही—3.45.2

102. स० प्र०—पृ० 107 (मनु० 7.194)

103. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 630
(दिनचर्या नियम सं० 18)

104. यजु० भा० 13.9

105. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 630

106. स० प्र०—पृ० 107 (मनु० 7.204)

107. वही—पृ० 99 (मनु० 7.93)

108. वही—पृ० 99 (मनु० 7.93)

109. ऋ० भा० 1.121.11

110. स० प्र० पृ० 107 (मनु० 7.203)

111. वही—पृ० 107 (मनु० 7.203)

112. वही —पृ० 107 (मनु० 7.203)

113. वही—पृ० 107 (मनु० 7.204)

114. बी० एन० मालीवाल — स्थल-युद्ध-कला पृ० 26

115. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 627-628

116. वही —पृ० 798

117. स० प्र०—पृ० 110 (मनु० 7.104, 105)

118. ऋ० भा० भू०—पृ० 245

119. स० प्र०—पृ० 105 (मनु 7.179)

120. वही—पृ० 107 (मनु० 7.208)

121. वही—पृ० 107 (मनु० 7.211)

122. वही—पृ० 106 (मनु 7.186)

123. स० वा० प्र०—13-14

124. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 631

(दिनचर्या नियम सं० 30)

125. स० प्र०—पृ० 96 (मनु 7.56) तथा पृ० 104 (मनु० 7.161)

126. वही—पृ० 104 (मनु० 7.162)

127. वही—पृ० 104 (मनु० 7.163)

128. वही—पृ० 104 (मनु० 7.163)

129. वही—पृ० 104 (मनु० 7.169)

130. वही—पृ० 104 (मनु० 7.164)

131. वही—पृ० 104 (मनु० 7.170)

132. वही—पृ० 104 (मनु० 7.165)

133. वही—पृ० 104 (मनु० 7.171)

134. वही—पृ० 104 (मनु० 7.166)

135. वही—पृ० 104 (मनु० 7.172)

136. वही—पृ० 104 (मनु० 7.167, 173)

137. वही—पृ० 104 (मनु० 7.174)

138. वही—पृ० 104 (मनु० 7.168)

139. ऋग्वेद—.1.8.8, 1 9 2, 1.9.6, 4 154 इत्यादि

140. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 756

141. स० प्र०—पृ० 97 (मनु० 7.65, 66)

—: o :—

अध्याय ।।

: अर्थ-व्यवस्था :

अर्थ-व्यवस्था, किसी भी राष्ट्र की आधारशिला होती है। परन्तु स्वामी दयानन्द के काल में ब्रिटिश-राज की शोषणवादी तथा अमानवीय आर्थिक नीतियों के फलस्वरूप भारतीय अर्थ-व्यवस्था जर्जर हो गई थी। भारतीयों की निर्धनता अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी तथा अंग्रेज इसकी उत्तरोत्तर वृद्धि कर रहे थे, जिससे द्रवित होकर ही बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने लिखा है कि, "यूरोप, जिस-जिस स्थान में तेरे धूम-रथ (रेल) का नाद प्रतिध्वनित होता है, वहाँ दुर्भिक्ष और अनावृष्टि की पिशाचिनी के डेरे लग जाते हैं ..... तेरे कारखानों की चिमनियों से निकला हुआ धुआँ... भागेच्छा का आकार बन जाता है।"[1] इस कथन-मात्र से ही ऋषि कालीन भारतीय अथ-तन्त्र का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है।

देह-गेह की मोहमाया से पूर्णतया विरक्त स्वामी दयानन्द स्वदेश की विपन्नता को सहन न कर सके और अन्ततः, उनका हृदय द्रवित होकर कह उठा कि, "हाय, हमारे देश की निर्धनता किस सीमा तक पहुँच गयी है। देश के मृतकों को काष्ठ भी उपलब्ध नहीं होता।"[2] भारत की इसी दयनीय दशा के सुधार-हेतु दयानन्द ने अर्थ-व्यवस्था के प्रत्येक पक्ष का विस्तार से विवेचन किया, जो मूलतः वेद तथा मनुस्मृत्यादि आर्ष ग्रन्थों पर आधारित है।

स्वामी दयानन्द ने प्राचीन भारतीय दर्शन की परम्परानुसार ही 'वार्ता' (कृषि, पशु-पालन, शिल्प तथा वाणिज्य इत्यादि) के रूप में

ज्ञान की एक प्रमुख एवं स्वतन्त्र शाखा के अध्ययन को अर्थ-व्यवस्था-हेतु आवश्यक बताया है। उन्होंने 'अर्थ' को पुरुषार्थ चतुष्टय में सम्मिलित कर उसे सम्पूर्ण भौतिक उपलब्धियों-हेतु अपरिहार्य घोषित किया है। दयानन्द ने अर्थ की महत्ता को स्वीकार करते हुए उसे राज्य की शोभा तथा 'कोष' को उदर से उपमित किया है।[3] धर्म-युक्त धन-संग्रह को मान्यता देते हुए यह निर्दिष्ट किया है कि, "..... चाहे कितना ही दुख पड़े, तथापि अधर्म से द्रव्य-संचय कभी न करे।"[4] धनी-निर्धन, राजा-रंक आदि लोग अपने कर्मों से बनते हैं, ग्रहों से नहीं।[5] इसलिए कोई पहले-धनी हो और बाद में निर्धन हो जाय, तो अपने आत्मा का अपमान न करे और न विलाप करे, किन्तु मृत्युपर्यन्त लक्ष्मी की उन्नति-हेतु पुरुषार्थ किया करे।[6] पुरुषार्थ ही सब प्रकार की उन्नति का मूल है। क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध, ये तीनों अनुक्रम से उसके वृक्ष हैं। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को पुरुषार्थ पर ही ध्यान देना चाहिए।[7] वेदोक्त मार्ग से ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-सिद्धि का प्रयास करना श्रेयस्कर है।[8] धन का स्वभाव है कि जहाँ यह इकट्ठा होता है, उन जनों को निद्रालु, आलसी और कर्महीन कर देता है, इससे धन पाकर भी मनुष्य को पुरुषार्थ ही करना चाहिए।[9] जैसे जल से नदियाँ और समुद्र बढ़ते हैं, वैसे ही धर्म युक्त पुरुषार्थ से मनुष्य बढ़ते हैं।[10] उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि दयानन्द ने चारवाक् या अर्थ-शास्त्र के दर्शन की भाँति धन प्रधान व्यवस्था को न मान कर ऐसी अर्थ-व्यवस्था को स्वीकृति दिया है, जिसका मूलाधार धर्म है। वह अधर्म से प्राप्त हुए धन को 'अर्थ' न कहकर 'अनर्थ' की संज्ञा देते हैं।

चूंकि, स्वामी दयानन्द का वर्णाश्रम-व्यवस्था में अटल विश्वास है, अतः उनकी अर्थ-व्यवस्था का मूलाधार वैश्य है। उनके लिए 'वैश्य' कोई जाति नहीं, अपितु गुण, कर्म तथा स्वभाव के आधार पर निर्धारित समाज का एक वर्ण (वर्ग) है। पशुपालन, दान, इज्या, कृषि, व्यापार तथा व्याज लेना-देना आदि कर्म के कर्त्ता को ही वैश्य कहते हैं।[11]

बौद्धिक क्षमता के अभाव के कारण 'शूद्र' अपनी शारीरिक क्षमता द्वारा अर्थ-व्यवस्था की नींव सुदृढ़ करने में वैश्यों का सहयोग करेगा। वस्तुतः, समाज का यह चतुर्थ वर्ण ही स्वामी दयानन्द प्रतिपादित अर्थ-व्यवस्था का श्रमिक अथवा उत्पादक वर्ग है। इसीलिए उन्होंने इस वर्ग को 'राजाओं का राजा' कहकर सम्मानित किया है। राजा का परम कर्त्तव्य है कि वह इनकी शिक्षा, रक्षा और अभिवृद्धि की व्यवस्था करे। स्वामी दयानन्द ने राज्य की सम्पूर्ण अर्थ-नीति का सांगोपांग एवं शास्त्रीय विवेचन किया है, जिसका क्रमबद्ध विवेचन अधोनिर्दिष्ट है :

(अ) राज्य द्वारा कर-संग्रह :

राज्य-व्यवस्था के सुचारु संचालन के लिए धन की नितान्त आवश्यकता होती है, इसीलिए धन को प्रशासन का जीवन-रक्त तथा ईन्धन कहा जाता है। कुशल प्रशासन को समस्या के विविध तत्वों में वित्तीय प्रशासन से अधिक महत्त्वपूर्ण एवं पेचोदा कोई दूसरा तत्व नहीं होता है। अतः, स्पष्ट है कि प्रशासन और वित्त को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता है। यही कारण है कि भारतीय राज दर्शन में राज्य के अर्थ संग्रह के विभिन्न कारकों का विवेचन किया गया है, जिनमें सर्वप्रमुख कर-संग्रह है।

स्वामी दयानन्द ने भी राजकीय अर्थ तन्त्र में कर-संग्रह की महत्ता को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना है। धन के साथ लोभ का संयुक्त रहना स्वाभाविक है, जो विभिन्न प्रशासनिक भ्रष्टाचारों का मूल है। इसीलिए स्वामी जी ने ऐसे व्यक्ति को वित्ताधिकारी पद हेतु अर्ह घोषित किया है, जो ब्रह्मचर्य और विद्या से धर्म सम्बन्धी कामों को करके निष्कपट अन्तःकरण तथा आत्मा से प्रयत्न करे।[12] इस प्रकार के व्यक्ति एवं उसके ऐसे ही सहायकों द्वारा अर्थ व्यवस्था में कार्य करने से राष्ट्र और प्रजा दोनों का हित होगा। दयानन्द ने राज्य द्वारा कर-संग्रह के निम्नलिखित उपादानों की ओर ध्यानाकर्षित किया है :

(i) कर-संग्रह की प्रक्रिया एवं प्रणाली :

स्वामी दयानन्द ने करारोपण का अधिकार एकमात्र राजा को ही नहीं दिया है, अपितु इस कार्य के लिए सभा को भी अधिकृत करते हुए लिखा है कि, "विचार करके राजा तथा राज-सभा राज्य में कर स्थापन करे।[13] अन्यत्र तो उनका मत है कि—सभा ही अपनी ओर से प्रजा पर कर लगाती है।[14] इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि दयानन्द ने कर-संग्रह और निर्धारण के क्षेत्र में सभा की सहमति और स्वीकृति को आवश्यक माना है। परन्तु, कर-संग्रह करने वाले अधिकारी एवं कर्मचारीगण सत्यनामी, सत्यवादी, सत्यकारी, परोपकारी, निष्पक्ष तथा विद्वान् पुरुष हों, जिससे शोषण, अन्याय अथवा अधर्म की सम्भावना न रहे। कर-संग्रह के सम्बन्ध में दयानन्द ने कतिपय सूत्र निर्धारित किए हैं, यथा :

1 राजा को उतना ही ऐश्वर्य (धन) धारण करना चाहिए कि जितना सेना और प्रजा के पालन और मन्त्रियों की रक्षा के लिए पूरा हो। (ऋ० भा० 3.37.10)

2 राजा को राज्य का ही भाग (अंश) ग्रहण कर भोग करना चाहिए न अधिक न न्यून। (ऋ० भा० 3.40.4)

3 अतिलोभ से अपने, दूसरों के सुख के मूल को उच्छिन्न अर्थात् नष्ट कदापि न करे।[15] ऐसा प्रतीत होता है कि दयानन्द ने अंग्रेजों की शोषणवादी कर-प्रणाली (नीलामी-प्रथा) को लक्ष्य करके इस सिद्धान्त की ओर संकेत किया है।

4 जैसे प्राणियों के प्राण शरीरों को कृशित करने से क्षीण हो जाते हैं, वैसे ही प्रजाओं का दुर्बल करने से राजाओं के प्राण अर्थात् बलादि बन्धुसहित नष्ट हो जाते हैं।[16] यह सिद्धान्त भी अंग्रेज़ों की धन-पिपासा विरुद्ध के एक चेतावनी है कि प्रजा की निर्धनता शासक समूल नाश का कारण बन सकती है।

5 जो भी धन ले, तो इस प्रकार से ले कि जिससे किसान आदि खाने-पीने और धन से रहित होकर दुख न पावें।[17] दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि कर-ग्रहण का दृष्टिकोण उदार और वत्सल हो।

6 जैसे राजा और कृषिवलादि प्रजा सुखी रहे, वैसा कर-प्रबन्ध प्रजा में करे।[18] अर्थात् कर का निर्धारण प्रजा-हित को ध्यान में रख कर किया जाय।

7 जैसे बगुला ध्यानावस्थित होकर मच्छी पकड़ने को ताकता है, वैसे अर्थ-संग्रह का विचार किया करे।[19] तात्पर्य यह कि राजा (शासक) कर-स्थापना-हेतु उचित अवसर का ध्यान दे।

8 जैसे जोंक, बछड़ा वा भ्रमरा थोड़े-थोड़े भोग-पदार्थ को ग्रहण करते हैं, वैसे राजा प्रजा से थोड़ा-थोड़ा वार्षिक कर लेवे।[20] अर्थात् कर-ग्रहण करते समय प्रजा को पीड़ा की अनुभूति कदापि न हो।

कर-संग्रह की प्रणाली और प्रक्रिया से सम्बन्धित उपर्युक्त समस्त सिद्धान्त, अंग्रेजों के कर-संग्रह की बर्बरता से रोती-तड़पती भारतीय प्रजा के प्रति दयानन्द की उदारवादी तथा कल्याणकारी दृष्टि के द्योतक होने के साथ ही साथ ब्रिटिश शोषणवादी कर-प्रणाली के विरुद्ध प्रतिक्रिया और चेतावनी का भी संकेत करते हैं। स्वामी दयानन्द ने मात्र परोक्ष रूप से ही अंग्रेजों के कर-विधान की आलोचना नहीं की है, अपितु प्रत्यक्ष रूप में भी अपने ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' के प्रथम संस्करण (सन् 1875 ई०) में अंग्रेजों द्वारा जंगली लकड़ी और नमक पर लगाए गए कर की तीव्र आलोचना करते हुए लिखा था कि, "एक तो यह बात है कि नोन और पौन रोटी में जो कर लिया जाता है, मुझको अच्छा मालूम नहीं होता है क्योंकि नोन बिना दरिद्र का भी निर्वाह नहीं होता .....पौन रोटी से भी गरीबों को बहुत क्लेश होता है, क्योंकि गरीब लोग कहीं से घास छेदन करके ले जाँय या लकड़ी का भार (काट कर ले जाँय), तो उनके ऊपर कौड़ियों के लगाने से उनको अवश्य क्लेश होता

होगा .....।"[21] स्पष्ट है कि दयानन्द ने बड़ी निर्भीकता पूर्वक अंग्रेजों के अनुचित करों का स्पष्ट खण्डन किया है।

(ii) कर-प्रकार :

यद्यपि कि युद्ध में प्राप्त धन आदि पदार्थों तथा न्यायालय द्वारा अपराधियों पर लगाए गए आर्थिक दण्ड आदि से राज्य की आय होती है, परन्तु राज्य की आय का प्रमुख स्रोत कर ही होता है। स्वामी दयानन्द ने राजा को प्रजा से वार्षिक कर प्राप्त करने का निर्देश किया है। उनका मत है कि राजा प्रजा से वार्षिक कर आप्तपुरुषों के द्वारा ग्रहण करे।[22] ऋग्वेद-भाष्य के मन्त्र 5.30.11 की व्याख्या में यह व्यवस्था दी है कि जो राजा सूर्य-मेघ के स्वभाव के सदृश स्वभाव वाला हुआ, धर्मशास्त्र में कहे हुए अष्ट मास तक प्रजाओं से कर लेता है और चार मास यथेष्ट पदार्थों को देता है, इस प्रकार सब प्रजाओं को प्रसन्न करता है, वही सब प्रकार से ऐश्वर्यवान् होता है। इस कथन से सपष्ट हो जाता है कि राजा आठ महीने तक कर ग्रहण करे और तत्पश्चात् चार महीने तक उसे यथेष्ट पदार्थों के रूप में प्रजा के मध्य वितरित करे। महर्षि ने कतिपय प्रमुख करों की मात्रा की ओर संकेत भी किया है :

1 व्यापार करने वाले या शिल्पी को सुवर्ण और चाँदी का जितना लाभ हो, उसमें से पचासवाँ भाग (5%) कर-रूप में राजा को देना चाहिए।[23]

2 चावल आदि अन्नों में छठा, आठवाँ या बारहवाँ भाग लिया करे।[24]

3 जो लम्बे मार्ग में समुद्र की खाड़ियाँ या नदी तथा बड़े नदों में, जितना लम्बा देश हो, उतना कर-स्थापन करे। महासमुद्र में निश्चित कर-स्थापन नहीं हो सकता, किन्तु जैसा अनुकूल देखे कि जिससे राजा और बड़े-बड़े नौकाओं के समुद्र में चलने वाले दोनों लाभ-युक्त हों, वैसी व्यवस्था करे।[25] उपर्युक्त निर्देशों से ज्ञात होता है कि राजा मुख्यतः राष्ट्र के व्यापारियों (समुद्रपारीय

व्यापारियों से भी), शिल्पियों तथा कृषकों से कर प्राप्त करेगा। कर देश, काल, परिस्थिति एवं करदाता और प्राप्तकर्त्ता दोनों के हितों को देखकर धर्म-युक्त ढंग से प्राप्त किया जाना चाहिए।

(iii) कर-प्रयोजन :

स्वामी दयानन्द ने राजा (राज्य) के जो उद्देश्य निर्धारित किए हैं, वेही करके भी उद्देश्य हैं। उनका मत है कि राजा, सभा तथा अन्य समस्त राजपुरुषों को उपलब्ध की प्राप्ति की इच्छा, प्राप्त की प्रयत्न से रक्षा, रक्षित की वृद्धि और बढ़े हुए धन से वेद-विद्या, धर्म-पचार, विद्यार्थी, वेदमार्गोपदेशक तथा असमर्थ-अनाथों का पालन करना चाहिए।[26] यही दयानन्द की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का मूलमन्त्र है, जिसका अन्तिम प्रयोजन है—प्रजा-रजन, रक्षण और संवर्द्धन। अपने वेद-भाष्य में कतिपय मन्त्रों की व्याख्या में भी दयानन्द ने कर-प्रयोजन को स्पष्ट किया है, यथा—जो राजा प्रजा से कर ले कर पालन न करे, तो वह राजा डाकुओं के समान .....इसीलिए प्रजा राजा को कर देती है कि जिससे यह हमारा पालन करे और राजा इसलिए पालन करता है कि जिससे प्रजा मुझको कर दे (ऋ० भा० 1 114.3)। पुनश्च, राजा आठ महीने करों को ग्रहण कर अभय की वृष्टि करके प्रजा का पालन करे (ऋ० भा—5.20.2) इत्यादि।[27] इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि राजा प्रजा से कर-प्राप्ति का तभी अधिकारी है, जब वह प्राप्त धन का प्रयोग प्रजा-हित में करे, स्वयं के लिए नहीं। स्वामी दयानन्द ने कर-प्रयोजन के सन्दर्भ में ही राज्य के आय-व्यय तथा राज्य द्वारा दान आदि के सिद्धान्तों पर भी दृष्टिपात किया है :

(क) राज्य का आय-व्यय (बजट) :

स्वामी दयानन्द ने राज्य-संचाचन के लिए धर्मयुक्त धन के संग्रह के साथ-साथ उसके व्यय की धर्मनिष्ट प्रणाली को ही मान्यता दी है। उनका मत है कि जिस धन से पुष्टि, विद्या, विद्वानों का सत्कार, वेद-

नियमों की प्रवृत्ति और सर्वोपकार हो वही धर्म सम्बन्धी धन है और नहीं (ऋ० भा०—1.142.12) अतः, प्राप्त हुए धन से अनाथों का पालन, विद्या और धन की वृद्धि, औषधिदान और मार्ग-शुद्धि करके सब दिशाओं में प्रशंसा विस्तारें (ऋ० भा०—6.44.8)। उक्त कथनों में दयानन्द ने राज्य के व्यय का दिशा निर्देश कर दिया है। वे चाहते थे कि राजा नित्य-प्रति लाभ, व्यय, रत्नादि की खानों कोष, (खजाना), हाथी, घोड़े आदि वाहनों आदि का निरीक्षण किया करे। इस सम्बन्ध में उन्होंने एक पत्र में उदयपुर के महाराणा श्री सज्जन सिंह को यह निर्देशित किया था कि वह प्रतिदिन रात्रि 9 बजे से 10 बजे तक आय-व्यय का वृत्तान्त सुनें और अगले दिन के लिए यथोचित प्रबन्ध करें तथा साथ ही वह रत्नादि की खानों और कोष का नित्य निरीक्षण भी करें।[28] इसी पत्र में दयानन्द ने महाराणा को राज्य के आय-व्यय एवं वार्षिक नियोजन से सम्बन्धित कतिपय महत्त्वपूर्ण सुझाव भी दिए :

1. राजा अपने परिवार-हेतु नित्य नैमित्तिक व्यय भी नियम पूर्वक करे।[29] अर्थात् राजा द्वारा प्रजा से प्राप्त धन का प्रयोग स्वेच्छाचारी ढंग से नहीं किया जाना चाहिए।
2. सर्वदा सन्तानों की शिक्षा में धन का व्यय करें, किन्तु विवाह तथा मृत्यु आदि में न करें।[30] तात्पर्य यह कि धन का प्रयोग मिथ्याडम्बरों एवं बाह्य प्रदर्शनों जैसे कार्यों में न हो।
3. सब राज्य के आय में से दशांश धर्मादि के लिए नियत रखे। उससे वेद-विद्या, धर्म तथा सुशिक्षा की वृद्धि के लिए अध्यापक और उपदेशक भी प्रचरित (नियुक्त) करें। आपत्काल में राज्य और अनाथों की रक्षा भी उसी धन से करें।[31]
4. राज्य के आय के नवांशों में से दो भाग स्थिर-कोश, दो अंश राजकुल, तीन अंश सेना-विभाग, एक अंश स्थान-विशेष और एक अंश शिल्प-विद्या की उन्नति में लगावे।[32]

राज्य के आय-व्यय-सम्बन्धी उपर्युक्त निर्देशों से स्पष्ट होता है कि दयानन्द ने राज्य के बजट का सूत्र ही निर्धारित कर दिया है। उन्होंने राज्य की कुल आय का दशांश (10%) धन शिक्षा, धर्म, वेद आदि के लिए तथा एक अंश (10%) धन शिल्प-विद्या के निमित्त निर्धारित किया है। इस प्रकार कुल आय का 20% धन शिक्षा-व्यवस्था-हेतु आबंटित किया है, जिससे वेद, विद्या, धर्म, शिल्प-शिक्षा के लिए तकनीकी एवं वैज्ञानिक प्रशिक्षण, आपात्काल में अनाथों एवं राज्य की सहायता की जाय।

स्थिर-कोश-हेतु दयानन्द ने राज्य की कुल आय का दो भाग (20%) धन निर्धारित किया है। स्थिर-कोश का तात्पर्य 'संचित निधि' से प्रतीत होता है, जिसमें व्याजादि के माध्यम से धन की वृद्धि होगी तथा बढ़े हुए धन को कल्याणकारी योजनाओं एवं आपात्कालीन आवश्यकताओं के पूर्त्यर्थ प्रयुक्त किया जाएगा।

राज-कुल-हेतु कुल आय का दो भाग धन (20%) के निर्धारण से महर्षि का तात्पर्य मात्र राजपरिवार मात्र से ही नहीं, अपितु समस्त राजकीय एवं प्रशासनिक अधिकारियों, कर्मचारियों एवं भृत्यों आदि के वेतन-पेन्शन आदि से है। स्वामी दयानन्द ने रक्षा-व्यवस्था पर सर्वापेक्षा अधिक धन (30 /.) निर्धारित किया है, जो उनकी राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रति सतर्कता का प्रतीक है। इसी प्रकार राज्य की सम्पूर्ण आय का एक अंश (10·/.) धन का व्यय स्थान विशेष के लिए निर्धारित किया है। सम्भवतः स्थान विशेष का अभिप्राय विभिन्न संस्थाओं, निर्माण-कार्यों, यातायात, परिवहन, सड़क, डाक, व्यापार, उद्योग-धन्धा तथा कृषि आदि से है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्द ने राज्य की सम्पूर्ण आय का 30% सुरक्षा पर, 20% शिक्षा-हेतु, 20% राजन्यवर्ग के वेतन तथा पेन्शन आदि पर, 20% आपात्कालीन आवश्यकताओं पर तथा 10/. स्थान विशेष के लिए निर्धारित कर राज्य के वार्षिक आय-व्यय (बजट) के निर्धारण का मार्ग प्रशस्त कर दिया है।

वस्तुतः, यह उनकी विलक्षण प्रतिभा का परिचायक और कुशल अर्थ-शास्त्री होने का प्रतीक है।

(ख) राज्य द्वारा दान आदि में प्रदत्त धन या वस्तु की शर्तें :

स्वामी दयानन्द ने राज्य द्वारा दिए गए दान एवं पुरस्कार आदि के लिए भी एक मानक प्रस्तुत किया है। उनका मत है कि दान सर्वथा सुपात्र को ही देना चाहिए, कुपात्र को नहीं। ब्रह्मचर्य, सत्यभाषणादि तपरहित और अशिक्षित व्यक्ति को धर्म से प्राप्त धन को दान स्वरूप देने से दाता का इसी जन्म में और ग्रहीता का पर जन्म में नाश हो जाता है।[33] इसीलिए दान का देना और ग्रहण करना सर्वथा धर्मयुक्त ही होना श्रेयस्कर है। दयानन्द ने दान के सदुपयोग कर्त्ता को 'दानाध्यक्ष' तथा दुरुपयोग करने वाले को 'दानाभक्ष' की संज्ञा दी है।[34] झालावाड़ के राज-राणा को एक पत्र में स्वामी जी ने यह निर्देश दिया कि "जो धर्मदाय वा पारितोषिक दिया हो, जिसलिए, उसका उसी के अर्थ नियुक्त रखना।"[35] यही नहीं, अपितु महाराणा श्री सज्जन सिंह को पत्र में लिखे दिन-चर्या के नियमों में भी दयानन्द ने दान (अनुदान) आदि के सम्बन्ध में निम्नलिखित आवश्यक निर्देश दिए हैं :

1. जो किसी को मासिक धन या भूमि धर्मार्थ अथवा गुणानुसार कुछ भी दी जाय, तो उसका प्राप्तकर्त्ता जब तक जीवित रहे या वह अन्यथा न वर्त्ते (दुरुपयोग न करे) तब तक ही वह दान रहे, पश्चात् नहीं।[36]
2. यदि पूर्वजों ने इससे विपरीताशय लेख पूर्वक (दान) किया हो और उसके कुलोत्पन्न वैसे उस धन का प्रयोग न करते हों, तो दिया गया धन अमान्य हो जाना चाहिए।[37]
3. धर्मार्थ आदि के लिए दी गई धनराशि का यदि दुरुपयोग किया जा रहा हो, तो उस अंश को राजांश में नहीं मिलाना चाहिए। किन्तु उस कुकर्मी से वापस लेकर अन्य धर्मात्मा को उस धन का अधि-

कारी बना देना चाहिए। यदि वह भी प्रमादी हो, तो उससे भी वापस लेकर अन्य योग्य को (यदि उसके कुल में कोई योग्य शेष न हो तो) दे देना चाहिए।[38]

4 यदि उनके सन्तान पितरों से अधिक योग्य हों, तो उनको अयोग्य व्यक्ति के अंश में से अधिकांश देकर उनकी प्रतिष्ठा करे।[39]

स्वामी दयानन्द प्रतिपादित उपर्युक्त समस्त सिद्धान्तों—कर-संग्रह की प्रणाली, प्रक्रिया, करारोपण, कर-प्रयोजन, राज्य के आय-व्यय तथा दानादि में प्रदत्त धन की व्यवस्था आदि—का यदि सूक्ष्म विवेचन किया जाय, तो स्पष्टतः ज्ञात होगा कि एक ओर उनकी सम्पूर्ण व्यवस्था धम-सम्मत, सर्वजनहिताय तथा सर्वजनसुखाय है, तो दूसरी ओर दयानन्द राज्य-धन के व्यय में एक मौलिक अर्थ-विशेषज्ञ की भाँति सतर्क एवं दूरदर्शी प्रतीत होते हैं। उन्होंने राजा को स्वयं के व्यक्तिगत व्यय को भी नियन्त्रण में रखकर स्पष्ट रूप से राजकोय धन के अपव्यय का निषेध किया है। यही नहीं, अपितु उन्होंने राज्य के वार्षिक बजट की एक सैद्धान्तिक रूप-रेखा प्रस्तुत कर उसमें प्रतिरक्षा, शिक्षा, विकास, धर्म-प्रचार आदि पर समीचोन व्यय-हेतु निर्देश देकर अपनी अर्थ-प्रवण मेधा का परिचय दिया है।

(ब) अर्थ-व्यवस्था के प्रमुख कारक :

स्वामी दयानन्द ने राज्य द्वारा कर-प्राप्ति, प्रयोजन एवं प्रयोग आदि का ही निर्देशन नहीं किया है, अपितु उन्होंने राज्य की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को उन्नत और समृद्ध बनाने के लिए शिल्प, उद्योग-व्यापार, कृषि पशु-पालन तथा बेकारी जैसी समस्याओं के समाधान के सन्दर्भ में भी समग्र चिन्तन प्रस्तुत किया है, जिसका विवरण अधोलिखित है :

(i) शिल्प :

स्वामी दयानन्द ने राज्य की अर्थ-व्यवस्था के विकास में शिल्प-विद्या के शिक्षण, प्रशिक्षण तथा क्रियान्वयन की महत्ता को स्वीकार

किया है। उन्होंने एक ओर लोगों की आत्मिक पिपासा की शांति को वेदोपदेश द्वारा दूर करने का प्रयास किया है, तो दूसरी ओर उनकी भौतिक क्षुत्पिपासा के उपशम के लिए शिल्प-शिक्षा का सुदृढ़ सूत्रपात भी किया है।[40] स्वामी जी ने कला-कौशल और शिल्प को 'यज्ञ' की संज्ञा देते हुए अपने वेद-भाष्य में यज्ञ का शिल्पपरक अर्थ भी किया है।[41] स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती का अभिमत है कि जब दयानन्द की दृष्टि यूरोप के वैज्ञानिक आविष्कारों पर पड़ी, तब उन्होंने तीन महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले—प्रथम, विज्ञान और शिल्प का विकास भारत की अति प्राचीन परम्परा से पोषित है, इस दृष्टि से यह कोई नई प्रकार की उपलब्धि नहीं है। हमारे वेद, वेदांग, उपांग और उपवेद उसी परम्परा में है। वैज्ञानिक शैली हमें स्थूलतर ज्ञान से सूक्ष्मतम ज्ञान की ओर ले जाती है; द्वितीय, विज्ञान के अध्ययन का उद्देश्य अपने सीमित क्षेत्र में सत्य का अनुशीलन है और इस सत्य के अनुशीलन से मिथ्या अन्धविश्वास और कपोल कल्पनाओं से व्यक्ति और समाज को मुक्ति मिल सकती है; तृतीय, विज्ञान द्वारा शिल्प को प्रोत्साहन मिलता है और इस प्रकार विज्ञान और शिल्प की सहायता से देश का दारिद्र्य मिट सकता है।[42] स्वामी सत्य प्रकाश के शिल्प-सम्बन्धी दयानन्द के दृष्टिकोण की व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी दयानन्द ने शिल्प-विद्या के माध्यम से एक ओर तो वैज्ञानिक प्रगति के मार्ग को प्रशस्त करने का प्रयास किया तथा दूसरी ओर आध्यात्म और विज्ञान का समन्वय कर वेदों की वैज्ञानिकता की पुष्टि भी की है।

(क) शिल्प-विद्या की विषय-वस्तु :

स्वामी दयानन्द ने अपनी शिक्षा-योजना में राज-धर्म से सम्बन्धित विद्या 'धनुर्वेद' के पश्चात् शिल्प-शास्त्र को 'अथर्ववेद' का उपवेद 'अर्थवेद' मानते हुए, उसे छः वर्ष के भीतर पढ़ कर विमान, तार, भूगर्भादि विद्याओं को जानने का उपदेश दिया है। उनका मत है कि जो योग्य

शिल्प-विद्यारूपी यज्ञ को सिद्ध करते हैं, वे ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं (यजु० भा०-18.14)। शिल्प-शास्त्र के पाठ्क्रम के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द ने लिखा है कि, "अर्थवेद, कि जिसको शिल्प-विद्या कहते हैं, उसको पदार्थ-गुण-विज्ञान, क्रिया कौशल, नानाविध- पदार्थों का निर्माण, पृथ्वी से ले के आकाश पर्यन्त की विद्या को यथावत् सीख के अर्थ अर्थात् जो ऐश्वर्य को बढ़ाने वाला है, उस विद्या को सीख के दो वर्ष में ज्योतिषशास्त्र, सूर्यसिद्धान्त आदि, जिसमें बीजगणित, अङ्क, भूगोल, खगोल और भूगर्भविद्या है, इसको यथावत् सीखें।"[44] उल्लेखनीय है कि स्वामी जी ने मात्र पुरुषों को ही नहीं, अपितु स्त्रियों के लिए भी शिल्प की शिक्षा को आवश्यक बताया है,[45] जिससे वे अपने गृह-कार्य के साथ-साथ पुरुष के साथ अर्थ-व्यवस्था के उन्नयन में भी सहभागी हो सकें।

(ख) पदार्थ-विद्या का ज्ञान :

दयानन्द ने शिल्पोन्नति-हेतु पदार्थ-विद्या के अभिज्ञान की अनिवार्यता पर बल दिया है, जिसमें वायु-विद्या, अग्नि-विद्या, विद्युत-विद्या, तथा भूगर्भ-विद्या आदि सम्मिलित हैं। इनका संक्षिप्त विवरण अधो-निर्दिष्ट है :

वायु-विद्या :

वायु-विद्या के ज्ञान की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए दयानन्द ने इंगित किया है कि वायु के निमित्त से ही सम्पूर्ण चेष्टा, भावना, बल, विज्ञान, तथा पुरुषार्थ आदि सम्पन्न होते हैं। वायु के अभाव में जल, अग्नि और भूगोल तथा इनके परमाणु गतिमान नहीं हो सकते हैं। विद्या से सम्प्रयुक्त पवन ही विमान आदि यानों में संयुक्त हो कर नाना प्रकार के सुखों का कारण होता है। इन वायुओं को सेना, विमान और नौका आदि यानों में संयुक्त करके अग्नि-जल के संयोग से यानों को शीघ्र चलाया करें। सम्पूर्ण प्रकार की वायुओं को जान कर शुद्ध-शुद्ध सुखों को भोगना चाहिए।[46]

अग्नि-विद्या :

इसके सम्बन्ध में दयानन्द का मत है कि, "ईश्वर ने जो सूर्य, विद्युत और प्रत्यक्ष रूप से तीन प्रकार का अग्नि (आमात्, जाठर और क्रव्यात्) रचा है, वह विद्वानों से शिल्प-विद्या के द्वारा यन्त्रादिकों में अच्छी प्रकार युक्त किया हुआ अनेक कार्यों को सिद्ध करने वाला होता है (यजु० भा०—2.3)।" चूँकि अग्नि-विद्या के सहाय से पृथ्वी के पदार्थों द्वारा धन प्राप्त होता है, अतः इसकी शिक्षा सब प्रकार से पुरुषार्थ के साथ करनी चाहिए।[47]

विद्युत-विद्या :

इस विद्या की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए स्वामी दयानन्द ने स्पष्ट किया है कि, "जैसे लोहा और पत्थरों में बिजुली रहती है, वैसे ही सब पदार्थों में प्रवेश कर रही है। उसकी विद्या को ठीक-ठीक जान और कार्यों में उपयुक्त करके इस पृथ्वी पर आग्नेयादि अस्त्र और विमानादि यानों को सिद्ध करें (यजु० भा० 11.11)।"

जल-विद्या :

जल-विद्या के ज्ञान को शिल्प-ज्ञान के लिए आवश्यक मानते हुए दयानन्द ने ऋ० भा० 5.19.3 की व्याख्या में लिखा है कि, "जितने पदार्थ हैं, वे सब जल ही से होते हैं, अर्थात् सबका बीज जल ही है।" इसलिए इसका पूर्ण ज्ञान तथा तकनीकी प्रयोग विज्ञान की प्रगति-हेतु अत्यावश्यक है।

भूगर्भ, भूगोल तथा खगोल-विद्या :

स्वामी दयानन्द का विचार है कि भूगर्भ-विद्या, पृथ्वी के अन्तर्गत विद्यमान पदार्थों का ज्ञान कराने वाला शास्त्र है। भूगर्भ और अग्नि-विद्या से पृथ्वी के पदार्थों की अच्छे प्रकार परीक्षा करके सुवर्ण आदि रत्नों को उत्साह के साथ प्राप्त करें (यजु० भा० 11.19); पुनश्च, यथार्थवक्ता विद्वान् लोग भूगर्भ, बिजुली, भूगोल, खगोल और सृष्टिस्थ

पदार्थों की विद्या के उपदेश से पदार्थ-विद्याओं को प्राप्त कराके सब की निरन्तर वृद्धि करें (ऋ० भा० 3.39.9)।

उपर्युक्त समस्त प्रकार की विद्याओं की महत्ता, उपयोगिता एवं प्रयोग-विधि आदि के सम्बन्ध में दयानन्द के विचारों से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने वेद-मन्त्रों के आधार पर विज्ञान के रसायन और भौतिकी शाखा के अध्ययन पर बल दिया है।

(ग) नौविमानादि यानों का निर्माण :

विमान आदि यानों के प्रथम आविष्कार के सम्बन्ध में सामान्यतः यह धारणा स्थापित हो गई है कि इसका श्रेय पाश्चात्य जगत को ही है। परन्तु, वेद तथा प्राचीन भारतीय साहित्यों में विमान आदि के निर्माण एवं प्रयोग के पर्याप्त प्रमाण प्राप्त होते हैं, जिनके द्वारा उपर्युक्त मान्यता की सत्यता आधारहीन सिद्ध हो जाती है। वायुयान के निर्माण सम्बन्धी इस तथ्य की व्याख्या-हेतु पाश्चात्य एवं भारतीय प्रयासों का संक्षिप्त विवरण देना प्रासंगिक प्रतीत होता है :

पाश्चात्य जगत् में विमान-निर्माण :

आकाश में स्वच्छन्दता पूर्वक विचरण करते हुए पक्षियों को देख कर, व्यक्तियों द्वारा कृत्रिम पंख लगा कर उड़ने की कल्पना, सर्व-प्रथम ब्रिटिश भिक्षु रोजर बेकन ने तेरहवीं शताब्दी में की थी और उसके पश्चात् महान् इटैलियन कलाकार-वैज्ञानिक लियोनार्डो-दा-विन्ची ने 'पक्षी-यन्त्र' के निर्माण की योजना बनाई। परन्तु, इस क्षेत्र में अठारहवीं शदी में जोजफ तथा माण्टगॉलफायर नामक दो फ्रान्सीसी भाइयों ने प्रथम प्रयोग किया, जिसके अन्तर्गत एक बड़े गुब्बारे में गर्म हवा भरकर तथा गुब्बारे के साथ बँधी एक टोकरी में एक मुर्गा, एक मेमना तथा एक बत्तख रख कर उड़ने के लिए छोड़ा गया। आठ मिनट के पश्चात् ही गुब्बारे से बँधी टोकरी की रस्सी किसी वृक्ष में उलझ गई। प्रयोग असफल हो गया। कालान्तर में

गुब्बारे के अन्तर्गत गर्म हवा के स्थान पर हायड्रोजन गैस को भर कर उड़ान भरने की कई असफल चेष्टाएँ होती रहीं। गुब्बारे द्वारा सफलता न मिलने पर अंग्रेज वैज्ञानिक जार्ज केले तथा जर्मन अभियन्ता ऑटॉ लिलिअन्टाल् ने पृथक् पृथक् स्वतन्त्र रूप से 'ग्लाइडर' नामक विमान-तुल्य एक ऐसा यन्त्र बनाया, जिसमें कोई इञ्जन नहीं होता था, अपितु किसी पहाड़ी के उच्च शिखर से वायु की दिशा में उस यन्त्र से लटक कर उड़ा जा सकता था।

विमान निर्माण के क्षेत्र में गुब्बारे और ग्लाइडर के प्रयोग की असफलता के पश्चात् सन् 1900 ई० में जर्मनी के एक सैन्य अधिकारी काउन्ट जेपलिन् ने 'एयरशिप' का निर्माण किया, जिसका प्रयोग प्रथम विश्व-युद्ध में जर्मनी ने लन्दन पर बम गिराने के लिए किया था। जेपलिन की ही भाँति ऑरविल और विलबर राइट नामक दो अमरीकी बन्धुओं ने (जिन्होंने साइकिल का निर्माण किया था) सन् 1903 ई० में 17 दिसम्बर को प्रातः काल किटी हॉक नामक समुद्रतटीय एकान्त स्थान पर मात्र चार या पाँच ग्रामीणों की उपस्थिति में स्वनिर्मित वायुयान का परीक्षण किया, जिसके प्रत्येक पंख 40 फीट लम्बे थे तथा दो पंखे तो 60 फीट लम्बे थे। यह विमान प्रथम प्रयास में बारह सेकेण्ड में 120 फीट की उड़ान भर सका। इस घटना को असम्भव मानते हुए अमेरिकी सरकार तथा किसी समाचार पत्र तक ने भी इसे कोई महत्त्व नहीं दिया। परन्तु ये दोनों भाई अपने शोध-कार्य में संलग्न रहे, जिसके फलस्वरूप सन् 1905 में उन्होंने नवीन अविष्कृत विमान का पुनः परीक्षण किया। इस बार वह विमान आधे घण्टे से कुछ ही अधिक समय में 25 मील की दूरी तय किया। सन् 1908 में इसका फ्रान्स में प्रदर्शन होने पर अमरीकी सरकार ने अपने उक्त दोनों वैज्ञानिकों को सादर स्वदेश आमन्त्रित किया। इस प्रकार ज्ञात होता है कि पाश्चात्य जगत् में विमान के निर्माण की प्रक्रिया गुब्बारे, ग्लाइडर, एयरशिप से होती हुई वायुयान तक पहुँच सकी। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में गुब्बारे

का प्रयोग हुआ और 1908 में वायुयान का स्वरूप सामने आ सका, जिसमें अद्यतन नवीन एवं उच्च तकनीकि का नित्य प्रयोग किया जा रहा है।

प्राचीन भारत में विमान निर्माण :

प्राचीन भारत में विमान के निर्माण और प्रयोग के सम्बन्ध में अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं। स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों, प्रवचनों तथा पत्रों आदि में यत्र-तत्र इसका संकेत भी किया है। मनुस्मृति के श्लोक संख्या 8.157 तथा 8 40.6 में वर्णित समुद्रपारीय व्यापार एवं उन पर करारोपण की व्यवस्था के माध्यम से स्वामी जी ने यह तर्क दिया है कि यह कहना कि पहले जहाज नहीं चलते थे, असत्य है। समुद्रयान आदि का निर्माण भारतीय लोग पूर्व ही से किया करते थे।[48] भोज-प्रबन्ध के एक श्लोक के सन्दर्भ से महर्षि ने लिखा है कि, "राजा भोज के राज्य में और समीप ऐसे-ऐसे शिल्पी लोग थे कि जिन्होंने घोड़े के आकार का एक यान यन्त्र-कलायुक्त बनाया था कि जो एक कच्ची घड़ी में ग्यारह कोश और एक घण्टे में साढ़े सत्ताईस कोश जाता था। वह भूमि और अन्तरिक्ष में भी चलता था ..... ।"[49] इसी प्रकार महर्षि ने महाभारतकालीन उद्धरण देकर कि अश्वतरी (अग्नियान नौका) द्वारा श्रीकृष्ण और अर्जुन पाताल लोक से ऋषि उद्यालक को युधिष्ठिर के यज्ञ में लाए थे[50], विश्वकर्मा (परमेश्वर के अतिरिक्त एक शिल्पी का नाम) ने विमान की युक्ति (निर्माण-विधि) निकाली थी[51] तथा उपरिचर नामक राजा सदा भूमि को स्पर्श करता हुआ हवा में ही फिरा करता था, लोगों को विमान रचने का उत्कृष्ट ज्ञान था[52] आदि द्वारा विमानादि रचना सम्बन्धी ज्ञान का उल्लेख करते हुए यह सिद्ध किया है कि भारत में नौविमानादि का निर्माण और प्रयोग प्राचीन काल में ही हुआ करता था।

स्वामी दयानन्द के प्रमाणों के अतिरिक्त कतिपय अन्य साक्ष्य भी इस तथ्य की पुष्ट करते हैं कि प्राचीन भारत में विमान के निर्माण की

कला का प्रचलन था। विमान-शास्त्र से सम्बन्धित भारद्वाज ऋषि कृत 'अंशुबोधिनी' नामक पुस्तक में विमान की रचना और उनकी आकाश-संचारी गति के आठ विभाग बताए गए हैं[53] :

1. शक्त्युदगम - बिजली से चलने वाला।
2. भूतवाह—अग्नि, जल और वायु आदि से चलने वाला।
3. धूमयान—वाष्प से चलने वाला।
4. शिखोद्गम—पंचशिखी के तेल से चलने वाला।
5. अंशुवाह—सूर्य की किरणों से चलने वाला।
6. तारामुख—उल्का-रस 'चुम्बक' से चलने वाला।
7. मणिवाह—सूर्यकांत, चन्द्रकांत आदि मणियों से चलने वाला।
8. मरुत्सखा—मात्र वायु से चलने वाला।

प्राचीन पुस्तक के उपर्युक्त अंश इस तथ्य के सशक्त प्रमाण हैं कि भारत में पाश्चात्य देशों की अपेक्षा अतिप्राचीन काल से ही विमानों के कला-कौशल का प्रचलन था। अतः, यूरोपीय देशों की गर्वोक्ति मात्र एक भ्रम है।

नौविमानादि यानों के निर्माण के सम्बन्ध में दयानन्द के विचार :

स्वामी दयानन्द ने पदार्थ-विद्याओं के सम्यक् प्रयोग से प्राप्त शिल्प-ज्ञान द्वारा नौविमानादि यानों के निर्माण और प्रयोग की कला और विज्ञान का विस्तृत विवेचन अपने वेद-भाष्य के अन्तर्गत ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों की व्याख्याओं तथा 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' नामक स्वकृत ग्रन्थ के अन्तर्गत 'नौविमानादि विद्या विषय' शीर्षक से एक अध्याय में ऋग्वेद के ग्यारह मन्त्रों की व्याख्या द्वारा किया है। यजुर्वेद के मन्त्र सं० 6.21 की व्याख्या में दयानन्द ने अनेक यानों के निर्माण की प्रेरणा देते हुए लिखा है कि, "धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, राज्य और बनिज व्यापार चाहने वाले पुरुष भूमियान, अन्तरिक्षयान और आकाश मार्ग में जाने-आने के विमानादि रथ का नाना प्रकार के

कला-यन्त्रों को बनाकर तथा सब सामग्री को जोड़कर धन और राज्य का उपार्जन करें।" इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि पुरुषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति हेतु इन तीन प्रकार के यानों (भूमियान, जलयान, वायुयान) का निर्माण अवश्य करना चाहिए। उक्त कथन में दयानन्द ने अन्तरिक्षयान और आकाशयान शब्द का जो प्रयोग किया है, उसमें अन्तरिक्ष का तात्पर्य समुद्र से है, क्योंकि महर्षि का मत है कि, "अन्तरिक्ष का नाम भी समुद्र है, क्योंकि वह भी वर्षा के जल से पूर्ण रहता है।"[64]

यान-निर्माण में अग्नि, जल तथा वायु के प्रयोग का उल्लेख करते हुए दयानन्द ने लिखा है कि, "मनुष्यों को पृथ्वी, जल और अन्तरिक्ष में गमन-हेतु अग्नि, जल तथा अन्य पदार्थों के संयोग से बहुत प्रकार की कलाओं वाला तीन प्रकार के कल्याणकारक रथ का निर्माण करना चाहिए (ऋ० भा० 1.13.4), जो अत्यन्त शीघ्रगामी तथा अद्भुत कोटि के हों, जिससे तीन दिन और तीन रात्रियों में सुख से समुद्र के पार तथा ग्यारह दिन और रात्रियों में ब्रह्माण्ड के चारों ओर आने-जाने का सामर्थ्य प्राप्त हो सके (ऋ० भा० 1.34.11) तथा जो शिलिकादि यन्त्रों से अर्थात् जिनमें कोठे पर कोठे कलाओं के होते हैं, उन यन्त्रों से बिजुली आदि उत्पन्न कर और विमान आदि यानों में उनका सम्प्रयोग कर कार्य-सिद्ध करते हैं, वे मनुष्य बड़ी भारी लक्ष्मी को पाते हैं (ऋ० भा० 1.163.10)।" ऋग्वेद-भाष्य के उपर्युक्त मन्त्रों की व्याख्या से स्पष्ट है कि दयानन्द ने वायु, अग्नि, विद्युत, जल तथा अन्य पदार्थों के विशिष्ट प्रयोग से ऐसे यानों के निर्माण का निर्देश किया है, जो अत्यन्त द्रुतगामी हो।

यानों के निर्माण-विधि का संकेत करते हुए दयानन्द ने लिखा है कि—इन यानों में तीन पहिए हों, जिनसे वह जल और पृथ्वी के ऊपर चलाया जाय। उसके सब अंग वज्र के समान दृढ़ हों, जिनमें कला-यन्त्र भी दृढ़ हों। उनमें तीन-तीन थम्भे (खम्भे) ऐसे बनाने चाहिए कि

जिनके आधार पर सब कला-यन्त्र लगे रहें तथा वे थम्भे भी दूसरे काष्ठ वा लोहे के साथ लगे रहें, जो कि नाभि के समान मध्यकाष्ठ होता है, उसी में सब कला-यन्त्र जुड़े रहें।[65] ये सवारियाँ (यान) लोहा, ताँबा, चाँदी आदि तीन धातुओं से बनती हैं। जैसे नगर वा ग्राम की गलियों में झटपट आना-जाना बनता है, वैसे दूर देश में भी उन सवारियों से शीघ्र-शीघ्र आना-जाना होता है। उन तीन प्रकार के यानों में वाष्प-वेग के लिए एक जलाशय बना के उसमें जल-सेचन करना चाहिए, जिससे वह अत्यन्त वेग से चलने थाला यान सिद्ध हो।[66] अग्नि और जल के संयोग से भाफ रूप अश्व अत्यन्त वेग देने वाला होता है। जिससे कारीगर लोग सवारियों को शीघ्र गमन के लिए वेगयुक्त कर देते है।[67] इन यानों के बाहर भी थम्भे रचने चाहिए, जिनमें सब कला-यन्त्र लगाए जाँय। उनमें एक चक्र बनाना चाहिए, जिसके घुमाने से सब कला घूमें। फिर उसके मध्य में तीन चक्र रचने चाहिए, कि एक के चलाने से सब रुक जाँय, दूसरे के चलाने से आगे चलें और तीसरे के चलाने से पीछे चलें। उसमें तीन-तीन सौ बड़ी-बड़ी कीलें अर्थात् पेंच लगाने चाहिए कि जिनसे उनके सब अंग जुड़ जाँय और उनके निकालने से सब अलग-अलग हो जाँय और उनमें साठ-साठ कलायन्त्र रचने चाहिए, कई एक चलते रहें और कुछ बन्द रहें। अर्थात् जब विमान को ऊपर चढ़ाना हो, तब भाफ-घर के ऊपर में मुख बन्द रखने चाहिए और जब ऊपर से नीचे उतरना हो तब ऊपर के मुख अनुमान से खोल देना चाहिए। ऐसे ही जब पूर्व को चलाना हो, तो पूर्व के बन्द करके पश्चिम के खोलने चाहिए और जो पश्चिम को चलाना हो, तो पश्चिम के बन्द करके पूर्व के खोल देने चाहिए। इसी प्रकार उत्तर दक्षिण में भी जान लेना। उनमें किसी प्रकार की भूल न रहनी चाहिए।[68]

स्वामी दयानन्द जलयानों को समुद्र में यथेष्ट स्थान पर रोकने आदि के लिए निर्देश देते हैं कि—उन नौका आदि सवारियों में सैकड़ह अरित्र अर्थात् जल की थाह लेने, उनके थांभने और वायु आदि विघ्नों से

रक्षा के लिए लोहा आदि के लंगर भी रखना चाहिए, जिनसे जहाँ चाहे वहाँ उन यानों को थांभे। इसी प्रकार उनमें सैकड़ह कल-बन्धन और थांभने के साधन रचने चाहिए।[६९] स्वामी दयानन्द ने बड़े यानों के अतिरिक्त समुद्रयात्रा-हेतु अश्वतरी तथा श्यामकर्णा आदि छोटी-बड़ी नौकाओं के सन्दर्भ में भी बताया है कि ये सभी वायु, अग्नि, जल, भाफ और विभिन्न कलायन्त्रों से परिचालित होती हैं।[७०]

स्वामी दयानन्द ने विभिन्न यानों के संचालन में मार्ग-विज्ञान की महत्ता को स्वीकार करते हुए लिखा है कि—"हे सवारी पर चलने वाले मनुष्यों! तुम दिशाओं को जानने वाले चुम्बक, ध्रुव-यन्त्र और सूर्यादिकारण से दिशाओं को जान, यानों को चलाओं और ठहराया भी करो, जिससे भ्रान्ति में पड़कर अन्यत्र गमन न हो (ऋ० भा०—1.46.10)।"

नौविमानादि यानों के निर्माण एवं प्रयोग सम्बन्धी स्वामी दयानन्द के समस्त निर्देशों के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अपनी अप्रतिम प्रातिभ शक्ति एवं अन्तर्दृष्टि के बल पर वेद-मन्त्रों की व्याख्या से ज्ञान-विज्ञान के ऐसे सूत्रों का उल्लेख किया है, जिसे उस समय यूरोप भी नहीं जानता था। रेलगाड़ी के आविष्कार मात्र से आश्चर्य चकित भारतीय जनता को दयानन्द ने वेद से विमान बनाने की कला का अभिज्ञान कराकर उनका मोह भंग किया। उल्लेखनीय है कि दयानन्द ने 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' का प्रकाशन सन् 1877 ई० तथा ऋग्वेद-भाष्य (7.62. 2 तक) का प्रकाशन 1878-1879 ई० में और सम्पूर्ण यजुर्वेद का भाष्य भी 1877-1878 में प्रकाशित किया था, जिनमें विमान आदि के निर्माण की प्रक्रिया का उल्लेख है। पश्चिकी देशों में वायुयान का निर्माण प्रभावो रूप से सन् 1900 ई० से प्रारम्भ हुआ, इसके पूर्व मात्र गुब्बारों और ग्लायडरों का ही असफल प्रयोग चल रहा था। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी दयानन्द ने यूरोपीय आविष्कार के लगभग 23 या 24 वर्ष पूर्व ही नौविमानादि यानों के

निर्माण के विज्ञान का सूत्रपात वेद-मन्त्रों के आधार पर कर दिया था। वस्तुतः, दयानन्द भारत के वैज्ञानिक ऋषि हैं।

(घ) ताराख्य-यन्त्र का निर्माण :

स्वामी दयानन्द ने शिल्प-ज्ञान द्वारा समाचारों को दूर देश में अतिशीघ्रता से सम्प्रेषित करने के लिए तार-विद्या के अध्ययन और तार के निर्माण को प्रेरणा दी है। उनका मत है कि ताराख्य-यन्त्र से चलाई हुई बिजुली मन के समान वार्त्ताओं को एक देश से दूसरे देश में प्राप्त करती है (ऋ० भा० 1.119.10)। अन्यत्र दयानन्द ने लिखा है कि, "पृथ्वी से उत्पन्न धातु तथा काष्ठादि के यन्त्र और विद्युत् अर्थात् बिजुली इन दोनों के प्रयोग से तार-विद्या सिद्ध होती है।

इस तार-विद्या से बहुत उत्तम व्यवहारों के फलों को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं। लड़ाई करने वाले जो राजपुरुष हैं, उनके लिए यह तार-विद्य अत्यन्त हितकारी है। वह तार शुद्ध धातुओं का होना चाहिए और विद्यत्-प्रकाश से युक्त करना चाहिए·····।"[61] इस कथन से स्पष्ट है कि दयानन्द ने टेलीफोन तथा तार-बे-तार-यन्त्र के निर्माण पर बल देकर संचार माध्यमों में अत्याधुनिक क्रान्ति लाने का प्रयास किया है। महर्षि ने पदार्थ-विद्या के ज्ञान द्वारा अत्यन्त उच्चकोटि के शिल्प अर्थात् विज्ञान और प्राविधिक-विकास को तत्कालीन परिस्थितियों में अनिवार्य घोषित किया है। साथ ही देशवासियों को यह भी बतला दिया कि समस्त ज्ञान-विज्ञान वेद में ही निहित हैं। इसके लिए हमें परमुखापेक्षी नहीं होना चाहिए।

(ङ) तकनीकी प्रशिक्षण-हेतु भारतीयों को विदेश भेजने की योजना :

स्वामी दयानन्द ने शिल्प-विद्या के शिक्षण तथा नौविमानादि यानों के निर्माण आदि का सैद्धान्तिक विवेचन मात्र ही नहीं किया है, अपितु उन्होंने शिल्पोन्नति-हेतु तकनीकी प्रशिक्षण के लिए भारतीय नवयुवकों

को विदेश भेजने की व्यावहारिक योजना भी बनायी थी। देवेन्द्र नाथ मुखोपाध्याय ने स्वामी दयानन्द की मानसिक दशा का वर्णन करते हुए लिखा है कि, "जब वह (दयानन्द) देखता था कि भारत के शिल्प-जीवी लोग बड़ी दुर्दशा में दिन काटते हैं, भारत की कारीगरी दिन प्रतिदिन लुप्त होती जा रही है, दूसरी ओर विदेशी शिल्प नए-नए आविष्कार कर रहे हैं, हिन्दुओं के घर विदेशी वस्तुओं से सजे हुए और आदर के पात्र समझे जा रहे हैं, तब यह सर्वत्यागी संन्यासी महात्मा हिन्दुओं पर आक्षेप मात्र करके ही चुप नहीं हो जाता है, बल्कि एक शोकातुर मनुष्य के समान उसे अत्यन्त दुख होता था।"[62] यही कारण है कि दयानन्द कला-कौशल के प्रशिक्षण-हेतु प्रशिक्षण-विद्यालय की स्थापना-हेतु प्रयत्नशील थे[63] और चाहते थे कि कुछ पुरुषों को कला-कौशल सीखने के लिए जर्मनी भेज दिया जाय।[64] स्पष्ट है कि दयानन्द भारतीय अर्थ-व्यवस्था के उन्नयन-हेतु हृदय से चिन्तन थे

भारतीय नवयुवकों को विदेश भेजने की प्रक्रिया में ही स्वामी दयानन्द का जर्मनी के प्रो० जी० वाईज (एलवर्टस् स्ट्रीट वैडन, जर्मनी) से पत्राचार भी हुआ था।[65] महर्षि के प्रस्ताव पर प्रो० वाइज ने भारतीय युवकों को जर्मनी में पोलिटिकल-इकॉनॉमी, आशुलिपि, स्टेनोग्राफी, बढ़ईगिरी, लोहे का काम, कपड़े की रंगाई, घड़ीसाजी आदि के प्रशिक्षण देने के लिए अपनी सहमति भी प्रदान कर दी थी[66] "परन्तु, चूंकि महर्षि दयानन्द अपने अन्तरतम से विशुद्धतः जनतान्त्रिक पद्धति के पक्षधर थे, अतएव उन्होंने भारतीय नवयुवकों को प्रशिक्षणार्थ विदेश (जर्मनी) भेजने की योजना को लाला मूलराज आदि सहयोगियों की समिति में विचारार्थ प्रस्तुत किया, जिसे अन्ततः अस्वीकृत कर दिया गया।[67] जब इसकी सूचना दयानन्द ने पत्र द्वारा वाईज को दी, तो उसने अपने 10 अक्टूबर, सन् 1880 को लिखे पत्र में महर्षि से समिति के निर्णय की उपेक्षा कर नवयुवकों को भेजने का आग्रह किया कि, "....मैं तो आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप कमेटी की परवाह न

कर। प्रायः बहुमत सदा ही बुद्धिमतापूर्ण निर्णय नहीं करता, चाहे उसमें का प्रत्येक सदस्य चतुर तथा तर्कपूर्ण ही क्यों न हो। यह कहावत ही है कि कई रसोइए भोजन को बिगाड़ देते हैं। कमेटी यदि चाहे तो थोड़े दिन बाद अपनी राय को बदल भी सकती है, तथा वह आप और मुझसे सहमत भी हो सकती है। जो धन उच्चतर शिक्षा पर व्यय किया जाता है, वह फेंका हुआ नहीं माना जाएगा। अतः, आप अपने छात्रों को मेरे पास भेजने में संकोच न करें। हम उन्हें आपकी शर्तों पर ही ले लेंगे।"[६७] परन्तु, दयानन्द ने अपने जनतान्त्रिक दर्शन को ठेस पहुंचने न दी। समिति का निर्णय यथावत् बना रहा, जिसके परिणामस्वरूप भारतीय नवयुवकों का तकनीकी प्रशिक्षण के लिए विदेश-गमन अवरुद्ध हो गया।

ऐसा माना जाता है कि कमेटी के सदस्य हरिश्चन्द्र चिन्तामणि, मुन्शी बख्तावर सिंह, मुन्शी इन्द्रमणि आदि ने अंग्रेजों के धन के प्रलोभनवश तथा लाला मूलराज ने अंग्रेजों के एजेण्ट (अभिकर्त्ता) होने के कारण सरकारी दबाव के वशीभूत होकर स्वामी दयानन्द की योजना के विपरीत निर्णय दिया।[६८] इस मान्यता की सत्यता का अन्वेषण एक स्वतन्त्र एवं पृथक् शोध का विषय हो सकता है। इस सन्दर्भ में वस्तु-स्थिति जो भी रही हो, परन्तु यह निर्विवाद है कि महर्षि ने लोकतान्त्रिक प्रणाली में विश्वास करने के फलस्वरूप ही कमेटी के निर्णय की अवहेलना नहीं की।

यद्यपि, दयानन्द की भारतीयों को तकनीकी प्रशिक्षण-हेतु विदेश भेजने की योजना असफल हो गई, परन्तु उनकी प्रेरणा से ही आर्य समाज लाहौर द्वारा विद्युत् आदि की विद्या सिखाने के लिए 'शिलिपादि विद्यालय' नामक संस्था की स्थापना की गई। आर्य समाज कार्यालय लाहौर से 16 मार्च सन् 1883 ई० को जवाहर सिंह द्वारा यह विज्ञापित किया गया कि, "..... "येक परमहर्ष की बात है कि हमारी समाज से येक शिलिपादि विद्यालय खुलने बाला है। यह हमारे देश में पहली बात होगी — ..... बिजली, तार, रेल आदि सब कारीगरी

सिखाई जाएगी और सब असबाब विलायत से मँगवाया जाएगा....।"[70] यही नहीं, अपितु स्वयं स्वामी दयानन्द ने दानापुर के एक घड़ी साज, ठाकुर दास से घड़ी बनाने की कला सीखी थी।[71] यह उनके उच्च तकनीकी अभिरुचि का ज्वलन्त प्रमाण है।

उपर्युक्त समस्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द ने मात्र सैद्धान्तिक ही नहीं, अपितु व्यावहारिक रूप में भी अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए शिल्प एवं उद्योग के क्षेत्र में स्तुत्य कार्य किया है। एक वीतराग संन्यासी द्वारा देश की आर्थिक समृद्धि के लिए किया गया यह प्रयास आश्चर्य ही है।

(ii) व्यापार ;

स्वामी दयानन्द आयात निर्यात के क्षेत्र में राष्ट्रीय एवं अन्तर-राष्ट्रीय व्यापार-नीति के समर्थक थे। उनके काल में देश-देशान्तर में आने-जाने पर आचार-विचार एवं धर्म नष्ट होने के भय से छुआछूत आदि कुप्रवृत्तियों के फलस्वरूप अनेक वर्जनाएँ स्थापित कर दी गयी थीं। दयानन्द ने इस प्रकार की वर्जनाओं की निन्दा करते हुए पूना के एक प्रवचन में कहा कि, "देशाटन करने में अड़ंगा लगाना मूर्खता है। इतना ही नहीं, अपने हाथों अपने देश का नाश करना है।"[72] अन्यत्र भी अन्तर्देशीय भ्रमण एवं व्यापार आदि के पक्ष में महर्षि ने महाभारत के उदाहरण द्वारा यह सिद्ध किया है कि हमारे प्राचीन आर्य पुरुष देश-देशान्तर में व्यापार तथा विवाह आदि कर्म किया करते थे, जिससे विभिन्न सभ्यता-संस्कृति, रीति-नीति, कला-कौशल तथा ज्ञान-विज्ञान का उन्हें भलीभाँति ज्ञान था।[73] मनुस्मृति के अष्टम अध्याय के श्लोक संख्या 406 में समुद्रपारीय व्यापार पर लगाए जाने वाले कर-विधान से भी स्पष्ट है कि हमारे आर्षग्रन्थों में अन्तर्देशीय व्यापार-नीति को स्वीकृति दी गई है।[74] इस प्रकार के तर्कों से ऋषि दयानन्द ने तत्कालीन मूढ़धारणाओं के खण्डन द्वारा समुद्रपारीय यात्रा एवं व्यापार

आदि को स्वीकृति प्रदान कर देश की अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

अपने वेद-भाष्यों में विभिन्न मन्त्रों की व्याख्या द्वारा ऋषि ने नौविमानादि यानों के निर्माण और प्रयोग का जो निर्देश किया है, उसके पीछे राष्ट्रोन्नति के लिए द्वीपद्वीपान्तर में व्यापार आदि करने का ही लक्ष्य निहित है। उनका विचार है कि, "जैसे पवन भूगोल के चारो ओर विचरते हैं, वैसे आप लोग भी सर्वत्र आओ-जाओ (ऋ० भा०-1.39.5)।" महर्षि दयानन्द ने यह सुझाव दिया है कि, "धन की कामना करने वाले नौकादि यानों में शिक्षित मल्लाह आदि को रख कर समुद्रादि के इस पार उस पार जा आ के देशदेशान्तर और द्वपद्वीपान्तर में व्यवहार से धन की उन्नति करें (यजु० भा० 16.42)।" अपने वेद-भाष्य में अन्य विभिन्न मन्त्रों के भाष्य में भी ऋषि ने व्यापार के अन्तर्देशीय स्वरूप का निर्धारण किया है तथा राजा का यह कर्त्तव्य निर्धारित किया है कि वह इस प्रकार के व्यापारियों की सब प्रकार से रक्षा करे।

स्वामी दयानन्द ने देशदेशान्तर व्यापार को ध्यान में रखकर ही यह निर्देश दिया है कि व्यापारियों को प्रत्येक देश की भाषा का ज्ञान होना चाहिए[75], जिससे कि व्यवहार में कोई रुकावट न आ सके। व्यापारी-गण ज्ञानी और सुशिक्षित हों। परन्तु, उन्हें सत्याचरण पूर्वक व्यापार करना चाहिए। स्वामी दयानन्द ने 'ग्राहक और बजाज' की एक रोचक कथा द्वारा व्यापार में सत्याचरण और ईमानदारी के सिद्धान्त को आवश्यकता को स्पष्ट किया है।[76] उन्हें इस बात का कष्ट था कि भारतीयों में परस्पर प्रेम तथा विश्वास का अभाव है। भारतीय जन विदेशियों को करोड़ो रुपया ऋण या 'शेयर' के रूप में दे देते हैं, किन्तु अपने भाइयों को एक कौड़ी भी नहीं देते हैं, अपितु कचहरियों में लड़ते रहते हैं। इसीलिए दयानन्द ने एक प्रवचन में कहा कि, "..... .....क्रय-विक्रय में झूठ तथा धोखा-धड़ी की चालाकी करते हो तथा

बिना कारण भाई-भाई की मूर्खता के कारण कचहरी दरबार में लड़ते हो। इन सब को छोड़ कर अपनी प्रामाणिकता का पालन करते हुए सत्यता पूर्वक क्रय-विक्रय करो और आपस में विश्वास बढ़ाओ।"[177] दयानन्द ने मात्र व्यापारी-वग को ही सत्याचरण तथा सद्भाव पूर्वक व्यवहार करने का निर्देश नहीं दिया है, अपितु, उन्होंने राजा को भी निर्देश दिया है कि वह माप-तौल में धोखा-धरी आदि करने वाले अथवा प्रतिमा-भंजकों (बटखरों को तोड़ने वालों) को उनके आर्थिक स्तर के आधार पर दण्डित करे।

उपर्युक्त समस्त आदेशों-निर्देशों के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि दयानन्द अन्तर्देशीय व्यापार को आर्थिक उन्नति का प्रमुख आधार मानते हुए उसके विकास का निर्देश किया है। देशान्तर-भ्रमण से धर्म नष्ट होने का भय मूर्खतापूर्ण एवं मिथ्या है। ऋषि ने व्यापारियों को आर्थिक शाख बढ़ाने, सत्याचरण करने तथा राजा को उन व्यापारियों पर दृष्टि रखने का भी संकेत किया है, जिससे धन-संग्रह की प्रवृत्ति में अधर्म का किंचित्मात्र भी लवलेश न हो सके।

(iii) औचित्यपूर्ण व्याज :

स्वामी दयानन्द ने रक्षित धन की वृद्धि-हेतु व्याज-ग्रहण को औचित्यपूर्ण माना है। उन्होंने वैश्य के कार्यों में व्याज लेने और देने की व्यवस्था के सम्बन्ध में लिखा है कि, "एक सैकड़े में चार, छः, आठ, बारह सोलह वा बीस आनों से अधिक व्याज और मूल से दूना अर्थात् एक रुपया दिया हो, तो सौ वर्ष में भी दो रुपया से अधिक न देना और न लेना।"[178] दूसरे शब्दों में, महर्षि व्याज के रूप में मूलधन का दुगुना लेना धर्म और उससे अधिक लेना अधर्म मानते थे। उनका मत है कि व्याज मासिक या वार्षिक लिया जाना चाहिए, किन्तु जब मूलधन का दूना धन प्राप्त हो जाय, तो आगे आसामी से कुछ भी नहीं लेना चाहिए।[179] ऋण या धन प्राप्तकर्त्ता यदि धन वापस न करे, तो प्रथम उसे समय दे और यदि निर्धारित समय पर भी धन वापस न करे, तो

न्यायालय में निवेदन करना चाहिए, जहाँ राजा साक्ष्यादि के माध्यम से सत्यता जान कर न्याय करे।[80] इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी दयानन्द ने व्याज को मात्र धार्मिक ही नहीं, अपितु वैधानिक संरक्षण भी प्रदान कर राष्ट्र और व्यक्ति की समृद्धि में जाने वाली बेई-मानी जैसी बाधाओं के निराकरण की व्यवस्था की है।

(iv) कृषि :

स्वामी दयानन्द ने कृषि को राज्य की अर्थ-व्यवस्था की रीढ़ माना है। इसीलिए उन्होंने कृषकों को 'राजाओं का राजा' कहकर सम्मानित किया है तथा गाय आदि पशुओं एवं कृषि-कर्म की रक्षा और अभिवृद्धि-हेतु एक 'गोकृष्यादि रक्षिणी सभा' की भी स्थापना की थी। उन्होंने अपने चिन्तन में कृषि-कर्म की महत्ता पर विशेष बल इसलिए दिया है, क्योंकि इसी कार्य से मनुष्यों को अन्न की प्राप्ति होती है। ऋषि अन्न के प्रभूत उत्पादन आदि के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते है कि, "हे ईश्वर ! हमको उत्तमान्न के लिए पुष्ट कर..... बिना अन्न के हम लोग दुखी कभी न हों।"[81] अन्न के लिए ईश्वर से की गई उपर्युक्त प्रार्थना में प्रकारान्तर से कृषि-कार्य के सुचारु संचालन तथा अच्छी वर्षा आदि का संकल्प निहित है।

(क) कृषि-शिक्षा :

दयानन्द के चिन्तन में सम्पूर्ण कृषि-कार्य का दायित्व वैश्यों का है तथा गुण, कर्म एवं स्वभावानुसार जो व्यक्ति बौद्धिक कार्य-हेतु सक्षम न हों, वे कृषि-कर्म में वैश्यों के सहयोगी के रूप में कार्य करेंगे। दयानन्द शूद्रों को श्रमिक वर्ग के रूप में मानते थे। परन्तु, उल्लेखनीय है कि कृषि से सम्बन्धित इन वर्ग के व्यक्तियों को भी अच्छी शिक्षा देने की व्यवस्था होनी चाहिए। अपने वेद-भाष्य में स्वामी दयानन्द ने इस सन्दर्भ में लिखा है कि, "विद्वानों की शिक्षा से कृषि-कर्म की उन्नति करें (यजु० भा०-12.67)।" एक अन्य मन्त्र की व्याख्या में भी ऋषि का स्पष्ट निर्देश है कि, "पृथ्वी आदि पदार्थों के गुण, कर्म और स्वभाव को जान कर खेती आदि कर्मों से सुवर्ण आदि रत्नों को प्राप्त हों

(यजु० भा० 14.19)।" स्पष्ट है कि पृथ्वी आदि पदार्थों के गुण, कर्म और स्वभाव को जानने का तात्पर्य भूमि तथा अन्य उपकरणों के परीक्षण आदि से है। इसी संकल्प को स्पष्ट करते हुए दयानन्द ने लिखा है कि "पृथ्वी की अच्छे प्रकार परीक्षा करके, हल आदि साधनों से जोत एक सार कर, सुन्दर संस्कार किए बीजों को बो कर उत्तम धान्य उत्पन्न करके भोगें (यजु० भा० 12.71,)।" इस कथन से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि कृषि कार्य में मिट्टी, बीज तथा अन्य समस्त उपकरणों के परीक्षण की उचित-व्यवस्था का होना परमावश्यक है।

(ख) उर्वरकों का प्रयोग :

स्वामी दयानन्द ने सुपरीक्षित भूमि में संशोधित बीज के प्रयोग के साथ-साथ उर्वरकों के प्रयोग की आवश्यकता पर भी बल दिया है। उनका मत है कि खेतों में बिना खाद के अच्छी उपज नहीं हो सकती। किन्तु खेतों में विष्टा आदि मलीन पदार्थ नहीं डालना चाहिए। विष्टा आदि का खाद के रूप में प्रयोग करने से रोगों की वृद्धि होती है।[82] स्वामी दयानन्द ने उर्वरकों के प्रयोग को इतना अधिक महत्त्व दिया है कि एक प्रसंग में उन्होंने यहाँ तक कह डाला था कि, "मेरी तो इच्छा है कि मृत्यु के पश्चात् मेरी भस्म भी किसी खेत में डाल दी जाय, जिससे कि वह खाद बनकर किसी कृषक की फसल को सुधारे।" इस कथन के अतिरिक्त, अब अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि दयानन्द ने उर्वरकों के प्रयोग को आवश्यक माना है।

(ग) अच्छी वर्षा और सिंचाई की व्यवस्था ;

अच्छी वर्षा के अभाव में अच्छी पैदावार का होना कठिन है। अतः, दयानन्द ने अच्छी वर्षा के लिए यज्ञ करने का निर्देश दिया है। उनका मत है कि यज्ञ के धूम और वाष्प से बादल बनते हैं, बादल से वृष्टि,

वृष्टि से औषधि, औषधि से अन्न, अन्न से धातु तथा धातुओं से शरीर बनता है।[84] अपनी इसी मान्यता के आधार पर दयानन्द ने महाराणा सज्जन सिंह को एक पत्र में अच्छी वर्षा-हेतु यह निर्देश दिया था कि, "जिस दिन वर्षा का आरद्रा नक्षत्र लगे, उस दिन से ले के विजादशमी तक विधिपूर्वक होम करना।"[85] इसी प्रकार का एक पत्र महर्षि ने जोधपुर नरेश यशवन्त सिंह को भी लिखा था कि, "इस देश में वर्षा प्रायः न्यून होती है। इसके लिए यदि मेरे कहे अनुसार एक-एक वर्ष में दश हजार रुपयों का घृतादि का नित्यप्रति और वर्षा काल में चार महीने तक अधिक होम करावेंगे, वैसे प्रति वर्ष होता रहे, तो सम्भव है कि देश में रोग न्यून और वर्षा अधिक हुआ करे।"[86] दयानन्द ने वर्षा-हेतु यज्ञ-होम के अतिरिक्त वनों के संरक्षण को भी उपयोगी बताया है। उनका मत है कि, "वन के वृक्षों की रक्षा के बिना बहुत वर्षा और रोगों की न्यूनता नहीं होती है (यजु० भा० 12. 33)।" अन्यत्र भी महर्षि ने वन-सम्पदा के संरक्षण के सम्बन्ध में लिखा है कि, "पशुओं के चरने के लिए जो वन रखे जाते थे, वे मात्र उनके हित में नहीं, अपितु वृक्षों के अधिक होने से वर्षा, जल और वायु में आर्द्रता और शुद्धि अधिक होती है।"[87] इन समस्त कथनों से स्पष्ट होता है कि दयानन्द को ऋतु-विज्ञान का अच्छा ज्ञान था तथा वे वर्षा-हेतु यज्ञ और वनों के रखरखाव को महत्त्वपूर्ण मानते थे।

कृषि में वर्षा के अतिरिक्त सिंचाई के अन्य साधनों का भी अधिक महत्त्व होता है। इसी दृष्टि से दयानन्द ने सिंचाई के साधनों के सम्बन्ध में लिखा है कि, "नदियों के मार्गों, बम्बों, कूपों, जलप्राय देशों, बड़े और छोटे तालाबों के जल को चला, जहाँ कहीं बाँध और खेत आदि में छोड़ के पुष्कल अन्न, फल, वृक्ष, लता, गुल्म आदि को अच्छे प्रकार बढ़ावें (यजु० भा०—16. 37)।" सिंचाई के साधनों में नहर की महत्ता और उपयोगिता को देखते हुए दयानन्द ने शाहपुराधीश नाहर सिंह को एक पत्र लिखकर नहर की खुदाई के सम्बन्ध में अत्यन्त सामयिक सुझाव

दिया था कि, "यहाँ जो नहर आपके खुदायी जाती है, वह तीन फुट ऊपर, तीन फुट नीचे और तीन फुट चौड़ी खुदायी जाती है, सो मेरी समझ में तीन फुट चोड़ी, चार ऊपर और दो फुट नीचे रहना बहुत अच्छा है।"[88] तत्कालीन परिस्थितियों में महर्षि द्वारा दिया गया यह सुझाव उनकी वैज्ञानिक दृष्टि का द्योतक है।

स्वामी दयानन्द के भूमि-परीक्षण, बीज-शोधन, उर्वरकों के प्रयोग, सिंचाई के साधन तथा वर्षा-हेतु यज्ञ एवं वनों के संरक्षण आदि सम्बन्धी समस्त विचारों के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि निःसन्देह उनकी दृष्टि एक कृषि वैज्ञानिक की दृष्टि थी। उन्होंने 'सहकारी-कृषि' के सम्बन्ध में भी लिखा है कि, "इस समय खेती करने वाले आपस में एक दूसरे का पारापारी खेत काटते हैं।"[89] इस तथ्य से यह निश्चित है कि उन्होंने सहकारी-कृषि की आधुनिक अवधारणा का भी प्रतिपादन किया है। यहीं नहीं, अपितु नवान्न के घर आने पर 'नवशस्येष्टि यज्ञ'[90] करने का परामर्श देकर महर्षि ने कृषि-कार्य में वैज्ञानिकता और आध्यात्मिकता का समन्वय भी किया है। दयानन्द-प्रतिपादित सम्पूर्ण कृषि-व्यवस्था की समीक्षा से स्पष्ट होता है कि वे आधुनिक कृषि-वैज्ञानिकों की कोटि में स्थापित किए जा सकते हैं।

(v) पशु-पालन :

स्वामी दयानन्द ने पशु-पालन को देश की अर्थ-व्यवस्था में शिल्प, उद्योग, व्यापार तथा कृषि आदि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं माना है। उन्होंने गाय, बैल, भैंस, बकरी, ऊँट, घोड़ा, हाथी आदि ग्राम्य पशुओं के साथ ही साथ सिंह, उल्लू, मुर्गा बगुला, गोध आदि जैसे वन्य एवं हिंसक या अनुपयोगी समझे जाने वाले पशु-पक्षियों के संरक्षण का भी समर्थन किया है।[91] उन्होंने समस्त पशु-पक्षी तथा कीट-पतंग आदि को उसी 'ब्रह्म' से उत्पन्न बताते हुए,[92] उनके संरक्षण का दायित्व राजा एवं समस्त पुरुषों-स्त्रियों पर सौंपा है।[93] यही नहीं, अपितु उनका यह भी मत था,

कि प्रजा उसी को सभाध्यक्ष बनावे, जो पशु-रक्षा में समर्थ हो (ऋ० भा० 4.2.5)। महर्षि ने पशु-हिंसकों को कठोर दण्ड देने का भी निर्देश कर पशु-पालन की महत्ता को स्पष्ट कर दिया है। पशु-पालन और संरक्षण से सम्बन्धित महर्षि-कृत पुस्तक 'गोकरुणानिधि' के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि व्यक्ति एवं राष्ट्र के जीवन में पशु-पक्षियों का कितना महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। इस पुस्तक में दयानन्द ने गवादि पशुओं के पीढ़ी दर पीढ़ी के सम्वर्द्धन एवं दुग्ध-उत्पादन को गणितीय आर्थिक व्याख्या द्वारा उनकी उपादेयता को स्पष्ट किया है।

(क) पशु-हिंसा एवं मांस-भक्षण का विरोध :

स्वामी दयानन्द पशु-हिंसा तथा मांस-भक्षण के प्रबल विरोधी थे। उन्होंने इस सत्य एवं तथ्य को अत्यन्त निर्भीकता पूर्वक घोषित किया है कि—देखो ! जब आर्यों का राज्य था, तब ये महोपकारक गाय आदि पशु नहीं मारे जाते थे, तभी आर्यावर्त्त वा अन्य भूगोल देशों में बड़े आनन्द में मनुष्यादि वर्त्तते थे। जब से विदेशी मांसाहारी इस देश में आके गो आदि पशुओं के मारने वाले मद्यपायी राज्याधिकारी हुए हैं, तबसे क्रमशः आर्यों के दुख की बढ़ती होती जाती है।[94] इन्होंने राज्य बल के आधार पर पशुओं की हिंसा कर उनकी संख्या अत्यन्त न्यून कर दी है।[94] दयानन्द ने अन्यत्र अत्यन्त उग्रता पूर्वक यहाँ तक लिख डाला है कि, "हे मांसाहारियों ! तुम लोग जब कुछ काल के पश्चात् पशु न मिलेंगे, तब मनुष्यों का मांस भी छोड़ोगे वा नहीं ?"[96] इस प्रकार की कटूक्तियों द्वारा दयानन्द ने अंग्रेजों के राज्य में ही उनकी निन्दा कर उन्हें मांस-भक्षण एवं पशु-हिंसा से रोकने का प्रयास किया है।

(ख) पशु-बलि-निषेध :

दयानन्द ने यज्ञों में होने वाली पशु-बलि (गोमेध, अश्वमेध, अजामेध आदि) को वेद-विरुद्ध एवं तर्कहीन सिद्ध करते हुए पशु-रक्षा का पक्ष प्रस्तुत किया है। एक स्थान पर उन्होंने अत्यन्त ही कटु शब्दों में लिखा

है कि, "जो यज्ञ में पशु को मार होम करने से वह (व्यक्ति) स्वर्ग को जाता हो, तो यजमान अपने पितादि को मार होम करके स्वर्ग को क्यों नहीं भेजता ?"[९७] अहिंसा के विषय पर रविवार, 29 जनवरी सन् 1882 ई० को 'भाटिया महाजन वाड़ी' बम्बई में प्रवचन करते हुए दयानन्द ने कहा कि, "कोई कहे कि वेद में अश्वमेध, गोमेध, और अजामेध इत्यादि पशु-होम का विधान है—इसके प्रत्युत्तर में यह कहना है कि उन स्थानों पर अश्व का अर्थ घोड़ा, गो का अर्थ गाय और अजा का अर्थ बकरी ऐसा नहीं है, किन्तु अश्व नाम अग्नि, गो नाम पृथ्वी और अजा नाम प्रकृति ऐसा अर्थ है।"[९८] अन्यत्र, महर्षि ने अश्वमेध गोमेध तथा नरमेध का अर्थ समझाते हुए लिखा है कि, 'देखो ! राजा न्याय-धर्म से प्रजा का पालन करे, विद्यादि का देनेहारा यजमान और अग्नि में घी आदि का होम करना अश्वमेध, अन्न, इन्द्रियाँ, किरण, पृथ्वी आदि को पवित्र रखना गोमेध, जब मनुष्य मर जाय, तब उसके शरीर का विधिपूर्वक दाह करना नरमेध कहाता है।[९९]" स्वामी दयानन्द ने पशु-बलि का विरोध मात्र अपने प्रवचनों एवं ग्रन्थों में ही नहीं किया है, प्रत्युत् वे व्यावहारिक जीवन में भी पशु बलि को रोकने का प्रयास करते रहे। एक बार उदयपुर में दशहरे के अवसर पर चढ़ाई जाने वाली बलि से करुणार्द्र हृदय दयानन्द ने द्रवीभूत होकर राजा श्री सज्जन सिंह से पूछा कि, "आप राजा हैं, न्यायासन पर विराजमान हैं। मैं निर्दोष पशुओं का वकील बनकर आपके समक्ष अभियोग लेकर उपस्थित हूँ। देवता के नाम पर इन मूक पशुओं को मारने का क्या औचित्य है ?" महाराज ने तुरन्त ही दयानन्द को धीरे-धीरे वलि प्रथा को समाप्त करने का विश्वास दिलाया।[१००] इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी दयानन्द ये पशु संरक्षण हेतु पशु हिंसा, मांस भक्षण तथा पशु-बलि के विरुद्ध सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रयास किया थां।

(ग) गो-रक्षा-हेतु-अंग्रेजों से वार्ता :

स्वामी दयानन्द ने [सन् 1866 ई० में अजमेर में मेजर ए० जी०

डेविड्सन, कमिश्नर तथा कर्नल ब्रुक, असिस्टेण्ट कमिश्नर (एजेण्ट टू दि गवर्नर जनरल) से गोवध बन्द करने की वार्ता की थी। ब्रुक ने अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए दयानन्द को इस सम्बन्ध में वायसराय से बात करने का अनुरोध किया। इसी क्रम में सन् 1873 ई० में फर्रुखाबाद में उत्तर प्रदेश के लेफ्टीनेण्ट गवर्नर श्री म्योर से गो-हत्या जैसे नृशंस कुकृत्य को समाप्त करने के सम्बन्ध में पूछा कि, "यदि लन्दन के इण्डिया कौंसिल के आप सदस्य हो जावें, तो क्या आप गो-वध को बन्द कराने का प्रयास करेंगे ?[101] स्वामी दयानन्द ने ब्रिटिश अधिकारियों एवं कर्मचारियों से गो-रक्षा-हेतु वार्ता करने के अतिरिक्त यह भी योजना बनाई थी कि उनकी पुस्तक 'गोकरुणानिधि' का अंग्रेजी में अनुवाद कर उसे विलायत भेजा जाय, जिसे पढ़कर अंग्रेज पशु-हिंसा तथा मांस-भक्षण का परित्याग कर दें। अपनी इस योजना के परिप्रेक्ष्य में दयानन्द ने अपने सहयोगी लाला मूलराज को पुस्तक के अंग्रेजी अनुवाद-हेतु कई पत्र भी लिखे।[102] परन्तु, ऐसा समझा जाता है कि मूलराज चूँकि मांसाहारी थे, अतः वे अनुवाद सम्बन्धी दयानन्द के निर्देश को टालते रहे[103] तथा अन्ततः, दयानन्द ने उस पुस्तक का अंग्रेजी-अनुवाद अन्य लोगों से कराया।[104] मूलराज द्वारा अनुवाद न किए जाने का कारण चाहे जो रहा हो, परन्तु इतना तो निर्विवाद है कि स्वामी दयानन्द ने पशु-हिंसा के विरोध में अंग्रेजों से वार्ता की तथा अपनी पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद करवाया। आर्य-भाषा हिन्दी के प्रबल समर्थक दयानन्द द्वारा अंग्रजी अनुवाद की अनुमति देना, इस बात का सशक्त प्रमाण है कि उन्होंने गौ-संरक्षण हेतु अपने इस सिद्धान्त में भी आंशिक और सामयिक परिवर्त्तन किया। यह उनके जीव-प्रेम एवं सहृदयता का द्योतक है।

(घ) गो-रक्षा-हेतु-हस्ताक्षर अभियान :

स्वामी दयानन्द ने गो-रक्षा-हेतु मात्र पुस्तक लिखकर या अंग्रेजों से वार्ता करके ही चुप्पी नहीं साध ली, अपितु उन्होंने गोरक्षार्थ जन-

मतसंग्रह करने के लिए दो करोड़ हस्ताक्षर करवाने का आन्दोलनात्मक पग भी उठाया। उनकी योजना थी कि हस्ताक्षर युक्त एक ज्ञापन ब्रिटिश सामाज्ञी विक्टोरिया की सेवा में, तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड रिपन (जिसका कार्य काल सन् 1884 तक ही शेष था) के माध्यम से दिया जाय।[105] उन्होंने इस अभियान की वैधानिकता के सम्बन्ध में अनेक प्रसिद्ध वकीलों से परामर्श भी कर लिया था।[106] उन्हें अपने इस हस्ताक्षर योजना में अपेक्षित सफलता भी मिली। इसके अन्तर्गत दयानन्द को शाहपुराधीश नाहर सिंह द्वारा 40,000 हस्ताक्षर युक्त पत्र[107], फर्रुखाबाद के गोपाल राव हरि द्वारा 72,000[108], कटिला की ठकुरानो साहिबा द्वारा 90308[109], एटा के जालिम सिंह रूपधनी तथा उनके भतीजे गुलाब सिंह के सामूहिक प्रयास द्वारा 10,000।[110] बम्बई के सेवक लालकृष्ण दास द्वारा 15320[111] तथा बाबू कृपाराम जी द्वारा 50,000[112] हस्ताक्षर युक्त पत्र (कुल 2,77,628) प्राप्त हुए। परन्तु, दुर्भाग्यवश दयानन्द की आकस्मिक मृत्यु (30 अक्टूबर, मंगलवार, कार्तिक अमावस्या 'दीपमाला' के दिन सन् 1883 ई०) के कारण यह महोपकारी कार्य सम्पन्न न हो सका।

महर्षि दयानन्द के उपर्युक्त विभिन्न प्रकार के सत्प्रयासों के फल-स्वरूप ही ज्वालापुर के मुसलमान रईस राव एवज खाँ तथा दानापुर के ईसाई जोन्स साहब ने भविष्य में गो-मांस-भक्षण को त्यागने की प्रतिज्ञा की थी।[113] जयपुर में राजा की ओर से गोवध तथा पशुओं के निर्यात पर रोक लगा दी गई थी।[44] जोधपुर राज्य में राजा यशवन्त सिंह सहित 1461156 हिन्दुओं तथा 137119 मुसलमानों ने गाय आदि पशुओं की हत्या न करने और कराने की प्रतिज्ञा की।[115] यही नहीं, अपितु राव राजा सीकर के इलाके के 555 ग्रामों में गो-रक्षार्थ वार्षिक चन्दा भी लगा दिया गया रामगढ़, लक्ष्मणगढ़, फतेहपुर आदि जगहों पर भी रुपया इकट्ठा कर लिया गया।[116] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि महर्षि के उपदेशों, ग्रन्थों एवं सत्प्रयासों के परिणाम स्वरूप गो-रक्षण और सम्बर्द्धन के क्षेत्र में आशातीत सफलता मिली

यह हमारे देश का दुर्भाग्य ही है कि जो कार्य और प्रयास दयानन्द ने गोरक्षार्थ प्रारम्भ किया था, उसे आज स्वतन्त्रता के इकतालीस वर्ष व्यतीत होने के पश्चात् भी पूर्ण नहीं किया जा सका है।

भारतीय दर्शन के सूक्ष्म तत्वों के ज्ञान के अभाव में सर वेलेण्टाँइन शिरोल ने (इण्डियन अनरेस्ट, मैकमिलन प्रेस, लन्दन, सन् 1910 ई०) दयानन्द के गो रक्षा के प्रयास पर यह दोषारोपण किया है कि उन्होंने इसके माध्यम से भारतीयों की धार्मिक भावना को उभाड़ कर ब्रिटिश-शासन के विरुद्ध विद्रोह कराने का चातुर्यपूर्वक एक प्रयास किया था। शिरोल ने अपने अधकचरे वैदिक ज्ञान के आधार पर यह भी घोषित किया है कि वेदों में कहीं भी गो-भक्षण का निषेध नहीं है।[117] परन्तु, वैदिक ऋचाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ऋग्वेद के अनेक सूक्तों तथा यजुर्वेद के अनेक सूक्तों तथा यजुर्वेद के तेरहवें अध्याय में गो-रक्षा पर विशेष बल दिया गया है तथा गौ की अवध्यता की घोषणा करते हुए उसे 'अघ्न्या' की संज्ञा भी दी गई है।[118] स्पष्ट है कि शिरोल की वैदिक अज्ञानता ने उसे इस प्रकार के मिथ्याभाषण और कुतर्क करने का साहस दिया।

वस्तुतः, दयानन्द के गोवध निषेध की पृष्ठभूमि में किसी प्रकार के धार्मिक भावावेश को उद्दीप्त करने की भावना निहित नहीं थी, अपितु उन्होंने गोरक्षा के प्रश्न को विशुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से उठाया था। अपनी अति लघुकाय पुस्तक 'गोकरुणानिधि' में दयानन्द ने गाय, भैंस, बकरी आदि दुधारू पशुओं की पीढ़ी दर पीढ़ी के दूध एवं उनके बछड़ों आदि के लाभों का आर्थिक ढंग से विश्लेषण करते हुए यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि, "·····छः गाय की पीढ़ी पर पीढ़ी का हिसाब लगा कर देखा जाय तो, असंख्य मनुष्यों का पालन हो सकता है और इसके मांस से अनुमान है कि केवल अस्सी मांसाहारी मनुष्य एक बार तृप्त हो सकते हैं·····।"[119] इसी पुस्तक में अन्यत्र दयानन्द ने पशु रक्षा को आर्थिक एवं स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से उपयोगी सिद्ध करते हुए

लिखा है कि, "इनकी रक्षा से अन्न भी महँगा नहीं होता, क्योंकि दूध आदि के अधिक होने से दरिद्री को भी खान-पान में मिलने पर न्यून हो अन्न खाया जाता हैं। अन्न के कम खाने से मल भी कम होता है। मल के न्यून होने से दुर्गन्ध भी न्यून होती है। दुर्गन्ध के स्वल्प होने से वायु और वृष्टि जल की शुद्धि भी विशेष होती है, उससे रोगों की न्यूनता होने से सबको सुख बढ़ता है।"[120]

पशु-संरक्षण विषयक दयानन्द के उपर्युक्त विचारों के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि उनका उद्देश्य कदापि भारतीयों की धार्मिक भावनाओं को उद्दीप्त करना नहीं था, अपितु भारतीय अर्थ-व्यवस्था का विकास, स्वास्थ्य-संरक्षण तथा पर्यावरण-प्रदूषण से मुक्ति प्राप्त करना ही था। उनके ऊपर लगाए जाने वाले पाश्चात्य विद्वान् के आरोप उसकी हठवादिता तथा वैदिक ज्ञान की शून्यता के परिणाम हैं।

(Vi) बेकारी की समस्या :

स्वामी दयानन्द तत्कालीन भारत की दयनीय आर्थिक स्थिति से अत्यन्त दुःखी रहा करते थे। अन्य देशों के औद्योगिक विकास एवं प्राविधिक प्रगति की तुलना में भारतीय शिल्प, उद्योग, व्यापार, कृषि एवं प्राविधिकी अत्यन्त निम्न स्तरीय थी। अंग्रेजों की तुलना में भारतीयों की अल्प योग्यता ने उन्हें बेकार एवं बेरोजगार बना दिया था। उनमें युगानुकूल उत्पादन की क्षमता तथा कला-कौशल के ज्ञान का अभाव था। भारतीयों के बेरोजगारी-हेतु धार्मिक अन्धविश्वास एवं छुआछूत जैसी कुप्रथाओं के साथ-साथ भारतीय शिक्षा-व्यवस्था भी कम दोषी नहीं थी। यह सर्वविदित है कि वेद में सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान समाहित हैं, परन्तु एक ओर जहाँ वेद की कर्मकाण्ड और इतिहासपरक व्याख्याओं ने वेद को उसके वास्तविक स्वरूप से पृथक् किया, वहीं दूसरी ओर वेद के अध्ययन-अध्यापन का अधिकार मात्र ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण को ही दिया गया था, जिनका उत्पादन के कार्यों से कोई सम्बन्ध ही नहीं था। उत्पादन-

कार्य में संलग्न वैश्य एव श्रमिक वर्ण (शूद्र) को वेदों के अध्ययन से पूर्णतया वंचित कर दिया गया था। फलस्वरूप वेदों में निहित ज्ञान-विज्ञान सिद्धान्त रूप में ही (ब्राह्मण और क्षत्रियों के पास) रह गया था, उसे व्यावहारिक रूप देने में (वैश्य और शूद्र को अध्ययन का अधिकार न देकर) तथाकथित रूढ़िवादी एवं प्रतिगामी मान्यताएँ बाधक थीं।

इस प्रकार की दुर्व्यवस्था को देखकर स्वामी दयानन्द ने सर्वप्रथम वेद की वैज्ञानिक व्याख्या द्वारा उसके वास्तविक स्वरूप को उजागर किया तथा ज्ञान-विज्ञान से भरे हुए वेदों के अध्ययन का अधिकार बिना किसी भेद-भाव के समस्त स्त्री-पुरुष को प्रदान किया, जिससे कि सिद्धान्त और व्यवहार में तादात्म्य स्थापित हो सके। तदुपरान्त, भारतीय नवयुवकों को कला-कौशल में शिक्षित-प्रशिक्षित कराने की व्यवस्था की ओर ध्यान दिया। उन्होंने भारतीयों की बेकारी की समस्या के सम्बन्ध में 30 नवम्बर, सन् 1880 ई० को आगरा से अपने सहयोगी लाला मूलराज को एक पत्र में यह लिखा कि, "बहुत से पढ़े-लिखे लोगों को भी नौकरी नहीं मिलती या वे जीवन-निर्वाह का प्रबन्ध नहीं कर सकते। ऐसी अवस्था देखकर मैं कला-कौशल के स्कूल की आवश्यकता विचारता हूँ.....चाहे तो विद्यार्थियों को कला-कौशल सीखने जर्मनी भेजे जावे या वहाँ से अध्यापक (भारत में) बुलाए जाँय .....आप लाला श्री राम को कला-कौशल सीखने इंग्लैन्ड भेज दें। जर्मनी से (भारतीय नवयुवकों को प्रशिक्षण देने के पक्ष में) पत्र आ रहे हैं।"[121]

उक्त पत्र में माया-मोह से विरक्त स्वामी दयानन्द स्वदेशी जनों की बेकारी की समस्या के साथ-साथ देश की आर्थिक अवस्था के विषय में अत्यन्त चिन्तित दिखायी पड़ते हैं। यही कारण है कि उन्होंने जर्मनी के प्रो० जी० वाइज से भारतीय नवयुवकों के विभिन्न प्रकार के कला-कौशल के प्रशिक्षण-हेतु पत्रव्यवहार भी किया था। यह उनकी सच्ची देशभक्ति और उनके सुयोग्य अर्थशास्त्री होने का प्रमाण है। वे उन्नति-

शील शिल्प-शिक्षा एवं सीमित उपभोग द्वारा बेकारी की समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हैं।

निष्कर्ष :

स्वामी दयानन्द-प्रतिपादित सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के विशद् विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अपने राजनीतिक चिन्तन को वैज्ञानिक अर्थशास्त्र के सर्वथा समीप ला दिया है। स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती के शब्दों में, "स्वामी दयानन्द ने विज्ञान का स्वागत मानव कल्याण की दृष्टि से भी किया और पौराणिक अन्धविश्वासों से मुक्ति मिल सकेगी, इस दृष्टि से किया।[122] उन्नीसवीं शती के धर्म प्रवर्त्तकों और धर्माचार्यों में स्वामी दयानन्द भूमण्डल पर पहले आचार्य थे, जिन्होंने आधुनिक विज्ञान को भी प्राचीन भारतीय विज्ञान की परम्परा में स्वीकार किया और उसका स्वागत किया।"[123] स्वामी सत्य प्रकाश का उपर्युक्त कथन दयानन्द द्वारा शिल्प-ज्ञान के अन्तर्गत वर्णित नौविमानादि यानों के निर्माण, तारारूप-यन्त्र, पदार्थ-विद्या के ज्ञान और प्रयोग के सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में सर्वथा सत्य है। जिन वेद-मन्त्रों को महीधर आदि द्वारा अश्लील एवं यज्ञपरक व्याख्याएँ की गई थीं उन्हीं वेद-मन्त्रों की वैज्ञानिक तथा शिल्पपरक व्याख्या करके दयानन्द ने विश्व के समक्ष इस सत्य का प्रतिपादन कर दिया कि वेदों में जो विज्ञान निहित है, पाश्चात्य वैज्ञानिक अभी उसका शतांश भी आविष्कार नहीं कर सके हैं। भारतीयों को परमुखापेक्षी होने की आवश्यकता नहीं है।

स्वामी दयानन्द ने राज्य के आय-व्यय (बजट) तथा करारोपण के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, वह वर्त्तमान युग में भी अनुपालनीय है। उन्होंने एक कुशल अर्थशास्त्री की भाँति एक ओर जहाँ श्रम-विभाजन, व्यवसाय, मूल्य, उत्पादन, उपभोग, वितरण, विनिमय, उपभोक्ता की प्रभुसत्ता, माँग के नियम, ब्याज तथा नियोजन जैसे आधुनिक सिद्धान्तों पर विचार किया है, वहीं दूसरी ओर कृषि-वैज्ञा-

निक की भाँति भूमि-परीक्षण, बीज-शोधन, उर्वरकों के प्रयोग, नहर आदि सिंचाई के साधन के साथ-साथ कृषि के तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता पर भी बल दिया है। राष्ट्रीय आय, रोजगार तथा सहकारिता जैसे अर्थशास्त्र के सिद्धान्त भी उनके आर्थिक चिन्तन की विशेषता है। मानवता के अवमूल्यन और भौतिक विकार को दृष्टि में रखते हुए दयानन्द ने जीवन को समग्रता की दृष्टि से देखा, जिसमें सार्वजनिक कल्याण को ही आर्थिक लक्ष्य माना गया है। दयानन्द ने एक ऐसे गतिशील अर्थशास्त्र के दर्शन को जन्म दिया, जो भाग्यवादिता का विरोधी तथा धर्मपूर्वक धन-संग्रह का समर्थन करता है। इनके अर्थ-व्यवस्था के सिद्धान्त में वर्ग-संघर्ष जैसी आधुनिक कुप्रवृत्तियों एवं शोषण का अभाव है। दयानन्द की आर्थिक नीतियाँ व्यावहारिक, यथार्थपरक तथा वैदिक विरासत से प्रसूत हैं। अंग्रेज जिन मुक्त हाथों से भारत का धन लूट कर इंग्लैण्ड का खजाना भर रहे थे और भारतीयों को हेय दृष्टि से देखते थे, उसी की प्रतिक्रिया ने दयानन्द के आर्थिक विचारों को आन्दोलित किया था। भारतीयों की निर्धनता की समस्या के समाधान हेतु दयानन्द ने वैदिक वैज्ञानिकता का सम्बल प्रदान किया है।

पाद टिप्पणियाँ :

1. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय—महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र भाग 1, भूमिका—पृ० 3
2. भवानीलाल भारतीय—नवजागरण के पुरोधा—पृ० 372-373
3. ऋ० भा० भू०—पृ० 242
4. सं० वि०—पृ० 222 (मनु० 4.156)
5. स० प्र०—पृ० 233
6. सं० वि०—पृ० 221 (मनु० 7.137)
7. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (बम्बई-प्रवचन सं० 7)—पृ० 495 तथा आर्यो०—पृ० 8

8 ऋ० द० स० के शा० और प्र० (शास्त्रार्थ-बरेली)—पृ० 156

9. यजु० भा०—23.18

10. ऋ० भा०—5.41.14

11. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन सं० 8) पृ० 368 (मनु० 1.90) तथा गीता—18.44, स० प्र०—पृ० 61; सं० वि०—पृ० 219 तथा ऋ० भा० भू० पृ० 112, 134

12. ऋ० भा०—3.19.13

13. स० प्र० —पृ० 102 (मनु० 7128)

14. ऋ० भा० भू०—पृ० 359

15. स० प्र० —पृ० 102 (मनु० 7.136)

16. वही —पृ० 102 (मनु० 7.112)

17. वही—पृ० 108 (मनु० 7,130)

18. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 631 (दिनचर्या नियम सं० 29) तथा स० प्र० - पृ० 102 (मनु० 7.128)

19. स० प्र०—पृ० 101 ((मनु० 7.106)

20. वही —पृ० 102 (मनु० 7.129)

21. सत्यकेतु विद्यालंकार (सं०) आर्य समाज का इतिहास—भाग 4, पृ० 37

22. स० प्र०—पृ० 98 (मनु० 7.80) तथा पृ० 102 (मनु० 7.129)

23, वही—पृ० 108 (मनु० 7.130)

24. वही—पृ० 108 (मनु० 7.130)

25. वही—पृ० 114 (मनु० 8.157)

26. वही —पृ० 100 (मनु० 7.99) तथा सं० वि०—पृ० 193 (मनु० 7.101); ऋ० भा० भू०—पृ० 112; आर्यो०—पृ० 9 पत्र-विज्ञापन—भाग 2, पृ० 630 (दिन-चर्या-नियम सं० 20)

27. कर प्रयोजन हेतु निम्न वेद मन्त्र द्रष्टव्य हैं :—

ऋ० भा०—1.116.15—" .....जो प्रजाजनों से कर लिया जाता है, उसका बदला देना उन प्रजाजनों की रक्षा करना ही समझना

चाहिए।" ऋ० भा०—7.19.6—"हे राजजनों ! यदि आप लोग कर देने वालों का पालन न्याय से करें और शरीर से, धन से और मन से प्रजाजनों की उन्नति करें, तो कुछ भी ऐश्वर्य अलभ्य न हो।" यजु० भा०—23.28—"·····राजा और राजपुरुष थोड़े भी कर के लाभ में न्यायपूर्वक प्रीति के साथ वर्त्तें।"

यजु० भा०—33.11—"·····जैसे सूर्य जलादि को आकर्षण कर वर्षा करके सब की रक्षा करता है, वैसे राजा प्रजाओं से करों को ले, दुर्भिक्ष काल में फिर दे।"

28. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 628
29. वही—पृ० 631 (दिनचर्या नियम सं० 33)
30. वही—पृ० 630 (दिनचर्या के नियम सं० 21)
31. वही—पृ० 632 (दिनचर्या के नियम सं० 39)
32. वही—पृ० 632 (दिनचर्या के नियम सं० 40)
33. स० प्र०—पृ० 69
34. व्यवहार०—48
35. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 798
36. वही—पृ० 631 (दिनचर्या के नियम सं० 34)
37. वही—पृ० 631 (दिनचर्या के नियम सं० 35)
38. वही—पृ० 631-632 (दिनचर्या के नियम सं० 36)
39. वही—पृ० 632 (दिनचर्या के नियम सं० 37)
40. स्वामी सत्यानन्द—श्री मद्दयानन्द प्रकाश—पृ० 15
41. ऋ० भा० 1.1.1, 1.10.4, 1.3.10, 1.44.3, 3.32.5 3.35.7 आदि।
42. स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती—आर्य समाज संघर्ष और समस्याएँ पृ० 183
43. सं० वि०—पृ० 116
44. स० प्र० पृ० 47
45. वही—पृ० 51

46. ऋ० भा०—1.64.1—15 (सम्पूर्ण सूक्त)

47. ऋ० भा०—1.65.1—15 पूरा सूक्त, 2.2.3, 2.4.2—4, 2.10.3, 3.2.1—5, 5.6.1—7, 5.14.1, 5.1.425

यजु० भा०—2 15, 11.25, 11.32, 15.26, 27.14, 29.1 आदि।

पदार्थ-विद्या के सम्बन्ध में निम्न वेद-मन्त्र द्रष्टव्य हैं—

ऋ० भा० 1.12.1, 1.17.2, 1.20.5, 1. 2.14, 1.23.3, 1.25.7, 1.30.1, 1.3019, 1.107,1, 2.13.12, 4.17.14, 6.46.1. 6.54.4 तथा यजु० भा०—1. 8, 1.9, 6.20 आदि।

48. स० प्र० पृ० 114 तथा पूना-प्रवचन सं० 3 पृ० 283

49. वही—पृ० 204

50. वही—पृ० 179

51. ऋ० द० स० के शा० और प्र०—(पूना-प्रवचन सं० 5) पृ० 369

52. वही—(पूना-प्रवचन सं० 3) पृ० 309-310

53. पं० रघुनन्दन शर्मा—वैदिक सम्पत्ति—पृ० 315

54. ऋ० भा० भू०—पृ० 212

55. वही—पृ० 213

56. वही—पृ० 214

57. वही—पृ० 212

58. यही—पृ० 216-217

59. वही—पृ० 212

60. सं० बा० प्र०—पृ० 10

61. ऋ० भा० भू०—पृ० 218-219

62. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय—आदर्श सुधारक दयानन्द—पृ० 78

63. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 1, पृ० 450

64. वही—पृ० 379-380

65. अर्मनी से प्रो० जी० वाइज ने स्वामी दयानन्द को क्रमशः निम्नतिथियों में नौ पत्र लिखे—

1—27 जून, 1880 ई० को, 2—29 जून, 1880 ई०, 3—30 जून 1880 ई०, 4—10 जुलाई, 1880 ई०; 5—7 अगस्त, 1880 ई०, 6—30 सितम्बर 1880 ई०, 7—30 सितम्बर, 1880 ई०, 8—10 अक्टूबर 1880 ई०, 9—17 अक्टूबर 1880 ई० को।

66. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 1, पृ० 379-380 तथा भाग 3, पृ० 87 94, 95-98

67. वही—भाग 1, पृ० 403

68. वेदवाणी—वर्ष 41, अंक 4, 1 फरवरी 1989, ऋ० द० का पत्र-व्यवहार अनुवादक एवं सम्पादक डॉ० भवानी लाल भारतीय पृ० 80

69. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 3, पृ० 65-66 (प्राक्कथन, युधिष्ठिर मीमांसक)

70. वही—भाग 3, पृ० 306-307 तथा भाग 4, पृ० 536

71. राधेश्याम पारीक—कान्ट्रीब्यूशन ऑफ आर्य समाज इन दि मेकिंग ऑफ माडर्न इण्डिया—पृ० 218

72. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (बम्बई प्रवचन सं० 20) पृ० 508

73. स० प्र०—पृ० 179-180

74. वही—पृ० 114 (मनु० 8, 406)

75. सं० वा० प्र०—पृ० 15, 13

76. व्य० भा०—पृ० 39-42

77. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (बम्बई-प्रवचन सं० 20) पृ० 509-510

78. स० प्र०—पृ० 61, (मनु० 1.90)

79. सं० वा० प्र०—पृ० 15

80. वही—पृ० 20-21

81. आर्याभि०—पृ० 155 (यजु० 38 14)

82. गोकरुणा०—पृ० 10

83. भवानीलाल भारतीय-नवजागरण के पुरोधा०—पृ० 486

84. ऋ० भा० भू०—पृ० 50 (शत० 5. 3. 5. 17)

85. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 756-757

86. वही—पृ० 780

87. गोकरुणा०—पृ० 10

88. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 688-689

89. सं० वा० प्र०—पृ० 18

90. सं० वि०—पृ० 205

91. गोकरुणा०—पृ० 4-5

92. ऋ० भा० भू०--पृ० 131

93. पशु-रक्षा के सम्बन्ध में वेद-मन्त्र द्रष्टव्य :

यजु० भा०—13.49—"..... जो जन इन उपकारक पशुओं को मारें, उनको राजादि न्यायाधीश अत्यन्त दण्ड देवें और जो जंगल में रहने वाले नील गाय आदि प्रजा की हानि करें, वे मारने योग्य हैं।"

यजु० भा०—16 47 "जो राजा और प्रजा के पुरुष हैं, वे प्रजा के पशुओं को कभी न मारें।"

यजु० भा०—22 5—"जो मनुष्य उत्तम पशुओं के मारने की इच्छा करते हैं, वे सिंह के समान मारने चाहिए।"

यजु० भा० —25.35—"जो घोड़े आदि उत्तम पशुओं का मांस खाना चाहें, वे राजा आदि श्रेष्ठ पुरुषों को रोकने चाहिए।"

94. स० प्र०—पृ० 182

95. ऋ० द० स० के शा० और प्र०—(पूना-प्रवचन सं० 7) पृ० 347 तथा बम्बई-प्रवचन सं० 6—पृ० 491

96. गोकरुणा—पृ० 6

97. स० प्र०—पृ० 278

98. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (बम्बई-प्रवचन सं० 6) पृ० 493

99. स० प्र० —पृ० 194

100. भवानी लाल भारतीय-नवजागरण के पुरोधा०—पृ० 485

101. जे० टी० एफ० जोर्डन्स —द० स० हिज लाइफ एण्ड आइडियाज—पृ० 219 ; इन्द्र विद्यावाचस्पति—म० द० का जीवन चरित्र—पृ० 39 ; भवानी लाल भारतीय-नवजागरण के पुरोधा—पृ० 73

102. ऋ० द० स० के प० और वि० भाग 1, पृ० 485 (पूर्ण सं० 437)
वही—पृ० 485 (पूर्ण सं० 438) तथा भाग 2, पृ० 503, 522 523
103. वही—भाग 4, पृ० 625 (पं० युधिष्ठिर मीमांसकजी का मत)
104. वही—भाग 2, पृ० 561
105. वही—भाग 2, पृ० 537, 558, 757, भाग 3, पृ० 446, 460-461
106. वही—भाग 2, पृ० 527, 727, 747-748
107. वही—भाग 2, पृ० 583, 60[illegible], 603, भाग 3, पृ० 245, 246
108. वही—भाग 3, पृ० 254
109. वही—भाग 3, पृ० 276
110. वही—भाग 3, पृ० 276
111. वही—भाग 3, पृ० 293
112. वही—भाग 2, पृ० 637
113. भवानी लाल भारतीय-नवजागरण के पुरोधा—पृ० 350, 384
114. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 558, 559
115. वही—भाग 4, पृ० 51
116. वही—भाग 3, पृ० 162
117. सत्यकेतु विद्यालंकार (सं०) आर्य समाज का इतिहास, भाग 4, पृ० 252
118. वही—पृ० 253
119. गोकरुणा०—पृ० 5
120. वही—पृ० 5
121. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 1, पृ० 450
122. स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती-आर्य समाज सिद्धान्त और प्रगति पृ० 193
123. स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती-आर्य समाज संघर्ष और समस्याएँ पृ० 183

—: o :—]

अध्याय 12

: स्वामी दयानन्द का राष्ट्रवाद :

आधुनिक राजनीतिक चिन्तन में राष्ट्रवाद की अवधारणा का महत्वपूर्ण स्थान है। राष्ट्रवाद इतिहास की देन है। यह राष्ट्र के प्रति मानव की सर्वोच्च भक्ति का प्रतीक है। राष्ट्रवाद वह भावनात्मक तत्व है, जिसका प्रभाव सर्वव्यापक है। यह विश्व-शांति, युद्ध, राज्यों के विकास तथा पराधीन राज्यों की मुक्ति का प्रमुख आधार होता है। संक्षेप में, राष्ट्रवाद 'मानव का दूसरा धर्म' है। यह देश, धर्म, जाति, सभ्यता, संस्कृति, इतिहास, भाषा, परम्परा एवं राजनीतिक संगठन के ऐक्य का प्रतीक है।[1] वस्तुतः, राष्ट्र एक अवस्था है और राष्ट्रवाद उस अवस्था की साथेकता है। राष्ट्रीयता उक्त अवस्था की भावना है।[2] इस प्रकार कहा जा सकता है कि मानववाद, मानवधर्म और राष्ट्रीय इतिहास के निर्देशक तत्व का दूसरा नाम ही राष्ट्रवाद है, जिसकी परिभाषा करने का तात्पर्य है उसे निश्चल और कठोर बना देना।

कतिपय पौर्वात्य तथा पाश्चात्य विद्वानों में यह भ्रम व्याप्त है कि भारत में राष्ट्रवाद विषयक चिन्तन का प्रारम्भ पाश्चात्य चिन्तन के प्रभाव से ही हुआ है। आपाततः, यह सत्य भी प्रतीत होता है। परन्तु, यदि भारतीय राष्ट्रवादी चिन्तन की मूल प्रवृत्तियों का सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाय, तो स्पष्टतः यह ज्ञात होता है कि भारतीय पुनर्जागरण के काल में स्वामी दयानन्द सरस्वती एक ऐसे विचारक हैं, जिन्होंने विशुद्ध भारतीय राष्ट्रवाद का प्रतिपादन किया है। उनके राष्ट्रवाद की सर्वोत्कृष्ट विशिष्टता यह है कि उन्होंने किसी विदेशी

विचारधारा के आश्रय के बिना ही भारतीयों को वैदिक राष्ट्रवाद से ओत-प्रोत कर दिया है। इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए इण्डियन नेशनल कांग्रेस के सन् 1912 ई० के अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में पं० विशन नारायण दर ने कहा था कि, "स्वामी दयानन्द अपने युग के सर्वाधिक मौलिक हिन्दू हैं। वे ही प्रथम भारतीय सुधारक हैं, जो पश्चिमी संस्कृति से कुछ भी ग्रहण नहीं करते।" लाला लाजपत राय ने भी स्वामी दयानन्द के चिन्तन के इसी गुण का उल्लेख करते हुए प्रसन्नता व्यक्त की है कि, "हमको इस बात का अभिमान है कि स्वामी जी ने किसी विदेशी से किसी प्रकार की शिक्षा नहीं पायी ..... अपने ही पूर्व पुरुषों की शिक्षा से ही देश और जाति के रोग की औषधि ढूँढ़ी और पायी।"[4] इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी दयानन्द का राष्ट्रवाद भारतीय दर्शन पर आधारित है तथा उस पर किसी परदेशी विचारधारा का रंचमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा है।

उल्लेखनीय है कि स्वामी दयानन्द के समकालिक राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, न्यायमूर्ति महागोविन्द रान डे आदि सामाजिक एवं धार्मिक सुधारकों तथा विचारकों के चिन्तन को विशुद्ध भारतीय नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि एक ओर इनका चिन्तन पाश्चात्य शिक्षा, धर्म एवं संस्कृति से प्रभावित था, तो दूसरी ओर इन लोगों ने अंग्रेजी शासन को भारत एवं भारतीयों की उन्नति-हेतु ईश्वर का वरदान भी माना है।[5] दयानन्द के अनुवर्ती स्वामी विवेकानन्द ने भी अंग्रेजों की शासन-व्यवस्था एवं उपलब्धियों का बखान करते हुए कहा है कि, "अंग्रेजों के आधिपत्य में इन दिनों बड़े ही वेग से नाना प्रकार के भाव और रीति-रिवाज सारे (भारत) देश में फैल रहे हैं। मैं कहता हूँ—अमृत आ रहा है।"[6] यही नहीं, अपितु कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन (सन् 1885 ई०) के प्रधान श्री उमेशचन्द्र बनर्जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में ब्रिटिश-व्यवस्था का यशोगान करते हुए कहा था कि, "..... ग्रेट ब्रिटेन ने हमें शान्ति और व्यवस्था प्रदान की है। उसने

हमें रेलवे दी है और सबसे बढ़कर उसने हमें पाश्चात्य शिक्षा का अमूल्य वरदान दिया है.....।"[7] यहाँ पर यह संकेत करना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि जिस पाश्चात्य शिक्षा का उमेशचन्द्र बनर्जी ने अमूल्य वरदान स्वीकार किया है, वह लार्ड मैकॉले की ऐसी शिक्षा-व्यवस्था थी जिसका उद्देश्य भारतीयों को आचार-विचार तथा रीति-नीति में अंग्रेज बनाना था। मैकॉले ने सन् 1836 में अपने पिता को एक पत्र में अपनी शिक्षा के प्रयोजन के सम्बन्ध में लिखा था कि, "यह मेरा सुनिश्चित विश्वास है कि यदि हमारी यह शिक्षा-योजना क्रियान्वित की गई, तो तीस वर्ष पश्चात् बंगाल के कुलीन घरानों में कोई मूर्त्तिपूजक (हिन्दू) नहीं रहेगा।"[8] इस प्रकार मैकॉले की शिक्षा-योजना के परिप्रेक्ष्य में क्या हम अंग्रेजी शिक्षा के समर्थक भारतीय समाज और धर्मसुधारकों तथा राजनेताओं को विशुद्ध भारतीय राष्ट्रवाद के जनक या प्रेरक की संज्ञा को तर्कसंगत मान सकते हैं ?

इन सबके विपरीत स्वामी दयानन्द को ही भारतीय राष्ट्रवाद का जनक मानना श्रेयस्कर है। श्री अरविन्द की मान्यता है कि—भूत की संजीवनी-शक्ति को धारण कर वर्त्तमान की धारा में प्रवाहित कर देना ही पुनरुद्धार एवं नव निर्माण का सर्वाधिक शक्तिशाली साधन है। अपनी उक्त मान्यता के आधार पर ही अरविन्द ने यह लिखा है कि, "दयानन्द का कार्य वर्त्तमान साँचे में जीवन भरने के लिए भूत के तत्त्वों और भावनाओं को फिर से लाता है।"[9] स्वामी दयानन्द के राष्ट्रवादी चिन्तन के सम्बन्ध में पाश्चात्य विचारकों ने भी स्थान-स्थान पर अपनी विभिन्न समीक्षाएँ प्रस्तुत की हैं। उदाहरणार्थ, मैक्समूलर का मत है कि, "दयानन्द की धार्मिक शिक्षाओं में भी सशक्त राष्ट्रीय अनुभूति है।"[10] स्वामी दयानन्द द्वारा 'सत्यार्थ प्रकाश' के तेरहवें समुल्लास में की गई ईसाईयत की उग्र आलोचना को देखकर आस्ट्रेलिया के राष्ट्रीय विश्वविद्यालय, केनबरा के प्रो० जे० टी० एफ० जोर्डन्स ने उसे 'नवीन आक्रमणात्मक राष्ट्रवाद' की संज्ञा दी है।[11] इसी प्रकार कनाडा

'विश्वविद्यालय के प्रो० एन्थोनी पार्ल ने स्वामी दयानन्द को भारतीय राष्ट्रवादियों में सर्वाधिक आधिकारिक राष्ट्रवादी स्वीकार किया है।[12] यही नहीं, अपितु प्रसिद्ध अमरीकी विद्वान् एण्ड्रो जैक्सन डेविस ने दयानन्द की राष्ट्रवादी विचारधारा को 'सनातन आर्य-धर्म की अग्नि' कहा है।[13]

भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के उपर्युक्त कथन स्वामी दयानन्द के राष्ट्रवाद विषयक सुदृढ़, गम्भीर एवं विशुद्ध वैदिक विचारों के स्पष्ट प्रमाण हैं। दयानन्द स्वधर्म, स्वसंस्कृति, स्वदेश, स्वराज्य एवं स्वभाषा के उपासक थे। उन्होंने भारत के गौरवशाली अतीत के पुनराख्यान द्वारा भारतीयों के लुप्तप्राय आत्मविश्वास, आत्मावलम्बन, आत्मगौरव, आत्मनिर्भरता एवं अस्मिता को उद्बुद्ध कर वेदों द्वारा स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व एवं न्याय का संदेश दिया है। दयानन्द समग्र रूप में भारतीय राष्ट्रवाद के जनक हैं। उनके राष्ट्रवाद के महत्त्वपूर्ण उपादान इस प्रकार हैं :

(अ) स्वदेशी :

स्वामी दयानन्द के काल में अंग्रेजों की शोषणवादी रीति-नीति के फलस्वरूप भारत विश्व के सर्वाधिक निर्धन देशों में परिगणित होने लगा था। लार्ड मैकॉले ने स्वयं लिखा है कि, "अंग्रेजों के काल में भारत से धन समुद्रों में बह-बहकर विलायत को जा रहा था।"[14] ब्रिटिश संसद में 12 फरवरी, सन् 1858 में व्याख्यान देते हुए जार्ज कानवालिस ने अंग्रेजों के शोषण और आतंक का वर्णन करते हुए कहा था कि, "..... आज तक कोई शिष्ट राज्य इतना बेईमान, घातक तथा लूटने वाला न था, जितना कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राज्य.....।"[15] ब्रिटिश विचारकों एवं अधिकारियों के उक्त कथन से यह तथ्य एवं सत्य स्वतः सिद्ध हो जाता है कि महर्षि युगीन भारत की आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। यही नहीं, अपितु उस समय भारतीयों में विदेशी

भाषा, संस्कृति, आचार-विचार एवं वस्तुओं के उपयोग की इस प्रकार होड़ मची थी कि स्वेदेशी चिन्तन एवं वस्तुओं की पूर्णरूपेण उपेक्षा हो रही थी।[14] अगस्त, सन् 1879 के 'स्टेट्समैन' नामक अंग्रेजी समाचार पत्र ने भारतीयों के अनुकरण-वृत्ति का उल्लेख करते हुए लिखा था कि, "....भारत के निवासी प्रायः मैनचेस्टर में बने सूती वस्त्र धारण करते हैं, बच्चे इंगलिश और फ्रेन्च खिलौनों से खेलते हैं, मुन्शी लोग विदेशी कागज को लिखने के काम में लाते हैं, बीमार विदेशी दवाओं का सेवन करते हैं, भारतीय विलायती गिलास से ब्रिटिश और फ्रेन्च ब्राण्डी पीते हैं.... ...।"[15] इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन भारतीयों की मानसिकता समग्र रूप से ईसाईयत की दास हो चुकी थी और स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग 'फैशन' के विरुद्ध समझा जा रहा था।

उपर्युक्त परिस्थिति में स्वामी दयानन्द ही वह व्यक्ति थे, जिन्होंने सर्वप्रथम स्वदेशी के उपयोग पर बल दिया। विदेशी चाकू से सेव काटते हुए अपने एक भक्त को दयानन्द ने समझाते हुए कहा था कि, "जब अपने देश का बना छः पैसे का चाकू यही काम कर सकता है, तो तुमने सवा रुपए का विदेशी चाकू मोल लेकर क्यों अपने देश का धन नष्ट किया ?"[17] स्वामी दयानन्द ने अपने समसामयिक ब्रह्मसमाज एवं प्रार्थना समाज के अनुकरणवादी प्रवृत्ति की भर्त्सना करते हुए अत्यन्त दुख के साथ लिखा है कि, "इन लोगों में स्वदेश-भक्ति बहुत न्यून है। ईसाइयों के आचरण बहुत से ले लिए हैं। खानपान, विवाहादि के नियम भी बदल दिए हैं। अपने देश की प्रशंसा वा पूर्वजों की बड़ाई करनी तो दूर रही उसके स्थान में पेट भर निन्दा करते हैं.....।"[18] स्वामी दयानन्द ने देशवासियों को स्वदेशी-प्रयोग की प्रेरणा देते हुए अंग्रेजों का उदाहरण देकर समझाया है कि, "देखो! अपने देश के बने हुए जूते को कार्यालय (आफिस) और कचहरियों में जाने देते हैं, इस देशी जूते को नहीं। इतने में ही समझ लेओ कि अपने देश के बने जूतों का भी कितना मान-प्रतिष्ठा करते हैं ... ...उन्होंने अपने देश का चाल-चलन

नहीं छोड़ा और तुम में से बहुत से लोगों ने उनका अनुकरण कर लिया। इसी से तुम निर्बुद्धि और वे बुद्धिमान् ठहरते हैं.....।"[19] इसी सन्दर्भ में महर्षि ने यह आग्रह किया कि, "हम और आप को उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है और आगे भी होगा, उसकी तन, मन, धन से सब मिलकर प्रीति से (सेवा) करें।"[20]

स्वामी दयानन्द के उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि उन्होंने स्वदेशी के ग्रहण को देश की सच्ची सेवा और प्रत्येक व्यक्ति का परमधर्म माना है। उनके द्वारा स्वदेशी के प्रयोग पर बल देने का कारण मात्र आर्थिक ही नहीं, अपितु, राजनीतिक भी था। वे इसके द्वारा देशवासियों में राष्ट्रीयता की भावना को जागृत करना चाहते थे। इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए सन् 1901 में मि० बर्न ने भी कहा था कि, "महर्षि को आशंका थी कि वे देशवासियों की जिस राष्ट्रीय भावना को जागृत करना चाहते थे, उसे इस्लाम और ईसाईयत जैसे विदेशी धर्मों के अपनाने से ठेस पहुँचेगी।"[21] इसी मन्तव्य के पोषण का दयानन्द सर्वदा प्रयास करते रहे। एक बार मुरादाबाद में स्वामी जो ने दर्शनार्थ आए हुए ठाकुर भूपाल सिंह के पुत्र ऊधो सिंह को विदेशी वस्त्रों से सुसज्जित देखकर नम्रता पूर्वक समझाया था कि ऐसा करके वे भारतीय कारीगरों और उद्यमियों की जीविका और देश की अर्थ-व्यवस्था को क्षति पहुँचा रहे हैं, उन्हें स्वदेशी वस्त्रों एवं वस्तुओं का ही उपयोग करना चाहिए।[22]

स्वामी दयानन्द ने स्वदेशी के प्रयोग-हेतु अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में महाराणाओं की धरती पर सुधार-कार्य करते हुए जोधपुर-नरेश यशवन्त सिंह तथा उनके अनुज कर्नल प्रताप सिंह को उपदेश दिया जिसका अपेक्षित प्रभाव भी पड़ा। स्वयं महाराज यशवन्त सिंह, उनके राज्य के कर्मचारी, पदाधिकारी तथा अभिजन वर्ग के लोग मारवाड़ में तैयार खादी-वस्त्रों का प्रयोग करने लगे।[23] कर्नल प्रताप सिंह द्वारा

ज्येष्ठ कृष्ण 4, वि० 1914 को निर्गत आदेशानुसार राज्य-कर्मचारियों के लिए खादी पहनना अनिवार्य कर दिया गया था। नागौर जिले के मारोठ ग्राम में निर्मित मोटी खादी, जिसे वहाँ 'रेजा' कहा जाता है, सैनिकों के पोशाक के काम में लायी जाने लगी।[24] स्वामी दयानन्द की शिक्षाओं का ही परिणाम था कि आर्यसमाज, लाहौर के सदस्यों द्वारा स्वदेश में निर्मित वस्त्रों के प्रयोग का सामूहिक रूप से निर्णय लिया गया,[25] लाहौर में ही सर्वप्रथम स्वदेशी वस्तुओं की दुकान खोली गई तथा डी० ए० वी० कालेज, लाहौर स्वदेशी-आन्दोलन का केन्द्र बन गया।[26] यही कारण है कि भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने महात्मा गाँधी के स्वदेशी-आन्दोलन के आधार का श्रेय दयानन्द के विचारों को देते हुए कहा था कि, "स्वामी दयानन्द ने अपने आश्चर्यजनक भविष्यदर्शी दृष्टि द्वारा हस्त निर्मित वस्त्रों एवं अन्य स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग का जो विचार प्रस्तुत किया, उसे ही पचास वर्ष के पश्चात् महात्मा गाँधी ने स्वतन्त्रता संग्राम का एक मुख्य मुद्दा बनाया।"[27] इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी दयानन्द के स्वदेशी-प्रयोग सम्बन्धी विचार ही कालान्तर में स्वतन्त्रता-संग्राम-सेनानियों का प्रेरणा-स्रोत बना।

ध्यातव्य है कि भारत के राजनीतिक इतिहास में सामान्यतः स्वदेशी-आन्दोलन का प्रारम्भ सन् 1905 ई० के बंग-भंग से माना जाता है। परन्तु, स्वामी दयानन्द ने बंग-भंग से लगभग तीस-पैंतीस वर्ष पूर्व ही स्वदेशी-आन्दोलन का श्री गणेश प्रभावशाली ढंग से कर दिया था। उनका स्वदेशी-प्रयोग का यह अभियान राजनीतिक स्वदेशी-आन्दोलन की भाँति मात्र विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तक ही सीमित न हो कर स्वभाषा के रूप में हिन्दी, स्वसंस्कृति, स्वदेश, स्वराज्य, स्वशासन, स्वधर्म (वैदिक) एवं स्वसभ्यता के प्रयोग तक विस्तृत था। दयानन्द मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भारतीय मानदण्डों एवं मूल्यों के प्रयोग के पक्ष-धर थे। उनके द्वारा प्रारम्भ किए गए स्वदेशी-आन्दोलन का सर्वोपरि लक्ष्य भारतीयों में अस्मिता-बोध कराते हुए ब्रिटिश उपनिवेशवाद की

विरोधी भावनाओं एवं शक्तियों को जागृत करना था। उन्नीसवीं शताब्दी में दयानन्द द्वारा स्वदेशी का उद्घोष आश्चर्यजनक एवं अभूतपूर्व था।

(ब) स्वभाषा (आर्य-भाषा हिन्दी) :

किसी भी देश की राष्ट्रीय एकता का मूलमन्त्र उस देश की राष्ट्र-भाषा, राष्ट्र-धर्म, और राष्ट्र-संस्कृति में निहित होता है। सम्भवतः, इसीलिए वेदों में राष्ट्रीय यज्ञों के लिए मातृभाषा, मातृभूमि तथा मातृसंस्कृति के रूप में इडा, भारती और सरस्वती नामक तीन देवियों की कल्पना की गई है। यही नहीं, अपितु स्वतन्त्र भारत के संविधान की धारा 343 (1) में, "देवनागरी-लिपि में लिखित हिन्दी, संघ की राज-भाषा होगी"[28] लिखकर हिन्दी को राष्ट्र-भाषा-पद के लिए अधिकृत भी किया गया है। परन्तु, स्वतन्त्रता के इतने वर्ष व्यतीत होने तथा संवैधानिक अधिकार प्राप्त होने के पश्चात् भी हिन्दी को राष्ट्र-भाषा-पद पर अद्यावधि प्रतिष्ठित नहीं किया जा सका है, जिसका प्रधान कारण हम भारतीयों की मानसिक दासता और राजनेताओं की तुष्टीकरण की नीति ही है।

दयानन्द के पूर्व हिन्दी की स्थिति :

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हिन्दी-उर्दू का पृथक्-पृथक् रूप में स्वतन्त्र विकास हो रहा था। सन् 1836 ई० में भारतवासियों की सुविधा हेतु कम्पनी-सरकार द्वारा हिन्दी को कार्यालयों की भाषा बना दिया गया था। परन्तु, सर सैय्यद अहमद जैसे कतिपय उर्दू-समर्थक मुस्लिमों ने हिन्दी को 'गँवारीबोली' कहकर उसके प्रयोग का तीव्र प्रतिवाद प्रारम्भ कर दिया। यही नहीं, अपितु फ्रान्सीसी विद्वान् गार्सा-द-तासी ने भी हिन्दी का विरोध करते हुए कहा कि, "हिन्दी में हिन्दू-धर्म का आभास है। वह हिन्दू-धर्म जिसके मूल में बुतपरस्ती और उसके आनुषंगिक विधान हैं.....।"[29] इस प्रकार के विरोधों के फलस्वरूप

मात्र एक वर्ष के पश्चात् ही सन् 1837 ई० में अंग्रेजी सरकार द्वारा उर्दू को सरकारी कार्यालयों की भाषा बना दिया गया और यह सूचना निकाल दी गई कि, "ऐसी भाषा को जानना, सब विद्यार्थियों के लिए आवश्यक ठहराना, जो मुल्क की सरकारी और दफ्तरी जबान नहीं है, हमारी राय में ठीक नहीं है।"[30] इसी क्रम में सन् 1868 ई० में संयुक्त प्रान्त के शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष हैवेल ने भी अपना मत व्यक्त कर दिया कि, "यह अधिक अच्छा होता, यदि बच्चों को उर्दू सिखायी जाती, न कि ऐसी बोली में विचार प्रकट करने का अभ्यास कराया जाता, जिसे अन्त में एक दिन उर्दू के सामने सिर झुकाना पड़ेगा।"[31] इस प्रकार मुस्लिमों के विरोध के कारण सत्ता-लोभी सरकार द्वारा उर्दू को राजकीय काम-काज की भाषा का दर्जा प्रदान कर दिया गया।

हिन्दू-उर्दू के इसी संघर्ष-काल में हिन्दी क्षेत्र में शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' का प्रादुर्भाव हुआ, परन्तु दुर्भाग्यवश उन्हें हिन्दी-रक्षा की अपेक्षा अंग्रेजों की प्रसन्नता की अधिक चिन्ता थी। इस तथ्य की पुष्टि हेनरी पिनकॉट द्वारा 1 जनवरी, सन् 1884 को भारतेन्दु जी को लिखे एक पत्र से हो जाती है, जिसमें स्पष्ट रूप से यह उल्लिखित किया गया है कि, "..... .....राजा शिवप्रसाद बड़ा चतुर है..... .....इसलिए बड़े चाल से उसने काव्य को और अपनी हिन्दी-भाषा को भी बिना लाज छोड़ कर उर्दू के प्रचलित करने में बहुत उद्योग किया.....राजा शिवप्रसाद को अपना ही हित सबसे भारी बात है।"[32] राजा शिवप्रसाद की तुलना में उनके समसामयिक राजा लक्ष्मण सिंह द्वारा हिन्दी को संस्कृत-युक्त बनाने का सराहनीय प्रयास किया गया था। इसी समय 'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल; बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल' के शंख-ध्वनि-कर्त्ता बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के हिन्दी-रंग-मंच पर अवतीर्ण होने के साथ ही हिन्दी का सशक्त रूप से पक्ष प्रस्तुत होने लगा।

दयानन्द द्वारा हिन्दी-सेवा-व्रत :

स्वामी दयानन्द के काल में हिन्दी की पूर्णरूपेण उपेक्षा हो चुकी थी तथा उसके स्थान पर उर्दू और अंग्रेजी-भाषा का ही प्रयोग एवं प्रचलन सर्वत्र हो रहा था। पुनर्जागरण-काल के धर्म एवं समाज-सुधारकों ने भी अंग्रेजी-भाषा का पक्ष ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया था। देश के नवयुवक हिन्दी को अंग्रेजी और उर्दू की वेदी पर बलि-दान कर रहे थे। ऐसी विषम परिस्थिति में भारतीय नवजागरण के पुरोधा स्वामी दयानन्द ने आर्य भाषा हिन्दी का सेवा-व्रत लिया। इनका हिन्दी-व्रत इसलिए और भी महत्त्वपूर्ण है कि उनकी स्वयं की मातृ-भाषा गुजराती थी तथा शिक्षा-दीक्षा भी संस्कृत में ही हुई थी। हिन्दी-भाषा से उनका पूर्व का परिचय या संस्कार नहीं था। यही नहीं, अपितु हिन्दी भाषा का प्रयोग उन्होंने सार्वजनिक जीवन में पदार्पण करने के लगभग छः वर्ष पश्चात् (मई सन् 1874 ई०) प्रारम्भ किया। सन् 1867 से 1874 ई० के पूर्व तक उनके पठन-पाठन, उपदेश-प्रवचन एवं लेखन की भाषा संस्कृत थी। परन्तु, कालान्तर में उनके जीवन में कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं, जिनके परिणामस्वरूप उन्होंने लोक-भाषा हिन्दी के प्रयोग पर बल देना प्रारम्भ किया और यह विश्वास व्यक्त किया कि, "एक धर्म (वैदिक), एक भाषा (हिन्दी) और एक लक्ष्य (स्वराज्य) के बिना भारत का पूर्णहित और जातीय उन्नति का होना दुष्कर है। सब उन्नतियों का केन्द्र-स्थान ऐक्य है।"[33] स्वामी दयानन्द ने ईसाई मत में तो० पर्व 1।—आ० 1. 4, 5, 6, 7, 8 में वर्णित व्यवस्थाओं की समीक्षा करते हुए भाषा की एकता के सम्बन्ध में लिखा है कि, "जब सारी पृथ्वी पर एक भाषा और बोली होगी उस समय सब मनुष्यों को परस्पर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ होगा। परन्तु, क्या किया जाय, यह ईसाइयों के ईर्ष्यक ईश्वर ने सबकी भाषा गड़बड़ा के सबका सत्यानाश किया।"[34] इस कथन से स्पष्ट है कि ऋषि दयानन्द सम्पूर्ण विश्व में एक भाषा (आर्य-भाषा हिन्दी) के प्रयोग के पक्षधर थे।

दयानन्द द्वारा हिन्दी-सेवा के कारण :

स्वामी दयानन्द को हिन्दी-प्रयोग-हेतु प्रेरित करने वाले प्रमुख तीन कारण थे। प्रथमतः, सन् 1873 ई० में कलकत्ता-प्रवास-काल में स्वामी जी की भेंट ब्राह्म नेता केशव चन्द्र सेन से हुई। सेन महोदय द्वारा दयानन्द के अंग्रेजी भाषा के ज्ञान के अभाव पर दुख व्यक्त किए जाने पर ऋषि द्वारा अत्यन्त सहजतापूर्वक यह उत्तर दिया गया कि, "मुझे अपने अंग्रेजी न जानने का उतना शोक नहीं है, जितना आपके संस्कृत न जानने का।"[35] इस प्रत्युत्तर पर हतप्रभ सेन ने दयानन्द को जन सामान्य-हेतु संस्कृत की अपेक्षा अधिक सरल एवं बोधगम्य लोक-भाषा (हिन्दी) के प्रयोग का परामर्श दिया। इससे प्रभावित होकर दयानन्द ने उनके सुझाव पर गम्भीरता पूर्वक विचार प्रारम्भ कर दिया।[36] दूसरी घटना भी कलकत्ता की ही है। 23 फरवरी, सन् 1873 ई० में गोर चन्द्र दत्त के आवास पर दयानन्द द्वारा संस्कृत में दिए गए ईश्वर और धर्म विषयक व्याख्यान का त्रुटिपूर्ण बंगला भाषानुवाद महामहोपाध्याय पं० महेश चन्द्र न्यायरत्न, उपाचार्य, राजकीय संस्कृत कालेज, कलकत्ता द्वारा किया गया, जिस पर सुधी श्रोताओं ने अनेक आपत्तियाँ भी कीं। फलस्वरूप, दयानन्द ने संस्कृत की अपेक्षा हिन्दी में ही व्याख्यान देना श्रेयस्कर समझा।[37] राष्ट्रीय विश्वविद्यालय, केनबरा (आस्ट्रेलिया) के प्रो० जोर्डन्स ने उक्त दोनों कारणों (घटनाओं) के अतिरिक्त, स्वामी दयानन्द द्वारा हिन्दी-प्रयोग का एक अन्य कारण हिन्दी का राष्ट्रीय एकता में सहायक होना भी बताता है कि, "बनारस से लाहौर तथा बम्बई तक वे जहाँ भी गए, उन्होंने हिन्दी का व्यवहार किया। यह मात्र सुविधाजनक नीति ही नहीं थी... ...हिन्दी उनके लिए भारत में फूट डालने वाली प्रवृत्तियों पर विजय पाने का कारण भी थी। इससे विभिन्न जातियों तथा वर्गों में एकता को पुष्ट किया जा सकता था।"[38]

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट है कि दयानन्द ने देवनागरी

लिपि तथा हिन्दी-भाषा के प्रयोग का निर्णय इसलिए किया कि यह उन्हें व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी लगी। निश्चय ही जनसामान्य-हेतु संस्कृत क्लिष्ट एवं दुरूह थी तथा भारतीय राष्ट्रीय एकीकरण की दृष्टि से भी हिन्दी लोक-भाषा होने के कारण सर्वाधिक उपयुक्त थी।

(iv) दयानन्द द्वारा हिन्दी-प्रयोग :

अपने उपर्युक्त निर्णय के फलस्वरूप दयानन्द ने मई, सन् 1874 ई० में काशी में हिन्दी-भाषा में अपना प्रथम व्याख्यान दिया, परन्तु संस्कृत के अभ्यास और लोक-भाषा के अनभ्यास के कारण व्याख्यान में वाक्य के वाक्य संस्कृत में ही बोलते गए।[39] हिन्दी में व्याख्यान देने के साथ ही साथ दयानन्द ने हिन्दी-भाषा में लिखने का कार्य भी इसी वर्ष प्रारम्भ किया। उन्होंने राजा जयकृष्ण दास (डिप्युटी कलेक्टर ऑफ बनारस) के आग्रह पर 12 जून, सन् 1874 को राजा साहब द्वारा नियुक्त महाराष्ट्रीय पण्डित चन्द्रशेखर को अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' बोलकर लिखाना प्रारम्भ किया, जिसके प्रथम संस्करण का प्रकाशन सन् 1875 ई० में हुआ। इस समय तक भी स्वामी दयानन्द की भाषा परिमार्जित नहीं हो पायी थी। इस तथ्य को स्वयं महर्षि ने अपने उक्त ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण की 'भूमिका' में स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है कि, "जिस समय मैंने यह ग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश बनाया था, उस समय और उससे पूर्व संस्कृत भाषण करने, पठन-पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान नहीं था, इससे भाषा अशुद्ध बन गयी थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है, इसलिए इस ग्रन्थ की भाषा व्याकरणानुसार करके दूसरी बार छपवाया है।"[41] महर्षि को हिन्दी-भाषा का पूर्ण अभ्यास सन् 1876 में भी नहीं हो पाया था। 30 अप्रैल, सन् 1876 ई० में दयानन्द ने महाराजा इन्दौर नरेश तुकोजी राव को राजनीति के कुछ सिद्धान्त लिखकर दिए थे। स्वामीजी की हिन्दी उस काल तक शुद्ध नहीं थी। इसीलिए उन्होंने

अपना लेख रावजो वासुदेव टुल्लो, अध्यक्ष शिक्षा-विभाग, इन्दौर राज्य को शुद्ध कराने के लिए दे दिया था और उन्होंने मास्टर शम्भुदयाल से शुद्ध करवाया था।[42]

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ में स्वामी दयानन्द को हिन्दी बोलने और लिखने के लिए बहुत प्रयास करना पड़ा था। उनका आकस्मिक निधन सन् 1883 ई० में हो जाने से उनके द्वारा हिन्दी-सेवा का कार्य समाप्त हो गया। इस प्रकार स्वामी दयानन्द द्वारा हिन्दी की सेवा सन् 1874 से 1883 ई० के मात्र आठ या नौ वर्षीय अत्यल्प काल तक ही सम्भव हो सकी। परन्तु इस अल्पावधि में उन्होंने अपने समस्त व्याख्यान एवं उपदेश हिन्दी भाषा में दिए तथा लगभग साठ छोटी-बड़ी रचनाओं का प्रणयन भी हिन्दी में ही किया। इतने कम समय में हिन्दी की इतनी अधिक सेवा करने वाला अन्य कोई भी व्यक्ति उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दयानन्द के समान शायद ही हुआ हो।

स्वामी दयानन्द ने हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए स्वकृत वेद-भाष्यों एवं अन्य रचनाओं का दूसरी भाषाओं में अनुवाद कराये जाने का विरोध भी किया है। उन्हें अपने प्रचार की अपेक्षाकृत हिन्दी के प्रचार की चिन्ता अधिक थी। उनका मत था कि उनकी कृतियों का अंग्रेजी या उर्दू में अनुवाद किया गया तो इससे लोग संस्कृत और भाषा (हिन्दी) के अध्ययन में निरुत्साहित हो जाएँगे।[43] एक बार उन्होंने अपना उद्देश्य स्पष्ट करते हुए कहा था कि, "भाई मेरी आँखें तो उस दिन को तरस रही हैं, जब कश्मीर से कन्याकुमारी तक सब भारतीय एक भाषा (हिन्दी) को बोलने और समझने लगेंगे। .....अनुवाद तो विदेशियों के लिए हुआ करता है।"[44] उनकी यह मान्यता थी कि जो इस देश (आर्यावर्त्त) में जन्म लेकर अपनी भाषा को सीखने का परिश्रम नहीं कर सकता है, तो उससे और क्या आशा की जा सकती है।[45]

परन्तु, दयानन्द अनुवाद के पूर्णतया विरुद्ध नहीं थे। उनकी इच्छा थी कि 'गोकरुणानिधि' का अंग्रेजी-भाषा में अनुवाद करवा कर अंग्रेजों में विलायत तक भेजा जाय, जिसे पढ़कर वे पशु-हिंसा एवं मांस-भक्षण का त्याग कर दें। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि, "गोकरुणानिधि को इंगलिश में भाषान्तर कर देना ..... अंग्रेजी-भाषा होने से अन्य देश वालों को भी लाभ पहुंचेगा। यह तो सच है कि स्वकृत से पर कृत निर्बल होता है।"[46] इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी दयानन्द अनुवाद को मात्र देश-हित में ही स्वीकृति प्रदान करते हैं।

स्वामी दयानन्द का स्पष्ट विचार था कि जो व्यक्ति जिस देश की भाषा पढ़ता है, उसको उसी देश-भाषा का संस्कार हो जाता है।[47] अतः, समस्त भारतीयों को चाहिए कि वे अपनी मातृभाषा (हिन्दी) का प्रयोग करें। परन्तु, दयानन्द अन्य देशीय भाषाओं के अध्ययन को भी आवश्यक मानते हैं। उनका मत था कि, "भूगोल भर के परदेशी लोगों के तथा उनकी भाषा के ग्रन्थों में जो कुछ उत्तम ज्ञान मिले, उसे भी प्राप्त करना चाहिए और उनकी भी भाषा सीखनी पड़े, तो निस्संकोच सीखनी चाहिए।"[48] ऐसे भी साक्ष्य प्राप्त होते हैं कि स्वयं स्वामी दयानन्द हेली रचित आंग्लव्याकरण का अभ्यास उदयपुर में कर रहे थे।[49] इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि उदारचेता व्यक्ति थे, जिसके कारण उन्होंने हिन्दी-भाषा के साथ-साथ अन्य देश की भाषाओं एवं ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन करने की स्वीकृति प्रदान कर देश-चिन्तन का परिचय दिया है।

(v) दयानन्द द्वारा देवनागरी-लिपि के प्रयोग पर बल :

स्वामी दयानन्द ने देवनागरी-लिपि के विषय में बताया है कि, "इक्ष्वाकु के समय में लोग अक्षर-स्याही आदि लिखने की रीति को प्रचार में लाए ऐसा प्रतीत होता है जिस लिपि में वेद लिखे जाते थे, उस लिपि का नाम देवनागरी, ऐसा है, कारण, देव अर्थात् विद्वान्, इनका जो

नगर। ऐसे विद्वान् नागर लोगों ने अक्षर द्वारा अर्थ संकेत उत्पन्न करके ग्रन्थ लिखने का प्रचार प्रथम प्रारम्भ किया।[50] देवनारी का प्राचीन नाम ब्राह्मीलिपि है। इसका प्रथम निर्माण ब्रह्मदेव ने किया था। ब्रह्मा ने ब्राह्मीलिपि का निर्माण किया और उसका कार्य रूप में प्रचार इक्ष्वाकु के समय में हुआ।[51] देवनागरी-लिपि की शिक्षा के सम्बन्ध में महर्षि का कथन है कि, "जब पाँच-पाँच वर्ष के लड़का-लड़की हों, तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करावें।"[52] स्वामी दयानन्द ने पं० श्याम जी कृष्ण वर्मा को यह निर्देश दिया था कि उनके ग्रन्थों के ग्राहकों का पता नागरीलिपि में ही लिखा जाना चाहिए क्योंकि बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि अंग्रेजी में जब पता लिखता है, तो छेदी लाल को शादी लाल लिख देता है।[53] इससे स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि ने हिन्दी-भाषा एवं नागरी-लिपि के प्रयोग पर विशेष ध्यान दिया था।

महर्षि का मत था कि नागरी-लिपि अन्य प्रकार की लिपियों से सर्वथा श्रेष्ठ है। उन्होंने नागरी की श्रेष्ठता को एक प्रसिद्ध मौलबी और पादरी के समक्ष सिद्ध भी किया है। एक बार लिपि की श्रेष्ठता के निर्धारण-हेतु यह शर्त लगी कि अपनी-अपनी भाषा के कठिन से कठिन वाक्य सब बोलें और उन्हें जिस लिपि में ठीक-ठीक लिखा जा सके, वही लिपि श्रेष्ठ होगी। मौलबी तथा पादरी द्वारा स्वामी दयानन्द को जो भी वाक्य अरबी अथवा अंग्रेजी में सुनाए गए, उन्होंने सबको वैसे ही नागरी में लिख दिया। परन्तु, स्वामी जी ने जो शब्द कहे, वे अरबी और रोमन-लिपि में नहीं लिखे जा सके। वे शब्द थे—पाणिनि के प्रत्याहार सूत्रों में से एक 'अ म् ङ ण न म्।'[54] स्वामी दयानन्द की उक्त युक्ति से स्पष्ट हो जाता है कि वे भाषा और नागरी लिपि के प्रयोग तथा प्रसार के लिए अहर्निश प्रयत्नशील थे।

(vi) दयानन्द और हण्टर-भाषा-आयोग :

स्वामी दयानन्द ने हिन्दी-भाषा और देवनागरी-लिपि का सामान्य जनता में ही प्रचार-प्रसार नहीं किया है, अपितु उन्होंने हिन्दी को

राज-भाषा के गरिमामय पद पर प्रतिष्ठित करवाने के लिए सन् 1882 ई० के आरम्भ में, भाषा-निर्धारण हेतु गठित हण्टर-आयोग को विभिन्न आर्यसमाजों के माध्यम से हस्ताक्षर-युक्त-ज्ञापन-पत्र प्रेषित करवाने का भी स्तुत्य कार्य किया है। मुलतान आर्य समाज के मन्त्री मास्टर दयाराम द्वारा भाषा-आयोग के सम्बन्ध में पत्र लिखे जाने पर स्वामी दयानन्द ने प्रत्युत्तर में 24 मार्च, 1882 ई० को दयाराम को एक पत्र में लिखा था कि, "यह बात बहुत उत्तम है क्योंकि अभी कलकत्ते में इस विषय में सभा हो रही है। इसलिए जहाँ तक बने वहाँ तक शीघ्र संस्कृत और मध्यदेश की भाषा (हिन्दी) के प्रचार के वास्ते बहुत प्रधान पुरुषों को सही कराके कलकत्ते की सभा में भेज दीजिए और भिजवा दीजिए .....।'[55] इसी आशय का एक पत्र उन्होंने 14 अगस्त, 1882 ई० को फर्रुखाबाद के लाला कालीचरण रामचरणजी को भी लिखा।[56] दयानन्द ने फर्रुखाबाद आर्य समाज के स्तम्भ, बाबू दुर्गादासजी को 17 अगस्त, सन् 1882 ई० को देश के विभिन्न हिस्सों से आर्यसमाजों द्वारा हण्टर-आयोग को स्मरण-पत्र प्रेषित करवाने के सम्बन्ध में एक पत्र में निर्देश देते हुए लिखा था कि, "..... यह काम एक के करने का नहीं है। और अवसर चूके वह अवसर आना दुर्लभ है। जो यह कार्य सिद्ध हुआ, तो आशा है कि मुख्य सुधार की नींव पड़ जावेगी।"[57] इन विभिन्न पत्रों से स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्द ने हिन्दी को राज-भाषा-पद पर प्रतिस्थापित करने हेतु महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

स्वामी दयानन्द के अथक प्रयासों के फलस्वरूप ही पेशावर, झेलम, लाहौर, शिमला, अमृतसर, बम्बई, मुरादाबाद, मेरठ, कानपुर, बनारस आदि विभिन्न स्थानों से हिन्दी को राज-भाषा के पद पर प्रतिष्ठित कराने-हेतु हण्टर-भाषा-आयोग को स्मरण-पत्र प्रेषित किए गए। कानपुर से प्रेषित मेमोरियल के कालम तीन से यह ज्ञात होता है कि दो लाख मनुष्यों के अनुमान से दो सौ मेमोरियल हण्टर-आयोग को

भेजे गए थे।[58] आर्यसमाज मेरठ द्वारा 20 × 26 अठपेजी आकार का 16 पृष्ठों में छपा हुआ मेमोरियल हण्टर-आयोग को प्रषित किया गया, जिसमें हिन्दी के प्रयोग एवं देवनागरी-लिपि में शिक्षा दिलाने की तर्क-सम्मत ढंग से माँग की गई।[59] इसी प्रकार कानपुर के निवासियों की ओर से सर एलफ्रेड कॉमिन्स, लेफ्टोनेण्ट गवर्नर, पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध-क्षेत्र को एक स्मरण-पत्र दिया गया, जिसमें भाषा-आयोग के अध्यक्ष हण्टर साहब तथा जस्टिस महमूद द्वारा हिन्दी के पक्ष में प्रस्तुत दिचारों का उल्लेख करते हुए आर्य-भाषा हिन्दी को राज-भाषा के रूप में स्थापित करने का इस प्रकार निवेदन किया गया था कि, "जब शिक्षा कमीशन इलाहाबाद में मेयो हॉल में बैठी थी, तब प्रेसिडेण्ट, ओनेरेबिल डॉ० हण्टर साहब को कहना पड़ा था, कि हिन्दी की पश्चिमोत्तर प्रदेश में बड़ी चाह है। उसी समय जस्टिस सय्यद महमूद ने भी कहा था—यद्यपि मैं मुसलमान हूँ, लेकिन यहाँ के लोगों की राय प्रकाश करता हूँ। वह सब लोग यही चाहते हैं कि हिन्दी सब जगह प्रचलित होवे और उर्दू, जो टेढ़ी-मेढ़ी लिखी जाती है, मेरी राय से न रहनी चाहिए.... ।"[60] उपर्युक्त समस्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी दयानन्द ने हिन्दी-हेतु जन-आन्दोलन छेड़ दिया था।

(vii) दयानन्द के प्रयासों का प्रभाव :

स्वामी दयानन्द के व्यक्तिगत प्रया ों के परिणामस्वरूप राजस्थान के नरेशों ने अपने-अपने राज्यों में हिन्दी का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। 12 अगस्त, सन् 1883 ई० को जोधपुर राज्य के प्रधानमन्त्री के अधिकार से कर्नल प्रताप सिंह ने हिन्दी (नागरी-लिपि) को राज-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया। कहते हैं कि एक दिन अर्जियाँ सुनते समय उर्दू की 50-60 अर्जियाँ उन्होंने फडवा डालीं। उसी दिन से जोधपुर राज्य में सब काम हिन्दी में होने लगा।[61] स्वामी दयानन्द ने राज्य-कार्य में प्रयुक्त होने वाले फारसी तथा अरबी शब्दों का तत्सम संस्कृत शब्दों में प्रचलन करवाया तथा स्वयं समानार्थक संस्कृत शब्दों का सुझाव भी

दिया। मेवाड़ राज्य के राज-पत्र को 'सज्जनकीर्ति सुधाकर' नाम देकर प्रकाशित कराने तथा राज्य की सर्वोच्च शासन-समिति की 'महद्राज सभा' का नाम देने के पीछे भी दयानन्द की प्रेरणा ही कार्य कर रही थी।[62] स्पष्ट है कि स्वामी जी ने हिन्दी-प्रयोग को व्यावहारिकता के धरातल पर लाने हेतु राजस्थान के विभिन्न राज्यों में स्तुत्य प्रयास किया था।

स्वामी दयानन्द ने हिन्दी के शैशव-काल में ही 'सत्यार्थप्रकाश' की रचना कर हिन्दी-भाषा में दार्शनिक ग्रन्थों की शैली को जन्म दिया। इसकी शास्त्रप्रामाण्यपरक शैली का हिन्दी-साहित्य पर विशेष प्रभाव पड़ा। स्वामी जी की 'आत्मकथा' खड़ी बोली की प्रथम आत्मकथा है।[63] स्वामी दयानन्द को 'रणारूढ़ हिन्दुत्व का निर्भीक नेता' कहने वाले महाकवि 'दिनकर' की मान्यता है कि 'साकेत' के राम तो स्वामी दयानन्द के 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का नारा लगाते हैं।[64] इसका तात्पर्य यह है कि मैथिली शरण गुप्त की प्रसिद्ध रचना 'साकेत' पर स्वामी जी के विचारों एवं सुधारों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। स्वामी जी की हिन्दी-सेवा के सम्बन्ध में आर्य-भाषा-सम्मेलन, आर्य समाज लाहौर के वार्षिकोत्सव में हिन्दी उपन्यास-सम्राट मुंशी प्रेमचन्द्र ने कहा था कि, "……स्वामी दयानन्द का एक बड़ा उपकार कौमी जबान को है। उन्होंने हो तब महसूस किया और उसे कर दिखाया। जब इसका माहौल ऐसा नहीं था, गुजराती होते हुए उन्होंने राष्ट्र-भाषा (हिन्दी) की अहमियत को समझा… …।"[65]

स्वामी दयानन्द की हिन्दी-सेवा की प्रशंसा मात्र विद्वानों एवं साहित्याचार्यों ने ही नहीं की है, अपितु फ्रान्सीसी विद्वान् रोमां रोला ने महर्षि द्वारा हिन्दी-भाषा में किए गए वेदों के भाष्य को नवीन युग का प्रारम्भ बताया है।[66] कर्नल हेनरी स्टील ऑल्कार ने अपनी पत्रिका 'थियोसोफिस्ट' में स्वीकार किया है कि, "… …समस्त भारत में स्वामी दयानन्द से बढ़कर हिन्दी और संस्कृत का कोई प्रखर वक्ता हमारे देखने में नहीं आया।"[67]

पाश्चात्य एवं पौर्वात्य विद्वानों के कथनों एवं समीक्षाओं के परिपेक्ष्य में यदि दयानन्द के हिन्दी-सेवा का समग्र रूप से विश्लेषण किया जाय, तो यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी के संकट-काल में हिन्दी-सेवियों एवं साहित्यकारों की अपेक्षा स्वामी जी ने हिन्दी के लिए सर्वाधिक श्लाघ्य प्रयास एवं कार्य किया है। उन्होंने हिन्दी-भाषा को गरिमामण्डित राज-पद दिलाने-हेतु व्यक्तिगत एवं संस्थागत (आर्यसमाज) रूप में हण्टर-भाषा-आयोग को स्मरण-पत्र प्रेषित कराने के लिए जो जन-आन्दोलन प्रारम्भ किया था, वह हिन्दी के इतिहास की एक अविस्मरणीय, सुखद एवं आश्चर्यजनक घटना है। स्पष्ट है, कि अखिल भारतीय दृष्टि रखने वाला व्यक्ति ही स्वामी दयानन्द की भाँति हिन्दी का समर्थन कर सकेगा।

(स) स्वधर्म (वेदवाद) :

वेद भारतीय दर्शन के मूलस्रोत तथा विश्व के प्राचीनतम साहित्य हैं। प्राचीनकाल से ही इन्हें ईश्वरीय ज्ञान के रूप पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास के साथ अंगीकार किया गया है। परन्तु, ये गूढ़, क्लिष्ट तथा अबोधगम्य होने के साथ-साथ एक विशिष्ट प्रकार की छन्द-रचना में थे, अतः, इन्हें सरल और सुबोध बनाने के लिए वेद-भाष्यों की परम्परा का विकास हुआ। रावण (एक दक्षिणात्य पंडित, लंकेश नहीं) को वेद का प्रथम भाष्यकर्त्ता माना जाता है। इनके पश्चात् शंकर, रामानुज, बल्लभ, निम्बार्क, महीधर, उव्वट, सायण आदि भारतीय एवं मैक्समूलर, विल्सन, मैक्डॉनल, कीथ, ग्रिफिथ, मोनियर विलियम्स आदि पाश्चात्य विद्वानों के नाम वैदिक साहित्यों के सम्पादन, प्रकाशन, अर्थकरण तथा भाष्यकरण आदि के क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं।

(i) दयानन्द के पूर्व वेद-भाष्यों की स्थिति :

स्वामी दयानन्द के पूर्व भारत के सायण और महीधर के इतिहास एवं कर्मकाण्डपरक सत्यार्थ से परे अश्लील वेद-भाष्य ही पाश्चात्य

भाष्यकारों के आधारभूत मार्गदर्शक रहे हैं, जिनमें अश्वमेघ, गोमेघ, अजामेघ, नरमेघ, बहुदेववाद, मूर्तिपूजा, जादू-टोना, श्राद्ध-तर्पण आदि तर्क-हीन भ्रमजालों को मनगढ़न्त ढंग से स्थापित किया गया है। यही कारण है कि मैक्डॉनल ने वेद को 'गाथा-शास्त्र' तथा मैक्समूलर ने वैदिक ऋषियों को 'श्रद्धालु मूर्ख' कहा है।[68] विन्टरनित्स को यजुर्वेद में तत्त्वहीन शब्दाडम्बर, श्रोयडर को मैत्रायणी संहिता में बाल्यबुद्धि और कीथ को तपस्या मूर्खतापूर्ण प्रतीत होती है।[69]

वस्तुतः, पाश्चात्य विद्वानों के वेद विषयक उपर्युक्त अनर्गल प्रलाप उनके अधकचरे वैदिक ज्ञान तथा वैदिक दर्शन, धर्म एवं संस्कृति को ईसाईयत की तुलना में हेय तथा नगण्य सिद्ध करने के षडयन्त्र के परिणाम हैं। अंग्रेजों द्वारा अपने उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति-हेतु अनेक योजनाएँ बनायी गई थीं, जिनमें लार्ड मैकॉले की शिक्षा-पद्धति एवं वेद-भाष्यों की योजना प्रमुख थी। 15 अगस्त, 1811 ई० को ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय लन्दन में मोनियर विलियम्स की अध्यक्षता में एक 'बोडन ट्रस्ट' की स्थापना की गयी, जिसका मुख्य उद्देश्य बताते हुए स्वयं मोनियर ने कहा था कि, "बोडन साहब (एक पूँजीपति) के इस ट्रस्ट को महान दान करने का प्रसिद्ध लक्ष्य था कि भारत की संस्कृत-पुस्तकों का अनुवाद करके·····भारतीय जातियों का धर्म-परिवर्त्तन करके ईसाई बनाया जा सके।"[70] इसी क्रम में दिसम्बर, सन् 1854 ई० में लार्ड मैकॉले ने मैक्समूलर से वैदिक साहित्य के भ्रष्ट अनुवाद करने के सम्बन्ध में समझाते हुए बताया था कि, "·····तुम इस कार्य में अंग्रेजी सरकार को सहयोग दो और हिन्दुओं के हृदयों में वेद के लिए अश्रद्धा उत्पन्न करो, जिससे अंग्रेजी राज्य की नींव सुदृढ़ हो और हिन्दुओं को बिना किसी यत्न के ईसाई बनाया जा सके।"[71] स्पष्ट है कि अंग्रेज वैदिक साहित्य को अपनी योजनानुसार भ्रष्ट करने पर तुले हुए थे।

मैक्समूलर ने कार्ड मैकॉले और अंग्रेजी सरकार के उक्त प्रस्ताव को स्वीकार कर वेदों का भ्रष्ट अनुवाद किया। उसके द्वारा ऐसा करने का

प्रमाण उसके ही कतिपय पत्रों से प्राप्त हो जाता है। उसने सन् 1866 ई० में अपनी पत्नी को एक पत्र में यह लिखा था कि, "वेद इन (हिन्दुओं) के धर्म का मूल है और मुझे विश्वास है कि इनको यह दिखाना ही कि वह मूल क्या है, उस धर्म को नष्ट करने का एकमात्र उपाय है।"[72] मैक्समूलर ने 16 दिसम्बर, सन् 1868 ई० को तत्कालीन भारत के मन्त्री, ड्यूक आफ आर्गायल को एक पत्र लिखकर सूचित किया था कि, "भारत के प्राचीन धर्म का पतन (भ्रष्ट अनुवाद द्वारा) हो गया है, यदि अब भी ईसाई-धर्म नहीं प्रचलित होता है, इसमें किसका दोष है।"[73] मैक्समूलर के उपर्युक्त दोनों पत्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक साहित्य के अध्ययन के पीछे उसकी कुत्सित मानसिकता कार्य कर रही थी। यही कारण है कि रूस के एक प्रसिद्ध विद्वान् पी० ए० बैलंगर ने मैक्समूलर की पुस्तक 'सीक्रेट बुक आफ दि ईस्ट' पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि, "दुर्भाग्यवश मुझे प्रतीत होता है कि रूस की जनता का प्रो० मैक्समूलर के अनुवाद के द्वारा ही वेदों का परिचय मिलता है, तो जनता की रुचि वेदों में उत्पन्न न होगी। मैक्समूलर के अनुवाद में जो बात खटकती है, वह है—अयुक्त बातों का बाहुल्य, गन्दे वाक्य-समूह और बहुत सी अस्पष्ट बातें ·····।"[74]

उपर्युक्त कथनों एवं प्रमाणों के प्रकाश में स्पष्ट हो जाता है कि पाश्चात्य विद्वान् मैक्समूलर आदि के भाष्य एक सुनियोजित गर्हित मानसिकता के परिणाम थे। वेदों के प्रति उनकी किसी प्रकार की श्रद्धा नहीं थी। स्वामी दयानन्द के काल में इसी प्रकार के भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के वेद-भाष्य प्रचलित एवं मान्य थे, जिनमें वैदिक ऋचाओं का अश्लील, पूर्वाग्रह-ग्रस्त एवं भ्रामक अर्थ किया गया था। इसके परिणामस्वरूप जन सामान्य तक की वेदों से आस्था लगभग लुप्त हो चुकी थी तथा वेद को मात्र यज्ञ एवं पूजा-पाठ की कर्मकाण्डपरक पुस्तक समझा जाने लगा था।

(ii) दयानन्द द्वारा वेद-भाष्य :

स्वामी दयानन्द ने शताब्दियों से लुप्त प्राय वैदिक गरिमा की पुनःप्रतिष्ठा-हेतु सन् 1876 ई० में वेदों का भाष्य करना प्रारम्भ कर दिया, परन्तु सम्पूर्ण यजुर्वेद एवं ऋग्वेद के दश में से छः मण्डल और सातवें मण्डल के कुछ भाग (ऋ० भा०—7.62.2) का ही वे भाष्य कर सके थे कि उनका आकस्मिक निधन हो गया। स्वामी दयानन्द ने वेद-भाष्य-हेतु यास्क प्रतिपादित नैरुक्तिक प्रणाली को ग्रहण किया, जिसके अनुसार वेद के सभी पद अपने यौगिक अर्थ में प्रयुक्त हैं। इस प्रणाली में व्यक्तिवाचक संज्ञा अथवा ऐतिहासिक सन्दर्भ का वेदों में अभाव माना जाता है। महर्षि ने विनियोगवाद से वेद को सर्वथा स्वतन्त्र रखते हुए मन्त्रों का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ कर वेदों में निहित उच्चतर नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों, दार्शनिक तथा वैज्ञानिक तत्त्वों का समाज और व्यक्ति के हित की दृष्टि से रहस्योद्घाटन किया। उन्होंने वेद को कर्मकाण्ड एवं यज्ञ परक स्थिति से ऊँचा उठाकर उसे वैज्ञानिकता का आधार प्रदान किया।

(iii) वेद-भाष्य-हेतु आवश्यक निर्देश :

स्वामी दयानन्द ने वेद-भाष्य-हेतु कतिपय निर्देश दिए हैं, जिनमें सर्वप्रमुख है—आर्षग्रन्थ प्रमाणवाद। उनका मत था कि वेद-भाष्य करते समय चारो वेदों को निर्भ्रान्त स्वतः प्रमाण मानना चाहिए तथा साथ ही चारो वेदों के ब्राह्मण, छः अंग, छः उपांग, चार उपवेद 1127 वेदों की शाखा (वेदों के व्याख्यारूप ब्रह्मादि महर्षियों के बनाए ग्रन्थ) को परतः प्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और प्रतिकूल होने से अप्रमाण मानना चाहिए।[75] इसके अतिरिक्त वेदार्थ जानने के लिए अर्थयोजना, व्याकरण, अष्टाध्यायी धातु पाठ, उणादि गणपाठ आदि का भी ज्ञान अत्यावश्यक है।[76]

वेदों के सत्यार्थ-परीक्षण के लिए स्वामी दयानन्द ने पाँच प्रकार की परीक्षाओं का भी निर्देश किया है। वे है[77]— 1 गुण, कर्म, स्वभाव

और वेद से अनुकूलता 2—सृष्टि-क्रम के अनुकूल 3—आप्तजनों के उपदेश के अनुकूल 4—अपने आत्मा की पवित्रता-विद्या 5—आठ प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और प्रमाण की अनुकूलता। इसके अतिरिक्त महर्षि का यह सुझाव है कि वेद का अर्थ समाज, व्यक्ति और राष्ट्र के हित को ध्यान में रखकर बुद्धि और तर्क संगत होना चाहिए। वेद नित्य परमात्मा का नित्य ज्ञान है, अतः उसमें अनित्य व्यक्तियों का इतिहास नहीं हो सकता है। वेद का अर्थ विनियोगवाद से स्वतन्त्र हो कर यौगिकवाद के आधार पर किया जाय! इस तथ्य को भी ध्यान में रखना चाहिए कि वेद-वाक्य परस्पर विरोधी नहीं होते तथा वेद स्वतः प्रमाण हैं।

(iv) दयानन्द द्वारा सायणादि के वेद-भाष्यों की आलोचना :

स्वामी दयानन्द ने वेद-भाष्य की उपयुक्त कसौटी के आधार पर सायण आदि द्वारा किए गए भाष्यों को असंगत एवं तर्कहीन बताया है। उनका मत है कि, "जो-जो भाष्य उव्वट, सायण, महीधरादि ने बनाए हैं, वे सब मूलार्थ और सनातन वेद-व्याख्याओं से विरुद्ध हैं तथा जो-जो नवीन भाष्यों के अनुसार अंग्रेजी, जर्मनी, दक्षिणी और बंगाली आदि भाषाओं में वेद-व्याख्यान बने हैं, वे भी अशुद्ध हैं।"[78] दयानन्द ने महीधर द्वारा यजुर्वेद के तेईसवें अध्याय के मन्त्र संख्या 19, 20, 24, 26, 28, 29, तथा 30 में प्रयुक्त गणपति, गर्भ, शकुन्तिका, शिश्न, गभ, पस आदि शब्दों के मूल से सर्वथा विरुद्ध मनगढ़न्त तथा अश्लील अर्थों का उद्धरण देते हुए तथा उन्हीं शब्दों का ईश्वर, प्रजा, राज्य आदि उत्तम अर्थ करते हुए यह निष्कर्ष दिया है कि, जब इन्हीं लोगों के व्याख्यान अशुद्ध हैं, तब यूरोप खण्डवासी लोगों ने जो उन्हीं की सहायता लेकर अपनी देश-भाषा में वेदों के व्याख्यान किए हैं, उनके अनर्थ का तो क्या ही कहना..... ..।"[79]

स्वामी दयानन्द ने मैक्समूलर के संस्कृत-ज्ञान की अल्पज्ञता की ओर भी संकेत करते हुए लिखा है कि, 'मोक्षमूलर साहब ने इधर-उधर

आर्यावर्त्तीय लोगों की हुई टीका देखकर कुछ-कुछ यथा तथा लिखा है, जैसा कि 'युञ्जन्ति बध्नमरुषं चरन्तं०' इस मन्त्र का अर्थ घोड़ा किया है। इससे तो जो सायणाचार्य ने सूर्य अर्थ किया है, सो अच्छा है। परन्तु, इसका ठीक अर्थ परमात्मा है।"[80] स्वामी दयानन्द ने सायणादि भारतीय एवं मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों के भाष्यों की जो आलोचना की, उसकी मि० आर० ग्रिफिथ, सी० एच० टॉनी, पं० गुरुप्रसाद, पं० हृषिकेश भट्टाचार्य तथा पं० भगवान दास आदि ने दयानन्द द्वारा वेद-भाष्यों में प्रयुक्त छन्दों, परस्मै पदों के स्थान पर आत्मने पद के प्रयोग आदि पर अनेक आपत्तियाँ कीं। दयानन्द ने उन सबका तर्क एवं प्रमाणपूर्वक उत्तर देते हुए लिखा कि, "···· ···उवट, सायण, महीधर रावण आदि के रचे हुए भाष्य प्राचीन भाष्यों से सर्वथा विपरीत हैं। केवल इन्हीं भाष्यों का उलथा अंग्रेजी में विलसन और माक्समूलर आदि प्रोफेसरों ने किया है। इसलिए मैं इनके भाष्यों को भी शुद्ध और न्यायकारी नहीं कह सकता ·····।[81] इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने अपने तर्क एवं शास्त्रोक्त प्रमाणो के आधार पर अपने पूर्व प्रचलित वेद-भाष्यों की त्रुटियों की ओर संकेत करते हुए स्वयं आर्ष ग्रन्थों के प्रमाण तथा नैरुक्तिक प्रणाली के आधार पर वेद-भाष्य किया।

(४) दयानन्द के भाष्य का स्वागत :

पहले तो दयानन्द कृत भाष्यों की तीव्र आलोचना हुई, परन्तु कालान्तर में उनके बुद्धि, तर्क, धातु, यौगिकता एवं आष ग्रन्थों के प्रमाण परक एवं वेदों के अन्तरंग को प्रकाशित करने वाले भाष्यों का सर्वत्र स्वागत होने लगा। महर्षि के वेदार्थ से वेदों में स्थापित दर्शन, ज्ञान, अध्यात्म, जीवन-मूल्य एवं प्रतिमान जीवन्त हो उठे। ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के अंक सात के अन्त में छपी ग्राहकों की सूची में संख्या 409 तथा 403 के क्रम में लिखित मैक्समूलर एवं मोनियर विलियम्स के नाम इस बात के प्रमाण है कि उक्त पाश्चात्य विद्वान् ऋषि के भाष्यों के नियमित ग्राहक थे।[82] यही नहीं, अपितु, 30 जून, 1979 ई० को

वेद-भाष्य कार्यालय बम्बई के प्रबन्धकर्त्ता समर्थदानजी द्वारा ऑक्सफोर्ड, लन्दन स्थित स्वामी दयानन्द के परम शिष्य पं० श्याम जी कृष्ण वर्मा को लिखे पत्र में स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि वे प्रो० मैक्समूलर तथा मोनियर विलियम्स से वेद-भाष्य के अङ्कों के मूल्य प्रेषित करवा दें तथा यह भी सूचित करें कि स्वामी दयानन्द उनके वेद-भाष्यों की जो आलोचना करते हैं, उस सम्बन्ध में उन दोनों विद्वानों की क्या प्रतिक्रिया है ?[83]

स्वामी दयानन्द के वेद-भाष्यों की बढ़ती लोकप्रियता को देख कर ही हरिश्चन्द्र चिन्तामणि तथा थियोसोफिस्ट नेत्री मैडम ब्लेवेटस्की द्वारा जब स्वामी जी से उनके भाष्यों का दूसरी भाषाओं में अनुवाद की अनुमति माँगी गयी, तब स्वामी दयानन्द ने यह कहकर मना कर दिया कि उनके वेद-भाष्यों के अंग्रेजी या उर्दू में अनुवाद होने से लोग संस्कृत आर्य-भाषा (हिन्दी) के अध्ययन से निरुत्साहित हो जाएँगे। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी जी के वेद-भाष्यों का भारत और उसके बाहर के देशों में आदर और सम्मान था। देववाणी संस्कृत और लोक-भाषा हिन्दी के प्रति समर्पित राष्ट्रवादी दयानन्द ने राष्ट्रीय हित में अपने भाष्यों के अनुवाद की अनुमति नहीं दी थी।

स्वामी दयानन्द के वेद-भाष्य से प्रभावित होकर ही मैक्समूलर को विवश होकर यह कहना पड़ा कि, "उन्नीसवीं शती का सबसे बड़ा आविष्कार वेदों का आविष्कार है और इसके आविष्कारक निस्सन्देह महर्षि दयानन्द हैं।"[84] यही नहीं, अपितु मैक्समूलर ने प्रभावित होकर दयानन्द से जर्मनी आने-हेतु आग्रह भी किया था[85] परन्तु महर्षि ने पत्रोत्तर में जर्मनी न आ सकने का कारण स्पष्ट करते हुए यह लिखा कि, "मेरी इच्छा आने को अवश्य थी, परन्तु यहाँ (भारत) के लोग अभी मुझे नास्तिक कहते हैं। जब तक मैं इस देश को अच्छी प्रकार न बतला दूँ कि मैं कैसा नास्तिक हूँ, तब तक नहीं आ सकता।"[86] इस पत्र-व्यवहार से ज्ञात होता है कि स्वामी दयानन्द ने विदेश-भ्रमण

की अपेक्षा वेद के सत्य स्वरूप के प्रकाश और स्वदेश-हित-चिन्तन पर अधिक बल दिया है।

स्वामी दयानन्द के भाष्य से प्रभावित श्री अरविन्द ने उन्हें वेद के 'प्रथम भाष्यकर्त्ता' के रूप में स्वीकारते हुए यह लिखा है कि, "मेरा यह दृढ़ विश्वास बन गया है कि वेदों की व्याख्या के विषय में दयानन्द अपने सत्य सूत्रों की वजह से प्रथम भाष्यकर्त्ता के रूप में आदृत होंगे, भले ही वेदों की अन्तिम पूर्ण व्याख्या कोई भी हो। पुरातन अज्ञान और युगों से चली आने वाली मूर्खता के अन्धकार से आवृत्त इस दिव्य वस्तु (वेद) को देखने वाली दयानन्द की दिव्य दृष्टि ही थी, जिसने काल द्वारा आवृत्त द्वारों की कुञ्जी प्राप्त की और अवरुद्ध झरनों के मुखों पर उन्हें बन्द करने वाली सील-मोहरों को तोड़ डाला।"[87] अरविन्द घोष की यह समीक्षा दयानन्द के वेद-भाष्य का वास्तविक मूल्याङ्कन है।

(vi) दयानन्द की वेद सम्बन्धी प्रमुख मान्यताएँ :

स्वामी दयानन्द का स्पष्ट कथन था कि मैं वेदाधीन हूँ। उनका विश्वास था कि यदि सभी लोग वेदोक्त धर्म के विषय में प्रीतिपूर्वक पक्षपात छोड़ के विचार करें, तो सब प्रकार से कल्याण ही कल्याण है। यदि देश में सभ्यता का सूर्य चमके और वेदों का सत्य ज्ञान फैले, तो अज्ञानी भारत का अन्धकार एक दिन अवश्य दूर हो जाएगा।[88] अपनी इसी स्थापना के परिप्रेक्ष्य में दयानन्द ने वेद और उसकी मान्यताओं के सम्बन्ध में कतिपय स्पष्टीकरण प्रस्तुत किए हैं, जो इस प्रकार हैं :

वेद नित्य एवं अपौरुषेय हैं :

स्वामी दयानन्द की मान्यता है कि जो ईश्वरोक्त, सत्यविद्याओं से युक्त ऋक् संहितादि चार पुस्तकें हैं, जिनसे मनुष्यों को सत्यासत्य का ज्ञान होता है, उनको वेद कहते हैं।[89] जिनके पढ़ने से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है, जिनको पढ़के विद्वान् होते हैं, जिनसे सब सुखों का लाभ होता है उसे वेद कहते हैं।[90] जहाँ सायण ने वेद को अनित्य और

पौरुषेय (मानव कृत) माना है, वहीं महर्षि का मत है कि वेद ईश्वर से उत्पन्न हैं, अतएव वे स्वतः नित्य स्वरूप हैं क्योंकि ईश्वर का सब सामर्थ्य नित्य ही है। ऋषि दयानन्द ने अपने इस मत को यजु० 31.7 तथा अथर्व० 10.23.4.2 और शत० 14.5.4.10 के उद्धरण से स्पष्ट किया कि वेद मानव-कृत न होकर ईश्वर कृत हैं।[91] प्रथम सृष्टि के आदि में परमात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य तथा अंगिरा नामक ऋषियों के आत्मा में एक-एक वेद का प्रकाश किया।[92] वेदों का प्रकाश ईश्वर ने किया है, क्योंकि वेद में पक्षपात नहीं है। उनमें सत्यता, एक वाक्यता सर्वविद्यामूलकत्व गुण हैं।[93] वेद नित्य हैं, क्योंकि परमेश्वर के नित्य होने से उसके ज्ञानादि गुण भी नित्य हैं। जो नित्य पदार्थ हैं उनके गुणकर्म स्वभाव नित्य और अनित्य द्रव्य के अनित्य होते हैं।[94]

वेद में समस्त विद्याएँ हैं :

स्वामी दयानन्द का मत है कि वेद में लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार की विद्याएँ हैं। वेदों में अवयव रूप विषय तो अनेक हैं, परन्तु उनमें चार मुख्य हैं—विज्ञान, कर्म, उपासना तथा ज्ञान। वेद में दो विद्याएँ हैं—एक अपरा, दूसरी परा। अपरा, वह विद्या है जिससे पृथ्वी और तृण से प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के गुणों का ज्ञान होता है। परा विद्या का सम्बन्ध ब्रह्म-प्राप्ति से है। परा विद्या अपरा विद्या से अत्यन्त उत्तम है, क्योंकि अपरा का ही उत्तम फल परा विद्या है।[95] संक्षेप में वेद समस्त प्रकार के ज्ञान-विज्ञान का वह भण्डार है, जिससे लौकिक एवं पारलौकिक दोनों लक्ष्य प्राप्त होते हैं।

ब्राह्मण-ग्रन्थ वेद नहीं हैं ;

दयानन्द ने निरुक्त का सन्दर्भ देते हुए बताया है कि वेद मन्त्र भाग और ब्राह्मण व्याख्या भाग हैं। ब्राह्मण वेद नहीं हो सकते क्योंकि उन्हीं का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी भी है। वे देहधारी पुरुषों के बनाए हुए हैं।[96]

वेदों में अश्लीलता नहीं है ;

महीधर आदि ने अपने-अपने वेद-भाष्यों में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वेदों में वीभत्स कथाएँ तथा अश्लीलता पायी जाती है। इसका खण्डन करते हुए दयानन्द ने कहा है कि महीधर ने यजु० 23. 24 में 'गभे' के स्थान पर वर्ण विपर्यास कर 'भगे' शब्द निकाला है, जबकि शत० 13.2.9.7 के आधार पर वीभत्सपन नहीं रहता। अश्वमेध में घोड़े के शिश्न का संस्कार यजमान की स्त्री के सम्बन्ध में कहना, ऐसा वीभत्सपन है कि उलटी आती है।[97] इसी प्रकार स्वामी जी ने यजु० 23.23, 26, 28, 29,30 आदि मन्त्र के महीधर द्वारा किए गए अनर्थ का अपने तर्क एवं निरुक्त आदि आर्षग्रन्थों के आधार पर खण्डन किया है।[98]

वेदों में इतिहास नहीं है :

महर्षि का स्पष्ट मत है कि वेद में न तो इतिहास का वर्णन है और न किसी देहधारी मनुष्य का ही। इतिहास जिसका हो, उसके जन्म के पश्चात् लिखा जाता है, पूर्व नहीं। जमदग्नि (चक्षु), कश्यप (प्राण) तथा उर्वशी आदि इन्द्र (सूर्य) की अप्सरा (किरणें) का वर्णन इतिहास या व्यक्ति के रूप में नहीं है। दयानन्द ने प्रजापति दुहिता की कथा, इन्द्र और अहल्या, इन्द्र और वृत्रासुर, देवासुर संग्राम, कश्यप और पुष्कर तीर्थ आदि की इतिहास परक कथाओं का खण्डन करते हुए उनका ऐतरेय ब्राह्मणादि के आधार पर सत्य अर्थ कर उनकी अनैतिहासिकता सिद्ध की है।[99]

शूद्रों और स्त्रियों को भी वेदाध्ययन का अधिकार :

दयानन्द का मत है कि चूँकि वेद में समस्त प्रकार की विद्याओं का प्रकाश मानव-जाति के व्यापक हित को दृष्टि में रखते हुए ही ईश्वर ने किया है, अतः इस ज्ञान को प्राप्त करने का अधिकार किसी वर्ण (वर्ग) विशेष का न होकर समस्त मानव का है। यजुर्वेद के

मन्त्र 26.2 'यथेमां वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्यः, ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय' के द्वारा दयानन्द ने स्पष्ट किया है कि 'जनेभ्यः' शब्द से मात्र द्विजों (ब्राह्मणों) का ही ग्रहण नहीं होता है, अपितु वेदाधिकार जैसा ब्राह्मण वर्ण के लिए है, वैसा ही क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पुत्र, भृत्य और अति शूद्र के लिए भी बराबर है। मनु० 10.65 श्लोक से स्पष्ट है कि ब्राह्मण शूद्र और शूद्र ब्राह्मण हो जाता है। यदि शूद्रों को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं होगा तो वे ब्राह्मण कैसे होंगे।[100]

दयानन्द ने अथर्व 3.24.11 18 के मन्त्र 'ब्रह्मचर्येण कन्या' तथा तथा श्रौतसूत्रादि के वाक्य—'इदं मन्त्रं पत्नी पठेत्' का उल्लेख करते हुए स्पष्ट किया है कि वेदाध्ययन का अधिकार स्त्रियों को भी है। यदि वे इससे वंचित रहेंगी, तो यज्ञादि क्रियाओं में मन्त्र-पाठ कैसे कर सकेंगी।[101] इतिहास साक्षी है कि गार्गी, सुलभा, मैत्रेयी, कात्यायनी आदि सुशिक्षित स्त्रियाँ बड़े-बड़े ऋषियों-मुनियों के संशयों का समाधान करती थीं।[102] महर्षि का कथन था कि जब सब स्त्री-पुरुष सर्वत्र वेदों का अवलोकन करेंगे, तब इन सम्प्रदायियों की लटपट बन्द होगी।[103] स्पष्ट है कि दयानन्द ने समस्त स्त्री-पुरुष को वेदाध्ययन का अधिकार प्रदान कर शंकराचार्य, सायणाचार्य आदि द्वारा आरोपित प्रतिबन्धों का खण्डन किया है।

त्रित्ववाद :

स्वामी दयानन्द न तो शंकर के समान अद्वैतवादी थे और न रामानुज के समान विशिष्टाद्वैतवादी। उन्होंने त्रैतवाद अर्थात् ब्रह्म, जीव तथा प्रकृति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनके मत में तीनों सत् हैं। प्रकृति सत् है, जीव सत् और चित् है, ब्रह्म सत्, चित् तथा आनन्द भी है। ऋ० 1.164.20 के आधार पर महर्षि ने स्पष्ट किया है कि जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न स्वरूप तीनों अनादि हैं।[104]

वेदों में मूर्तिपूजा का विधान नहीं है :

ऋषि दयानन्द का स्पष्ट मत है कि सायण तथा महीधरादि आचार्यों द्वारा वर्णित मूर्ति-पूजा का वेदों में कहीं चिह्न तक नहीं है। यजु० 32 3 मन्त्र में भी स्पष्ट निर्दिष्ट है कि जो सब जगत् में व्यापक है, उस निराकार परमात्मा की प्रतिमा, परिमाण सादृश्य या मूर्ति नहीं है।[106] हुगली-शास्त्रार्थ में दयानन्द ने पं० ताराचरण तर्करत्न को 'प्रतिमा' शब्द का अर्थ परिमाण करने वाले पाव, सेर, पंसेरी आदि बाट तथा यज्ञ के चमसादिक पात्र बताया।[106] निराकार और सर्व-व्यापक परमेश्वर की मूर्ति बन ही नहीं सकती। जड़ पदार्थ (पाषाणादि) में चेतन ईश्वर की भावना करना मिथ्या है। जड़ मूर्ति की पूजा से जड़ बुद्धि का जड़त्व ही बढ़ेगा। 'पूजा' का अर्थ सत्कार है, षोडशोपचार नहीं।[106A] 'हिरण्यगर्भ' का अर्थ शालिग्राम की बटिया नहीं, किन्तु हिरण्य अर्थात् 'ज्योति' जिसके उदर में, वह ज्योतिरूप परमात्मा ऐसा अर्थ है।[107]

यज्ञ का अर्थ एवं प्रकार :

स्वामी दयानन्द ने कर्मकाण्ड परक यज्ञ की मान्यता का खण्डन करते हुए बताया है कि, "यज्ञ उसको कहते हैं कि जिसमें विद्वानों का सत्कार यथायोग्य शिल्प अर्थात् रसायन जो कि पदार्थ-विद्या, उससे उपयोग और विद्यादि शुभ गुणों का दान अग्निहोत्र आदि जिनसे वायु, वृष्टि, जल, औषधि की पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुँचाना है; उसको उत्तम समझता हूँ। महर्षि ने विभिन्न स्थानों पर यज्ञ की इस परिभाषा को स्वीकार किया है—यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म (शत० 1.7.1.5), यज्ञो वै भुवनम् (तै० ब्रा० 3.3.7.5), यज्ञ : प्रजापतिः (शत० 11.5.3.19), ब्रह्म वै यज्ञ (ऐ० ब्रा० 7.22), यज्ञो वै स्वः (शत० 1.1.2.21) आदि। अपने विभिन्न ग्रन्थों में दयानन्द ने ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ (वलि वैश्वदेव यज्ञ), नृयज्ञ (अतिथि-यज्ञ) आदि का विस्तार से

उल्लेख किया है, जिसे 'पंचमहायज्ञ' की संज्ञा से विभूषित किया है।[108]

ब्रह्मयज्ञ का तात्पर्य वेदों का पढ़ना-पढ़ाना, सन्ध्योपासना आदि बताते हुए स्पष्ट किया है कि ब्रह्म अर्थात् विद्या, वेद और परमात्मा। यज्ञ अर्थात् विचार। इस प्रकार ब्रह्मयज्ञ का अर्थ हुआ—वेद-विचार, परमात्मा विषयक विचार। देवयज्ञ का शुद्ध अर्थ होता है—होमविधि, अग्निहोत्र कर्म। इसके अन्तर्गत विद्वानों का संग, सेवा, पवित्रता आदि दिव्य गुण का धारण, दातृत्व तथा विद्या की उन्नति।

पितृयज्ञ का अर्थ समझाते हुए दयानन्द ने लिखा कि देव, विद्वान्, ऋषि, माता-पिता आदि वृद्ध (जीवित, मृत नहीं) ज्ञानी और परम-योगियों की सेवा करना ही पितृयज्ञ है। इसी सन्दर्भ में दयानन्द ने श्राद्ध और तर्पण का भी अर्थ स्पष्ट किया है। उनका मत है कि श्रद्धा से किया हुआ सेवा आदि कर्म श्राद्ध है। जिस-जिस कर्म से विद्वान् रूप देव, ऋषि और माता-पिता को प्रसन्न और तृप्त किया जाय, वही तर्पण है। यह श्राद्ध और तर्पण जीवितों के लिए है, मृतकों के लिए नहीं। देव का अर्थ विद्वान्, ऋषि का अर्थ वेद-मन्त्रों का अर्थ जानने वाला। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से युक्त तर्क का नाम भी ऋषि है। पितृ का अर्थ सबके रक्षक श्रेष्ठ स्वभाववाले ज्ञानी।

भूतयज्ञ का सम्बन्ध पाकशाला में बने भोजन के घृतमिष्टयुक्त अन्न के कुछ अंश को दिव्यगुणों के अर्थ पाकाग्नि में विधिपूर्वक दस आहुति का नित्य होम करने से है। अतिथियज्ञ का तात्पर्य अतिथि के सत्कार से है।

यज्ञों में बलि का निषेध :

स्वामी दयानन्द का अभिमत है कि वेद में यज्ञ के लिए स्थान-स्थान पर 'अध्वर' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है—जिसमें हिंसा न की जाय। वेद में अश्वमेध, गोमेध, अजामेध तथा

नरमेध का जो संकेत प्राप्त होता है, उसका तात्पर्य घोड़ा, गाय, बकरी और मनुष्य का बलि चढ़ाना नहीं है, अपितु राजा द्वारा न्याय-धर्म से प्रजा का पालन करना अश्वमेध, अन्न, इन्द्रियाँ, किरण, पृथ्वी आदि को पवित्र रखना गोमेध, प्रकृति के अनुसार आचरण करना अजामेध तथा मृत मनुष्यों का विधिपूर्वक दाहसंस्कार करना नरमेध है।[109]

देवता का अर्थ :

महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों एवं प्रवचनों आदि में वेद के आए 'देवता' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ईश्वर की आज्ञा, यज्ञ और उनके अंग अर्थात् साधन, परमेश्वर, मनुष्य, विद्वान्, अतिथि, माता-पिता, आचार्य आदि को उनके दिव्य गुणों के कारण देवता कहते हैं। दयानन्द ने वेद, ब्राह्मण, निरुक्त आदि में वर्णित देवता के अर्थ को ही स्वीकार किया है,[110] जिसके अनुसार मुख्यतः देवता के निम्न अर्थ हैं—देवो दानद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा, यो देवः सा देवता (निरु० (7.15)। देवस्य दानशील कृतस्य (यजु० 8.13)। दिव्य गुण युक्तस्य (यजु० 4.35), देवः प्रकाशस्वरूपः (यजु० 1.6), देवाः पितरः पितरो देवाः (अथर्व० 6.123.3), सर्वेषां सुखानां दाता सर्वविद्या द्योतकः (यजु० 1.1), गातु विदो हि देवाः (श० 4.4.4.13), चक्षुर्देवः (गो० पू० 2.11), सत्य संहता वै देवाः (ऐ० ब्रा० 1.6), जाग्रति देवाः (श० 2.1.4.7), देवा यज्ञियाः (श० 1.5.2.3), देवा वै स्वः (1.9.3.14), देवा वै नृचक्षसः (श० 8.4.2.5), अमृता देवाः (श० 2.1.3 4), सत्यमेव देवाः (श० 1.1.1.4), ऋतवो वै विश्वे दवाः (श० 7.1.1.43), विद्वांसो हि देवाः (श० 3.7.3.10) इत्यादि।

बहुदेवतावाद का निषेध :

महर्षि दयानन्द का मन्तव्य है कि वेदों में सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि आदि भूतों (भौतिक पदार्थों) की पूजा का विधान नहीं है। मात्र परमात्मा

की ही उपासना करनी चाहिए। अग्नि, इन्द्र वायु आदि (ऋ० 1.164.46 तथा यजु० 32.1 में वर्णित) सब परमेश्वर के ही नाम हैं, इसलिए अनेक देवताओं का वाद असम्भव है।[111] सर्वदृक् सर्ववक्ता, सर्वधारक, सर्वगत, अद्वितीय, निराकार, अज. अनन्त, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयामय ईश्वर ही याचनीय, पूजनीय तथा सबका ईष्ट देव है।[112] दयानन्द का मन्तव्य है कि आधुनिक तैंतीस करोड़ (कोटि) देवताओं की कल्पना सर्वथा निर्मूल है। कोटि का अर्थ प्रकार होता है, करोड़ नहीं।[113] व्यवहार के तैंतीस देवता निम्नलिखित हैं।[114]

आठ 'वसु'-अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः, चन्द्रमा और नक्षत्र। ग्यारह 'रुद्र'—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म. कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और जीवात्मा—इन्हें रुद्र इसलिए कहते है कि जब ये शरीर को छोड़ते हैं, तब रोदन कराते हैं। बारह 'आदित्य'—संवत्सर के बारह महीने। 'इन्द्र' तथा 'यज्ञ'। इन तैंतीस देवताओं के अतिरिक्त दयानन्द ने 'अन्न' और 'प्राण' को भी देवता कहा है। परन्तु, उपास्य देवता मात्र परमात्मा ही है। देवता मूर्तिमान तथा अमूर्तिमान होते हैं। परमेश्वर निराकार है—'न तस्य प्रतिमाऽस्ति' (यजु० 32.3.)।

अवतारवाद का निषेध :

स्वामी दयानन्द ने स्पष्ट किया है कि ईश्वर अखण्ड, अनन्त और निर्विकार होने से देह धारण नहीं करता। वह अखण्डैकरस, अच्छेद्य, अभेद्य, निष्कम्प और अचल है, इससे अंशाशिभाव भी उसमें नहीं है (यजु० 40.8)।[115] इसलिए ईश्वर का अवतार मानना वेद विरुद्ध है। रावणादिक दुष्टों के पराभव और भक्तों की मुक्ति-हेतु सर्वशक्तिमान् ईश्वर को अवतार ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह इच्छामात्र से ही सब कुछ कर सकता है।[116]

तीर्थ एवं व्रतादि का सत्यार्थ :

'तीर्थ' शब्द का अर्थ वेद अथवा ईश्वर का ज्ञान होता है। जिससे अविद्या, जन्म-मरण, हर्ष-शोकादि दुखों से तरे, उसी का नाम तीर्थ होता है। विद्याभ्यास, सुविचार, ईश्वरोपासना, धर्मानुष्ठान, सत्य का संग, जितेन्द्रियता, ब्रह्मचर्य आदि ही को तीर्थ मानना चाहिए।[117] तीर्थ नाम उनका है, जिनसे जीव दुख रूप समुद्र को तर के सुख को प्राप्त हों। अग्निहोत्र से अश्वमेवपर्यन्त किसी यज्ञ की समाप्ति पर किया जाने वाला स्नान, वैरभाव को छोड़कर प्रीतिपूर्वक सबके सुख में प्रवृत्त होना, आचार्य, माता-पिता, अतिथि तीर्थ हैं तथा सभी तीर्थों से प्राप्त होने वाला परमात्मा भी तीर्थ है। जल और स्थान विशेष में तारने का सामर्थ्य नहीं होता। काशी, प्रयाग, गंगा, यमुना, समुद्र आदि तीर्थ सिद्ध नहीं हो सकते।[118]

स्वामी दयानन्द ने अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है कि एकादशी आदि 'व्रत' वेद में कहीं पर लिखे हुए नहीं हैं, वेद में तो ब्रह्ममय सत्यभाषणादि व्रत करना लिखा है।[119] स्वामी जी ने पूना के एक प्रवचन में कंठी. माला, चन्दन आदि के सम्बन्ध में स्पष्ट किया कि तुलसी-माला, त्रिपुण्ड आदि के धारण आदि का वेद में कहीं विधान नहीं है। जो एक कंठी के संयोग से बैकुण्ठ मिल जाय, तो कण्ठियों की लड़ियाँ गले में लटकने से संसार में सुख क्यों नहीं मिलता? चन्दन-तिलक से यदि स्वर्ग मिलता है, तो सारे मुंह पर चन्दन लोपने से कुछ सुख क्यों नहीं होता? चन्दन, तिलक, कण्ठी ये सब सम्प्रदायी लोगों का द्रव्य-प्राप्त करने के साधन हैं।[120]

स्वामी दयानन्द की उपर्युक्त प्रमुख वैदिक मान्यताओं के सूक्ष्म विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि उन्हाने वेद, देवता, यज्ञ, बहुदैववाद, अवतारवाद, मूर्तिपूजा, बलि. तीर्थ आदि के विषय में अपने पूर्ववर्त्ती विनियोगवादी भाष्यकारों द्वारा इतिहास, कर्मकाण्ड एवं यज्ञपरक

तर्कहीन तथा सृष्टि-नियम के विरुद्ध स्थापित मान्यताओं एवं अर्थों का वेदशास्त्र सम्मत ढंग से खण्डन कर वेद के सत्यार्थ का प्रकाश किया है। उन्होंने पाश्चात्य वेद-भाष्यकारों द्वारा वेदादि पर लगाए गए अनर्गल आरोपों का खण्डन करते हुए एक सभा में कहा था कि, "आपके पूर्वज जंगलों में बसे अशिक्षित नहीं थे। इस संसार को जागृत करने वाले महा-पुरुष थे। आपका इतिहास पराजय की गठड़ी नहीं है। वह विश्वविजेताओं की गौरव-गाथा है। आपकी वैदिक ऋचाएँ ग्वालों के गीत नहीं हैं। श्री राम तथा श्री कृष्ण जैसी महान् आत्माओं को साकार करने वाले त्रिकालाबाध्य सत्य हैं।"[121] स्पष्ट है कि दयानन्द ने भारतीयों के समक्ष वेद के उच्चादर्शों और मर्माशय को प्रकट करते हुए उन्हें उच्छिष्ट-सेवी एवं परमुखापेक्षी न होने का उपदेश दिया है।

स्वामी दयानन्द द्वारा किए वेद-भाष्य से प्रभावित होकर ही देवेन्द्र-नाथ मुखोपाध्याय ने लिखा है कि, "मनुष्य यदि तूँ शान्ति का इच्छुक है, तो तुझे आर्षज्ञान (वेद) की महिमा समझनी होगी और आर्षज्ञान की महिमा समझने के लिए तुझे दयानन्द को भी समझना होगा।"[122] महर्षि के वेदवाद को दृष्टि में रखते हुए ही यह कहा गया है कि जिस प्रकार से धनुर्धारी कहने से राम का और चक्रधारी कहने से कृष्ण का बोध होता है, उसी प्रकार 'वेदों वाला' कहने मात्र से ही दयानन्द का बोध होता है। उनका काम वेद, संदेश वेद, जीवन वेद और मृत्यु भी वेद ही के कारण हुई।[123] स्वामी जी ने वेद को समस्त ज्ञान-विज्ञान का आगार बताते हुए नौविमादि-निर्माण, तार-विद्या, पदार्थ-विद्या, भूगोल, खगोल; अंक गणित आदि के जिन सूत्रों का संकेत किया है, कतिपय पूर्वाग्रही विद्वानों ने उसे ऋषि दयानन्द द्वारा वेदों का अति रंजित वर्णन कहा है। इस सम्बन्ध में दयानन्द के भाष्य के प्रति योगी अरविन्द द्वारा अभिव्यक्त विचार उल्लेखनीय है। उन्होंने दयानन्द द्वारा स्थापित वेदों की वैज्ञानिकता के सन्दर्भ में लिखा है कि, "दयानन्द के विचारों में मनमानी कल्पना का लवलेश भी नहीं है कि वेदों में

धार्मिक सत्य के तुल्य ही विज्ञान भी समाविष्ट है ..... मैं यह भी कहूँगा कि वेदों में एक ऐसा दिव्य विज्ञान है, जो आज के संसार के पास है ही नहीं। तब तो यह कहा जा सकता है कि दयानन्द ने वैदिक विद्या की गम्भीरता व विस्तार के विषय में अधिक नहीं, किन्तु कुछ कम ही वर्णन किया है।"[124] अरविन्द के उक्त कथन से दयानन्द पर आरोपित अतिशयतावादी मान्यताओं का खण्डन हो जाता है।

उपयुक्त कथनों और समीक्षाओं के परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि दयानन्द ने वेद-मन्त्रों का जो अर्थ किया, वह वेद-भाष्यों के क्षेत्र में एक गौरवपूर्ण क्रान्ति ही थी। लौकिक संस्कृत साहित्य और उसके व्याकरण के संस्कारों से पृथक् होकर नैरुक्तिक प्रणाली से दयानन्द ने वेद का अर्थ करते हुए उसके विकृत, हास्यास्पद, मनगढ़न्त, अश्लील एवं जुगुप्सित स्वरूप को अपने तर्क, प्रमाण एवं आर्षग्रन्थों के आधार पर समाप्त कर वैज्ञानिक एवं लोककल्याणकारी बना दिया है। वे सच्चे अर्थों में वेदोद्धारक थे। उनके लिए वैदिक धर्म ही आर्य-धर्म है। उन्होंने वेद के वैज्ञानिक रहस्यों का उद्घाटन कर उसको सर्वजन हिताय और सर्वजन सुखाय सिद्ध किया है। स्त्रियों तथा शूद्रों को वेदाध्ययन-हेतु अधिकृत करना, तत्कालीन इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना है। ऋषि का वेदवाद उनके मानववाद का प्रतीक है! वेद को मानना ही स्वधर्म है।

(vii) भारत का लूथर दयानन्द :

वेद विषयक दयानन्द की मान्यताओं को देखकर ही विभिन्न भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दयानन्द को 'भारत का लूथर' कहा गया है। फ्रान्सीसी विद्वान् रोमां रोला ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि, "वे (दयानन्द) लूथर के समान थे। जिसने अपने देश के विभ्रान्त व विपथ परिचालित रोम के चर्च के विरुद्ध आक्रमण किया था ....."वह ब्राह्मणों को 'पोप' कह कर उनका तिरस्कार करते थे। उन्होंने वेदों की देशी भाषा (हिन्दी) में व्याख्याएँ लिखीं।"[125] इसी तथ्य पर

प्रकाश डालते हुए प्रसिद्ध भारतीय इतिहासकार के० पी० जायसवाल ने भी लिखा है कि, 'स्वामी दयानन्द ने हिन्दूओं की आत्मा को उसी प्रकार स्वतन्त्रता प्रदान की, जिस प्रकार मार्टिन लूथर ने यूरोपीय आत्मा को प्रदान की थी।"[126] महान् क्रान्तिकारी पंजाब-केसरी लाला लाजपत राय ने दयानन्द को लूथर से भी महान् स्वीकार करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि, "पब्लिक की अप्रसन्नता और सर्वसाधारण के जाश से लूथर जैसे महापुरुष की आत्मा काँप गयी, किन्तु स्वामी दयानन्द ने पौराणिक मतों की राजधानियों में जाकर निरन्तर धावे पर धावे पौराणिक मत पर किए, दुर्वचन सहे, विष-भक्षण किया।"[127]

उपर्युक्त मत दयानन्द की निर्भीकता एवं साहस के साथ वेदशास्त्र-सम्मत सत्योपदेश-हेतु आजीवन संघर्ष करने, वेद-भक्ति को देश-भक्ति का पर्याय घोषित करने तथा वेदों की ओर लौट चलने का संदेश देने के परिणामस्वरूप व्यक्त किए गए हैं। जिस प्रकार लूथर ने अपने युग की अन्धमान्यताओं का दृढ़ता से खण्डन किया उसी प्रकार स्वामी जी भी सत्य-स्थापना में चक्रवर्त्ती राजा के अप्रसन्न होने की चिन्ता नहीं करते थे। बरेली की एक सभा में दयानन्द ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा था कि, "लोग कहते हैं कि सत्य को प्रकट न करो, कलक्टर क्रोधित होगा, अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीड़ा देगा। अरे, चक्रवर्त्ती राजा भी क्यों न अप्रसन्न हो, हम तो सत्य ही कहेंगे।"[128] यही नहीं, अपितु दयानन्द को सत्यापदेश-हेतु प्राण-त्यागने का भी भय नहीं था। जोधपुर निवासियों के रूखे, संवेदनहीन और क्रूर स्वभाव की ओर संकेत करते हुए जब लोगों ने उन्हें जोधपुर जाने से रोकना चाहा तो महर्षि ने अत्यन्त सरल और उद्वेगविहीन भाव से कहा कि, "यदि लोग मेरी अंगुलियों को बत्तियाँ बना कर जला दें, तो भी कोई चिन्ता नहीं है। वहाँ जाकर मैं अवश्य सत्योपदेश करूँगा।"[129] इतिहास साक्षी है कि दयानन्द ने जोधपुर जाकर सत्योपदेश करने, राजा यशवन्त सिंह के वेश्यावृत्ति की स्पष्ट निन्दा करने आदि के फलस्वरूप प्राणोत्सर्ग कर दिया।

प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् एच० डी० ग्रिसवॉल्ड ने दयानन्द को भारत में आध्यात्मिक जागृति का मार्टिन लूथर स्वीकार करते हुए लिखा है कि, "दयानन्द सरस्वती और मार्टिन लूथर में कई समानताएँ हैं। जर्मन संन्यासी लूथर यूरोपीय नवजागरण के यिशु थे, तो गुजराती संन्यासी दयानन्द भारतीय नवजागरण के। दोनों ही अपने-अपने ढंग से नूतन प्रबाह के प्रतिनिधि बने। लूथर ने क्षमा-पात्रों पर प्रहार किया, ते दयानन्द ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध आवाज उठायी .....लूथर का नारा था 'बाइबिल की ओर मुड़ो', तो दयानन्द का नारा था 'वेदों की ओर लौटो'।"[130] दयानन्द के सम्बन्ध में पाश्चात्य विचारक की उपर्युक्त अवधारणा उनके 'लूथर' कहे जाने की अर्थवत्ता को स्पष्ट कर देती है। दयानन्द वेद को सार्वजनिक जीवन का अभिन्न अंग बनाने के लिए आजीवन कटिबद्ध रहे तथा ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता से कभी नहीं डरे। उनकी सत्य कटूक्तियों ने उनके व्यक्तित्व को निभ्रान्त बना दिया है।

(viii) वेद-भक्ति और राष्ट्र-भक्ति एक दूसरे के पूरक :

स्वामी दयानन्द के वेद-भाष्य की पृष्ठभूमि में उनकी देश-भक्ति की भावना निहित थी। उन्होंने वेद-मन्त्रों की जो व्याख्याएँ की हैं, उनके अवलोकन से उक्त तथ्य सिद्ध हो जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उनकी सम्पूर्ण राजनीतिक विचारधारा एवं मान्यताओं की पुष्टि-हेतु दिए गए वेद-भाष्य के मन्त्रों के सन्दर्भ से यह बात स्पष्ट हो जाती है। अपने ग्रन्थ 'आर्याभिविनय' में ऋषि ने जिन आध्यात्मिक प्रार्थनाओं का उल्लेख किया है, वे समस्त ईश्वर और उसकी सृष्टि-व्यवस्था के साथ-साथ राजा और उसकी राज्य-व्यवस्था से भी सम्बन्धित है। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए सत्यदेव विद्यालंकार ने लिखा है कि, "वेद-मन्त्रों की राष्ट्रीय भावना परक व्याख्या करने वाले वे (दयानन्द) पहले ऋषि हैं। अपने आराध्य देव ईश्वर को राजा, महाराजा, महाराजाधिराज तथा सम्राट आदि के नामों से आराधना करने की सुन्दर एवं

उत्कृष्ट परम्परा के सूत्रपात करने से भी उनकी राष्ट्रीय भावना का प्रत्यक्ष परिचय मिलता है।"[131] लाला लाजपत राय ने भी दयानन्द के वैदिक धर्म-प्रचार के पीछे निहित उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि, "महर्षि दयानन्द भारतीयों को शुद्ध वैदिक धर्म के उपदेश द्वारा लोगों के संसार के मिथ्या होने के विचार को समाप्त कर पराक्रमी, पुरुषार्थी, तेज-ओज तथा बुद्धि-मेधा से देश-हित और जाति-हित में संलग्न करना चाहते थे।"[132]

स्वामी दयानन्द के वैदिक राष्ट्रवाद को स्पष्ट करते हुए ग्रिसवॉल्ड ने लिखा है कि, "पण्डित दयानन्द का उद्घोष था, 'वेदों की ओर वापस चलो'। इस धार्मिक उद्घोष के साथ स्पष्टतः न सही, यह उद्घोष भी संयुक्त था कि 'भारत भारतीयों के लिए है' आर्य समाज के संस्थापक का यह मत था कि वेदों की विशुद्ध शिक्षाओं को अपना लेने पर भारतीय लोग धीरे-धीरे इस योग्य हो जायेंगे कि अपना शासन स्वयं कर सकें और इस प्रकार अन्ततोगत्वा उन्हें पूर्ण स्वाधीनता भी प्राप्त हो जाएगी।"[133] पाश्चात्य विद्वान् के उक्त कथन से भी स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्द के वेदार्थ का प्रमुख प्रयोजन स्वदेशवासियों में स्वाभिमान पैदा करना था, जिससे कि स्वराज्य-प्राप्ति की उनमें पात्रता आ जाय।

उपर्युक्त समस्त उक्तियों एवं समीक्षाओं के प्रकाश में स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्द ने वैदिक धर्म को ही मानव का सच्चा धर्म माना है। उन्होंने वैदिक धर्म-रक्षा द्वारा राष्ट्र-रक्षा का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। दयानन्द ने भारतीयों को मात्र राष्ट्र-धर्म ही नहीं, अपितु राज-धर्म की भी शिक्षा वेद के माध्यम से दी है। पराधीन और पराभूत भारत में महर्षि दयानन्द के आध्यात्मिक राष्ट्रवादी वैदिक संदेश से एक प्रचंड चेतना और शक्ति का संचार हुआ, जिसके परिणामस्वरूप स्वामी श्रद्धानन्द एवं पंजाब-केशरी लाला लाजपत राय सदृश अनेकशः

क्रान्तिदूतों का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने वेद-भक्ति के साथ-साथ राष्ट्र-भक्ति की भी अलख जगायी।

(द) स्वराज्य :

सन् 1857 ई० के प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम की विफलता के पश्चात् ब्रिटिश शासन द्वारा भारतीय जनता पर किए गए बर्बरता-पूर्ण पाशविक अत्याचार के फलस्वरूप दयानन्द कालीन भारत में सर्वत्र श्मशान-तुल्य नीरवता छा गयी थी तथा सम्पूर्ण राष्ट्र स्तब्ध, आत्महीन और किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया था। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि निकट भविष्य में ब्रिटिश-राज्य का कोई विकल्प नहीं है। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए गोपाल कृष्ण गोखले ने कहा था कि, "केवल पागलखाने के आगे खड़ा व्यक्ति ही स्वतन्त्रता की बात सोच या कह सकता है, ब्रिटिश-शासन का कोई विकल्प नहीं है, न अभी, न भविष्य में काफी समय तक .....।"[184] स्पष्ट है कि तत्कालीन परिस्थिति में स्वतन्त्रता, स्वराज्य अथवा स्वशासन के विषय में कोई सोच भी नहीं सकता था। ऐसी विषम स्थिति में, सक्रिय राजनीति में भाग न लेते हुए भी, स्वामी दयानन्द ने ही सर्वप्रथम सम्पूर्ण भारत में स्वतन्त्रता और स्वराज्य का नारा लगाया।

(i) स्वराज्य का अर्थ :

स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों तथा प्रवचनों में जिस स्वराज्य का वर्णन किया है, वह सच्चे अर्थों में स्वतन्त्रता और स्वशासन का समुच्चय है। उनकी स्वाधीनता की कल्पना 'स्व' की नैसर्गिक अभिव्यक्ति एवं नैतिक चयन से अनुप्राणित कर्म और चिन्तन की स्वतन्त्रता के संकल्प पर आधारित है।[185] दयानन्द ने जनवरी, सन् 1873 ई० में कलकत्ता के वायसराय, लार्ड नार्थ ब्रुक से स्वराज्य के सम्बन्ध में कहा था कि, "मेरे देशवासियों को अबाध राजनीतिक उन्नति और संसार के राज्यों में समानता का दर्जा पाने के लिए शीघ्र पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए।"[186] दयानन्द द्वारा निर्भीकता एवं साहसपूर्ण ढंग से स्व-

तन्त्रता और सम्प्रभुता की माँग से हतप्रभ ब्रुक ने पूरी घटना का विवरण ब्रिटिश प्रधानमन्त्री और सेक्रेटरी ऑफ इंग्लैण्ड के सूचनार्थ प्रेषित करते हुए यह सूचित किया कि उसने इस 'बागी फकीर' की कड़ी निगरानी-हेतु गुप्तचर नियुक्त करने का आदेश निर्गत कर दिया है।[137] परन्तु, स्वामी दयानन्द की शोधपरक जीवनी के विद्वान् लेखक डॉ० भवानी लाल भारतीय ने अंग्रेज वायसराय से हुई दयानन्द की उक्त वार्ता को मिथ्या और कल्पनाश्रित माना है।[138] तथापि, इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि दयानन्द के हृदय में स्वाधीनता और स्वराज्य-हेतु उत्कट अभिलाषा थी, जिसका सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है--मूर्तिपूजा के खण्डन से रुष्ट ब्राह्मण द्वारा विष दिए जाने पर भी दयानन्द का यह कह कर उसे मुक्त करा देना कि, "मैं दुनियाँ को कैद कराने नहीं, अपितु उसे कैद से छुड़ाने आया हूँ।"[139] इस कथन से स्पष्ट है कि दयानन्द स्वराज्य और स्वतन्त्रता को अपने जीवन का लक्ष्य मानते थे।

स्वामी दयानन्द के स्वराज्य की संकल्पना को स्पष्ट करते हुए उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचन्द्र ने कहा है कि, "स्वराज्य का स्वरूप महर्षि के लिए विदेशी नहीं, अपितु स्वदेशी था। उसकी सूरत आर्यावर्त्त की अन्तरात्मा और हजारों वर्षों के पुराने उत्तमोत्तम गुणों एवं भावों के अनुसार थी।"[140] प्रेमचन्द्र द्वारा व्याख्यायित दयानन्द की स्वराज्य की अवधारणा की पुष्टि दयानन्द प्रतिपादित राज्य-व्यवस्था के सिद्धान्तों से हो जाती है। वस्तुतः, दयानन्द के समूचे राज-दर्शन का आदर्श स्वराज्य है तथा राजा, सभा, मन्त्री, न्याय, अर्थ एवं रक्षा-व्यवस्था आदि उस आदर्श राज्य की स्थापना के साधन हैं।

(ii) दयानन्द द्वारा भारत की पराधीनता के कारणों पर विचार :

स्वामी दयानन्द ने स्वराज्य की संकल्पना के परिप्रेक्ष्य में एक कुशल चिकित्सक की भाँति सर्वप्रथम भारतीयों की पराधीनता के कारणों

को स्पष्ट किया है, जिसके दूर करने पर ही स्वराज्य की प्राप्ति सम्भव हो सकती है। उन्होंने स्वदेश की स्थिति पर दुख व्यक्त करते हुए लिखा है कि, "आर्यावर्त्त देश पर मुझ को बहुत पश्चाताप है, क्योंकि इस देश में प्रथम बहुत सुखों और विद्याओं की उन्नति थी ... . सो देश इस वक्त ऐसा बिगड़ा है कि इतना बिगाड़ कोई देश में देखने में नहीं आता ... . ।"[141] दयानन्द ने भारत की इस दैन्यावस्था का प्रमुख कारण भारतीयों के आलस्य, प्रमाद, अविद्या, सामाजिक कुरीतियाँ, मूर्तिपूजा, धार्मिक अन्धविश्वास, दुगर्गुणों एवं दुर्व्यसनों में वृद्धि, मिथ्याडम्बर, पशु-हिंसा, मांस-भक्षण, मादक द्रव्यों का सेवन, दशाटन एवं समुद्रादि-यात्रा-निषेध आदि को बताया है।[142] इन कारणों की समाप्ति-हेतु ही दयानन्द ने वेद का आश्रय लेकर सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक अन्धविश्वासों एवं मानव की चारित्रिक दुर्बलताओं के परिशोधन का सार्थक प्रयास किया है।

दयानन्द ने भारत की परतन्त्रता का एक प्रमुख कारण भारतीयों के पारस्परिक वैमनस्य एवं फूट को बताया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि, "जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है .... आपस की फूट से कौरव-पांडव और यादवों का सत्यानाश हो गया, सो तो हो गया, परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है ... . परमेश्वर कृपा करे कि यह राज-रोग हम आर्यों में से नष्ट हो जाय।"[143] इसी मन्तव्य को पुनः स्पष्ट करते हुए लिखा है कि, "अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद,, परस्पर-विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी, किन्तु आर्यावर्त्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय-राज्य इस समय नहीं है ... .।[144]" दयानन्द के इन कथनों से स्पष्ट हो जाता है कि अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज्य करो' की दुर्नीति से वे पूर्णतया अवगत थे।

स्वामी दयानन्द देशी राजों-महाराजों के भोग-विलास में आकण्ठ

निमग्न तथा चाटुकारों से आवृत्त रहने को भी भारत को परवशता-हेतु उत्तरदायी मानते थे। उन्होंने एक प्रवचन में कहा भी था कि, "इन दिनों हमारे राजा लोगों को खुशामदियों को चाण्डाल-चौकड़ी ने घेर रखा है, तो फिर सहज ही राजाओं में सारे दुर्गुण वास करें, इसमें आश्चर्य ही क्या है ?"[145] यह सर्वविदित है कि राजा को दुर्व्यसनों तथा वेश्यावृत्ति आदि से विरत रखने के लिए दयानन्द ने अपना प्राणोत्सर्ग भी कर दिया था, जो उनके देश-प्रेम और स्वराज्य की उत्कट आकांक्षा का द्योतक है।

(iii) स्वराज्य-प्राप्ति-हेतु दयानन्द के कार्य :

स्वामी दयानन्द ने भारत की परतन्त्रता के कारणों का उल्लेख करके ही देश-सेवा के अपने कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं कर दी है, अपितु उन्होंने उन कारणों को समाप्त करने और स्वतन्त्रता-प्राप्ति-हेतु स्तुत्य कार्य भी किया है। इस क्षेत्र में दयानन्द द्वारा उठाए गए पग को निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है :

(क) स्वराज्य-हेतु ईश्वर से प्रार्थना :

स्वामी दयानन्द का मत था कि स्वाधीनता सबसे बड़ा सुख है और पराधीनता ही सबसे बड़ा दुख। अतः, उन्होंने अपने ग्रन्थ 'आर्याभिविनय' में ईश्वर से की गई आध्यात्मिक प्रार्थनाओं में भी स्वतन्त्रता और स्वराज्य की माँग की है। उन्होंने ईश्वर से यह याचना की है कि, "अन्य देशीय राजा हमारे देश में कभी न हों तथा हमलोग पराधीन कभी न हों।"[146] पुनश्च, "हे कृपासिन्धो भगवान ! हम पर सहाय करो, जिससे सुनीतियुक्त होके हमारा स्वराज्य अत्यन्त बढ़े।[147] दयानन्द द्वारा की गई उपर्युक्त प्रार्थनाओं से स्पष्ट है कि वे देश को स्वतन्त्र कराने के लिए उद्विग्न थे। कौपीनधारी वैरागी संन्यासी द्वारा ईश्वर से अपने मोक्ष की प्रार्थना के स्थान पर देश-मुक्ति की प्रार्थना करना उसके राष्ट्र-प्रेम का ज्वलन्त प्रमाण है।

(ख) ब्रिटिश शासन-व्यवस्था की आलोचना :

भारत में अंग्रेजी शासन के आतंकपूर्ण एवं न्याय-धर्म से हीन नीतियों की आलोचना द्वारा दयानन्द ने स्वराज्य की महत्ता को प्रतिपादित किया है। उनका स्पष्ट मत है कि, "जब से विदेशी मांसाहारी इस देश में आके गौ आदि पशुओं के मारने वाले मद्यपायी राज्याधिकारी हुए हैं, तब से क्रमशः आर्यों के दुख की बढ़ती होती जाती है।"[148] स्वामी दयानन्द ने अपने अप्रतिम ग्रन्थ 'सत्यार्थ-प्रकाश' के प्रथम संस्करण (सन् 1875 ई०) में अंग्रेजों द्वारा जंगली लकड़ी और नमक पर लगाए गए करों को अनावश्यक और अनौचित्य-पूर्ण बताते हुए लिखा है कि, "एक तो यह बात है कि नोन और पौन रोटी में जो कर लिया जाता है, मुझको अच्छा मालूम नहीं होता, क्योंकि नोन के बिना दरिद्र का भी निर्वाह नहीं·····।"[149] इसी संस्करण में दयानन्द ने अंग्रेजी सरकार द्वारा अदालती कागजों की मूल्य-वृद्धि की भी आलोचना की है। इस प्रकार स्पष्ट है कि महर्षि ने सन् 1875 ई० में ही नमक-कर का विरोध किया था, जिसकी पुनरावृत्ति महात्मा गाँधी ने लगभग पचास वर्ष पश्चात् सन् 1930 ई० में अवज्ञा आन्दोलन के समय नमक-कानून तोड़कर किया।

स्वामी दयानन्द ने अंग्रेजों की न्यायिक दुर्व्यवस्था को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि, "ईसाई लोग ईसाइयों का बहुत पक्षपात कर किसी गोरे ने काले को मार दिया हो, तो भी बहुधा पक्षपात से निरपराधी कर छोड़ देते हैं।"[150] इसी प्रकार महर्षि ने अंग्रेजों की धनलोलुपता के सम्बन्ध में यह उपमा दी है कि, "ईसाई लोग परदेशियों के माल पर ऐसे झुंकते हैं, कि जानो प्यासा जल पर, भूखा अन्न पर।"[151] महर्षि ने अंग्रेजों की न्याय, अर्थ तथा विधि-व्यवस्था की ही आलोचना नहीं की है, वरन् उन्होंने स्वराज्य की तुलना में उनके श्रेष्ठ राज्य को भी हीन माना है। प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम की विफलता के पश्चात् अंग्रेज महारानी विक्टोरिया द्वारा स्वतन्त्रता, समानता तथा न्याय का

आश्वासन दिए जाने पर, महारानी की जय-जयकार कर रही भारतीय जनता को समझाते हुए दयानन्द ने कहा कि, "कोई कितना ही करे, परन्तु जो 'स्वदेशीय राज्य' होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है..... प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।"[152] स्वामी जी के उक्त वाक्य में निहित स्वतन्त्रता और स्वदेशीय राज्य (स्वराज्य) की संकल्पना से स्पष्ट है कि उन्होंने अंग्रेजों के राज्य में ही उनका प्रबल प्रतिवाद उस समय ही कर दिया था, जब देश की स्वतन्त्रता की बात करना मृत्यु को निमन्त्रण देने के तुल्य समझा जाता था।

स्वामी दयानन्द के उपदेशों एवं कृतियों में विद्यमान विदेशी शासन के प्रति आक्रोश एवं स्वराज्य-प्राप्ति-हेतु व्यक्त विचारों के आधार पर सन् 1902 ई० में आला राम नामक एक संन्यासी द्वारा दयानन्द के विचारों पर 'राजद्रोह' का आरोप लगाते हुए न्यायालय में अभियोग लाया गया। इस याचिका पर इलाहाबाद के जिला मजिस्ट्रेट मि० हैरिसन ने यह निर्णय दिया था कि संन्यासी आला राम द्वारा आरोपित राजद्रोह की पुष्टि, दयानन्द की कृतियों एवं उपदेशों के अध्ययन से नहीं होती है। न्यायाधीश ने कहा कि, "..... इन उद्धरणों में कहीं भी विद्रोह की उत्तेजना के कोई चिह्न नहीं मिलते ..... दयानन्द की शिक्षाओं का मुख्य लक्ष्य मुझे यह प्रतीत होता है कि ऐसे सुधारों के लिए प्रेरणा दी जाय, जिनसे कि अन्ततोगत्वा देश का शासन देश के वासी स्वयं करने के योग्य हो जाँय ..... दयानन्द के लेखों में न हथियार उठाने की प्रेरणा है और न युद्ध का बिगुल बजाया गया है। गो-रक्षा की ओर संकेत भी मुझे अपने-आप में राजद्रोह के उत्तेजक प्रतीत नहीं होते।"[153] मि० हैरिसन के उपर्युक्त निर्णय से स्पष्ट होता है कि जब 1902 ई० में 'सत्यार्थप्रकाश' के उद्धरणों पर आरोप लगाया गया था, तब अंग्रेज अधिकारियों में आर्यसमाज के प्रति वह बिरोधी भावना उत्पन्न नहीं हो सकी थी, जो कालान्तर में प्रबल रूप से दिखायी देने लगी। वस्तुतः

स्वराज्य को राजद्रोह की संज्ञा सन् 1930 में स्वराज्य शब्द के राजनीतिक प्रयोग के पश्चात् ही दी जाने लगी। सम्भवतः, यही कारण है कि न्यायाधीश मि० हैरिसन ने दयानन्द और आर्यसमाज के पक्ष में निर्णय दिया था।

(ग) भारत के गौरवशाली अतीत की पुनर्व्याख्या :

स्वामी दयानन्द को यह देखकर अत्यन्त दुख होता था कि भारत के पढ़े-लिखे लोग भी अंग्रेजों के विभिन्न वैज्ञानिक आविष्कारों से चमत्कृत होकर उसे भारत के लिए ईश्वरीय वरदान समझने लगे हैं। अतः उन्होंने भारत के गौरवपूर्ण अतीत की पुनर्व्याख्या कर लोगों में आत्मसम्मान का भाव जागृत किया। उन्होंने भारत के सम्बन्ध में लिखा है कि, "यह आर्यावर्त्त देश ऐसा है, जिसके सदृश भूगोल में कोई दूसरा देश नहीं है। .... आर्यावर्त्त देश ही सच्चा पारसमणि है कि जिसको लोहे दरिद्र विदेशी छूते के साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।"[164] दयानन्द ने भारत की आर्थिक सम्पन्नता का ही वर्णन नहीं किया है, अपितु उसे जगद्गुरु की संज्ञा भी दी है। उन्होंने अपने विभिन्न ग्रन्थों एवं प्रवचनों आदि में तोप-बन्दूक आदि शस्त्रों, विज्ञान, गणित, नौविमानादि यानों के निर्माण की विधि, भाफ के प्रयोग, तारविद्या आदि आधुनिकतम आविष्कारों को वेद-मन्त्रों के सन्दर्भ द्वारा सम्पूर्ण देशवासियों के समक्ष यह तथ्य प्रस्तुत किया कि आज जिन वैज्ञानिक उपलब्धियों पर पाश्चात्य वैज्ञानिक गर्व करते हैं और हम भारतीय भी उनकी प्रशंसा करते हुए नहीं थकते, वे समस्त ज्ञान-विज्ञान प्राचीन काल से ही आर्यावर्त्त देश जौर दर्शन (वेद) में विद्यमान हैं। यही नहीं, अपितु, "जितनी विद्या भूगोल में फैली है, वह सब आयावर्त्त देश से मिस्र वालों, उनसे यूनानी, उनसे रूम और उनसे यूरोप देश में, उनसे अमेरिका आदि देश में फैली है।"[165] स्पष्ट है कि सम्पूर्ण देशों की विद्याओं का मूल स्रोत भारत-देश ही है।

उल्लेखनीय है कि स्वामी दयानन्द द्वारा भारत के अतीत का गौरव-

गान तथा वेद को विज्ञान का आगार बताना कथमपि अतिरंजित नहीं है, क्योंकि अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भी भारतीय गौरव एवं वैदिक ज्ञान की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इसी प्रसंग में थारन्टन ने 'ब्रिटिश भारत का इतिहास' नामक अपनी पुस्तक में लिखा है कि, जब नील नदी की घाटी पर तुच्छता का दृष्टिपात करने वाली पिरामिडों की सृष्टि नहीं हुई थी, जब यूरोपियन सभ्यता के पालने माने जाने वाले यूनान और रोम बिल्कुल असभ्य अवस्था में थे, तब भारतवर्ष धन और वैभव का धाम था।"[56] इसी प्रकार लूईस जकोलियोट ने 'बाइबिल इन इण्डिया' के पृष्ठ 51 पर लिखा है कि, "भारत संसार का सुन्दर भूगा है। वहीं से सबकी माता-मातृभूमि ने अपने बच्चों को बहुत दूर पश्चिम को भेजा है और अपना मातृ-भाव याद दिलाने के लिए अपनी भाषा, नियम, आचार, साहित्य और धर्म-धन की मानो विरासत दी है।[57] उक्त दोनों कथनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत प्राचीन काल से ही विद्या और धन के क्षेत्र में अग्रगण्य रहा है। विश्व की सम्पूर्ण सभ्यताओं में भारत की सभ्यता सर्वाधिक पुरातन है।

(घ) धर्माडम्बरों एवं सामाजिक कुरीतियों का खण्डन :

स्वराज्य-प्राप्ति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा धार्मिक अन्धविश्वास और सामाजिक दुष्प्रवृत्तियाँ थीं। अतः दयानन्द ने उन सबका वेद शास्त्र सम्मत एवं तर्कपूर्ण ढङ्ग से खण्डन किया है। वे जीवन पर्यन्त स्वराज्य-प्राप्ति के लिए भारतीय राजाओं एवं जनता के चरित्र-निर्माण-हेतु प्रयत्न-शील रहे। उनका विश्वास था कि भारतवासी राज-प्रजा जन अपनी सम्पूर्ण धार्मिक एवं सामाजिक दुर्बलताओं से मुक्ति प्राप्त कर लें, तो उनमें स्वराज्य-प्राप्ति की पात्रता अवश्यमेव आ जाएगी। इस कार्य के लिए उन्होंने आलसी, अकर्मण्य एवं परजीवी बने हुए साधुओं-संन्यासियों को प्रेरणा दी। उन्होंने लिखा है कि, "ये संन्यासी लोग ऐसा समझते हैं कि हमको खण्डन-मण्डन से क्या प्रयोजन ? हम तो महात्मा हैं। ऐसे लोग भी संसार में भारस्वरूप होते हैं ....जब लों वर्त्तमान और

भविष्यत् में संन्यासी उन्नतिशील नहीं होते, तब लों आर्यावर्त्त और अन्य देशस्थ मनुष्यों की वृद्धि नहीं होती।"[158] इस कथन से स्पष्ट होता है कि दयान्द ने देश की स्वतन्त्रता के लिए साधु-संन्यासियों का भी आह्वान किया है। उनका समस्त मानव-जाति से आग्रह था कि, "जिस प्रकार से स्वाधीन होके सब लोग सदा सुखी रहें, वैसा ही यत्न करते रहो।"[159] पुनश्च, "मनुष्यों को चाहिए कि पुरुषार्थ करने से पराधीनता छुड़ाके स्वाधीनता को निरन्तर स्वीकार करें (यजु० भा० 15.5)।"

दयानन्द द्वारा भारतीय स्वतन्त्रता और स्वराज्य के प्रति किए गए स्तुत्य कार्यों के परिणामस्वरूप विभिन्न भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम सेनानियों एवं राजपुरुषों ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। सी० एस० रंगा अय्यर ने कहा था कि, "मैंने स्वराज्य का रहस्य सत्यार्थप्रकाश में पाया।"[160] विपिन चन्द्र पाल ने दयानन्द को 'स्वतन्त्रता का देवता'[161] कहा है, तो श्रीमती एनी बेसेण्ट का कथन है कि, "जब स्वराज्य का मन्दिर बनेगा, तो उसमें बड़े-बड़े नेताओं की मूर्तियाँ होंगी और सबसे ऊँची मूर्ति दयानन्द की होगी।"[162] यही नहीं, अपितु भारतीय नेशनल कांग्रेस के जन्मदाता अंग्रेज अधिकारी मिस्टर ह्यूम ने महर्षि दयानन्द से प्रभावित होकर यहाँ तक कहा है कि, स्वामी दयानन्द इतना बड़ा आदमी है कि मैं उसके पैर के बूटों के तस्में खोलने की भी योग्यता नहीं रखता।"[163]

उपर्युक्त कथनों एवं समीक्षाओं के प्रकाश में यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी दयानन्द ही भारतीय स्वराज्य के अग्रदूत थे। उन्होंने ही विशाल तथा अजेय समझी जानेवाली विदेशी सत्ता एवं सभ्यता को चुनौती देने के लिए भारतीयों को प्रेरित एवं आत्मान्वेषण-हेतु अपनी वैदिक एवं तर्कपूर्ण उपपत्तियों द्वारा बाध्य किया। भारत के गौरवमय अतीत को वर्त्तमान् से संयुक्त कर वस्तु-स्थिति को प्रस्तुत करते हुए भारतीयों की सुप्त चेतना और स्वदेशाभिमान को जागृत किया। ऐति-

हासिक रूप से भारतीय राजनीति में स्वराज्य-प्राप्ति-हेतु संगठित रूप में प्रयास सन् 1885 ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के साथ प्रारम्भ किया गया। सन् 1906 ई०! में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में दादा भाई नौरोजी ने प्रथमतः 'स्वराज्य' तथा 'भारतवर्ष भारतीयों के लिए' का नारा दिया था। पूर्ण स्वराज्य की माँग तो सन् 1929 ई० के अन्त में, लाहौर में रावी नदी के तट पर की गयी थी। परन्तु, स्वराज्य विषयक उपर्युक्त प्रयासों के लगभग पचास वर्ष पूर्व ही स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' (सन् 1875 ई०) में स्वराज्य शब्द के लिए स्वदेशीय राज्य' तथा 'आर्याभिविनय' (सन् 1876 ई०) में 'स्वराज' शब्द का प्रयोग किया है। यही नहीं. अपितु सन् 1875 ई० में ही आर्यावर्त्त आर्यों के लिए है' का नारा भी लगाया था। अतः, निस्संकोच कहा जा सकता है कि दयानन्द ही 'स्वराज्य' के सर्वप्रथम उद्घोषक एवं संदेशवाहक हैं। उन्हें यूरोपीय वैज्ञानिक आविष्कार व्यामोहित नहीं कर सके। उनकी स्वराज्य की संकल्पना को स्वदेशी की अवधारणा का पूरक माना जा सकता है।

(य) चक्रवर्ती आर्य-राज्य :

स्वामी दयानन्द ने भारतवर्ष के सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न और स्वतन्त्र स्वरूप की ही कल्पना नहीं की थी, अपितु उन्होंने एक विश्व-संगठन की स्थापना-हेतु चक्रवर्ती आर्य-राज्य के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया है, जो समस्त स्वतन्त्र राज्यों के मध्य सहयोग, समरसता, सामंजस्य एवं विश्व शांति बनाए रखेगा। दयानन्द की सार्वभौम चक्रवर्त्ती-आर्य-राज्य की अवधारणा को इस प्रकार समझा जा सकता है—

(i) चक्रवर्ती आर्य-राज्य की संकल्पना के आधार :

दयानन्द की इस संकल्पना के प्रमुख दो आधार थे—वैदिक ऋचाएँ एवं भारत का गौरवपूर्ण अतीत। वेद के विभिन्न मन्त्रों के भाष्य में दयानन्द ने चक्रवर्त्ती राज्य के सम्बन्ध! में संकेत किया है। यह भी

मान्यता है कि ऋषि को इस सिद्धान्त की प्रेरणा मनुस्मृति से प्राप्त हुई है। परन्तु, आचार्य प्रियव्रत का मत है कि महर्षि दयानन्द की सार्वभौम चक्रवर्त्ती राज्य की संकल्पना अथर्ववेद के 'इन्द्रेन्दसूक्त' (अथर्व०-3.4) तथा अथर्ववेद की मन्त्र संख्या 8.10.12 में आए 'आमन्त्रण' शब्द से उद्भूत है। मनुस्मृति (7.114-120 , चक्रवर्त्ती महाराज सभा का कहीं कोई उल्लेख नहीं है।[164] अथर्ववेद (8.10 12) में बताया गया है कि राज्य की उत्क्रान्ति (विकास) की अन्तिम अवस्था 'आमन्त्रण' होती है। सम्भवतः 'आमन्त्रण' शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण विश्व के सार्वभौम राज्यों की ऐसी सभा के लिए हुआ है, जो विभिन्न स्वतन्त्र राज्यों के पारस्परिक विवादों-विरोधों की समाप्ति-हेतु आहूत की जाती रही है।[165] महर्षि-प्रतिपादित चक्रवर्ती राज्य का आधार वेद अथवा मनुस्मृति में से जो भी रहा हो, परन्तु यह निर्विवाद है कि वह आर्य-धर्म, सभ्यता, संस्कृति एवं मूल्यों से युक्त एक प्रभुता-सम्पन्न राज्य है।

स्वामी दयानन्द ने चक्रवर्त्ती आर्य-राज्य को प्राचीन भारत की गौरवपूर्ण व्यवस्था माना है। उनका मत है कि यह व्यवस्था भारत के लिए अभिनव नहीं है, अपितु, "सृष्टि से ले के पाँच सहस्र वर्षों से पूर्व समय पर्यन्त आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्त्ती अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि एक मात्र राज्य था। अन्य देश में माण्डलिक अर्थात् छोटे-छोटे राजा रहते थे .....सुनो, चीन का भगदत्त, अमेरिका का बभ्रुवाहन, यूरोप देश का विडालाक्ष अर्थात् मार्जार के सदृश आँख वाले, यवन जिसको यूनान कह आए और ईरान का शल्य आदि सब राजा राजसूय यज्ञ और महाभारत युद्ध में सब आज्ञानुसार आए थे। जब रघुगण राजा थे, तब रावण भी यहाँ के आधीन था .....स्वायंभुव राजा से लेकर पांडव पर्यन्त आर्यों का चक्रवर्त्ती राज्य था। तत्पश्चात् आपस के विरोध से लड़ कर नष्ट हो गए.....।"[166] महर्षि के उक्त कथन से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत का इतिहास चक्रवर्त्ती राज्य-व्यवस्था का इतिहास रहा है, परन्तु यह आपसी विरोध, फूट, आलस्य, प्रमाद, अन्याय, अभिमान, अविद्या

विषयासक्ति, सामाजिक कुरीतियों तथा धार्मिक मिथ्याडम्बरों के फल-स्वरूप नष्ट-भ्रष्ट हो गया। यथार्थवादी एवं आशावादी विचारक होने के कारण दयानन्द का विश्वास था कि यदि उक्त दुष्प्रवृत्तियों एवं बुराइयों पर वेदोक्त धर्म के अनुसरण द्वारा विजय प्राप्त कर ली जाय, तो स्वराज्य ही नहीं, अपितु चक्रवर्त्ती राज्य भी प्राप्त हो सकता है।

(ii) आर्य और आर्यावर्त्त शब्द का अर्थ ;

स्वामी दयानन्द ने चक्रवर्त्ती राज्य के साथ 'आर्य' शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना त्रुटिपूर्ण होगा कि 'आर्य' शब्द का प्रयोग मात्र भारतीयों के लिए ही किया गया है। दयानन्द के विचार इतने संकुचित नहीं थे। उन्होंने 'आर्य शब्द का प्रयोग किसी जाति, धर्म या स्थान विशेष से जुड़े लोगों के लिए नहीं किया है, प्रत्युत् उनके लिए यह शब्द कतिपय गुणों का समुच्चय है, जिनमें विद्याधर्मादि उत्कृष्ट गुणकर्म स्वभाव आदि प्रमुख हैं। 'आर्य' अर्थात् श्रेष्ठ, विद्वान्, सुज्ञ तथा देव और 'अनार्य' अर्थात् दुष्ट, अविद्वान्, मूर्ख तथा दस्यु होता है।[167] दूसरे शब्दों में जो रूप-रंग, आकृति-प्रकृति, सभ्यता-शिष्टता, धर्म-कर्म, ज्ञान विज्ञान, आचार-विचार तथा शील-स्वभाव में श्रेष्ठ हों, उन्हें आर्य कहा जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि उन्होंने 'आर्य' शब्द का व्यापक अर्थों में प्रयोग किया है। उनकी शिक्षाएँ मात्र भारतीयों के लिए ही नहीं, अपितु समस्त मानवजाति-हेतु थीं। वे अपने आर्यत्व के संदेश द्वारा विश्व के प्रत्येक व्यक्ति को श्रेष्ठ, विद्वान्, धर्मात्मा तथा शिष्ट बनाना चाहते थे। भारत के सम्बन्ध में चक्रवर्त्ती राज्य-हेतु विशेष आग्रह सम्भवतः इसलिए था कि, चूँकि अतीत में आर्यों का सार्वभौमिक राज्य स्थापित था, अतः भविष्य में भी उनके द्वारा इस प्रकार के राज्य की स्थापना की जा सकती है।

स्वामी दयानन्द का यह भी आग्रह था कि भारतीय जन 'हिन्दु' और 'हिन्दुस्तान' के स्थान पर 'आर्य' तथा 'आर्यावर्त्त' शब्दों का प्रयोग

करें, क्योंकि, "हिन्दू' शब्द का अर्थ काला, काफिर, चोर ऐसा और 'हिन्दुस्तान' अर्थात् काले, काफिर, चोर लोगों की जगह अथवा देश, ऐसा अर्थ होता है। उसका इस प्रकार का बुरा नाम क्यों ग्रहण करते हो ?'·[168] दयानन्द ने आर्यावर्त्त के सम्बन्ध में स्पष्ट किया है कि आर्यों के यहाँ वसने से आर्यावर्त्त नाम पड़ा है। आर्य लोग सृष्टि की आदि में कुछ काल के पश्चात् तिब्बत से, सब भूगोल में उत्तम इस भूमि के खण्ड को जानकर, यहीं आकर बसे। हिमाचल, विन्ध्याचल, सिन्धुनदी और ब्रह्मपुत्र नदी इन चारों के बीच और जहाँ तक उनका विस्तार है, उनके मध्य जो देश है, उसका नाम आर्यावर्त्त है।[169] अतः, हमें अपनी गौरव-मयी परम्परानुसार 'आर्य' और 'आर्यावर्त्त' शब्द का ही प्रयोग करते हुए, आर्यत्व की वेदोक्त रीति से प्राप्ति कर चक्रवर्त्ती राज्य की स्थापना-हेतु प्रयास करना चाहिए।

(iii) चक्रवर्त्ती राज्य-स्थापना-हेतु आवश्यक शर्तें :

स्वामी दयानन्द वे चक्रवर्ती राज्य की स्थापना के सम्बन्ध में मुख्य रूप से दो प्रकार की आवश्यकताओं पर बल दिया है—ईश्वर की कृपा और परमेश्वर-तुल्य अत्युत्तम गुण, कर्म, स्वभाव। उनका दृढ़ मत है कि, "कोई जन परमेश्वर का अनादर करके चक्रवर्ती राज्य भोगने के योग्य नहीं हो सकता (यजु० भा० 6.3)।" अन्यत्र भी महर्षि ने इसी सम्बन्ध में लिखा है कि, "परमेश्वर की कृपा से राज-कर्म, चक्रवर्त्ती राज्य, भोग का राज्य, अपना राज्य, विविध राज्य, परमेष्ठिराज्य, प्रकाशरूप राज्य, महाराज्य, राज्यों का अधिपतिरूप राज्य और अपने वश का राज्य इत्यादि उत्तम-उत्तम सुख बढ़ते हैं।"[170] इसीलिए दयानन्द अपनी आध्यात्मिक प्रार्थनाओं में ईश्वर से सार्वभौम राज्य की कामना इस प्रकार करते हैं, "हे महाराजाधिराज परमेश्वर, आप हमको सरल कोमलत्वादि गुणविशिष्ट चक्रवर्त्ती राजाओं की नीति को कृपा-दृष्टि से प्राप्त करो····· वीरों के चक्रवर्त्ती राज्य को आपके अनुग्रह से प्राप्त हो····· जब तक जीवें तब तक चक्रवर्त्ती राजयदि भोग से सदा

सुखी रहें।"[171] इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर ही चक्रवर्त्ती राज्य का प्रदाता है।

चक्रवर्त्ती राज्य के लिए दूसरी आवश्यकता श्रेष्ठ गुण, कर्म, स्वभाव, विद्या, धर्म, विनय, शूरता, उत्तम सेना, अक्षय कोश, श्रेष्ठ न्याय-व्यवस्था, सर्वोत्कृष्ट सहयोगियों आदि की होती है। दयानन्द पुनः ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि, "अखण्ड चक्रवर्त्ती राज्य के लिए कृपा से हम लोगों को शौर्य, धैर्य, नीति, विनय, पराक्रम और उत्तम गुणयुक्त बलादि से यथावत् पुष्ट कर·····।"[172] अपने वेद-भाष्य में भी दयानन्द ने कतिपय मन्त्रों की व्याख्या में चक्रवर्त्ती राज्य-हेतु आवश्यक गुणों का संकेत किया है। यथा—आप्तनीति से चक्रवर्त्ती राज्य करो (यजु० भा० 9,25); जो विद्या, विनय, शूरता आदि गुणों से भूगोल के एक राज्य को चाहे, तो कुछ भी अशक्य नहीं है (यजु० भा० 29.39); परमेश्वर की कृपा, सभाध्यक्ष की सहायता व अपने पुरुषार्थ के बिना चक्रवर्त्ती राज्य और लक्ष्मी नहीं (ऋ० भा०—1.43.7); जो राजा लोग परमेश्वर के सदृश गुण कर्म स्वभाव-युक्त हुए प्रजाओं में वर्त्तमान हैं, वे ही चक्रवर्त्ती राज्य और असंख्य धन को प्राप्त होते हैं (ऋ० भा० 3.56.7); हे राजन्! आप सत्य आचरण करने वाले यथार्थ वक्ताओं के सहाय से चक्रवर्त्ती सार्वभौम हूजिए (ऋ० भा०—4.19.2) इत्यादि। उक्त समस्त कथनों से स्पष्ट है कि चक्रवर्त्ती राज्य की प्राप्ति अनीति, अधर्म और अन्याय से न होकर, सुनीति, धर्म, सत्य, न्याय, उत्तम गुणकर्म स्वभाव तथा ईश्वर की कृपा से होती है।

(iv) चक्रवर्त्ती राज्य की संगठनात्मक रूपरेखा :

स्वामी दयानन्द ने चक्रवर्त्ती राज्य की संगठनात्मक रूपरेखा भी प्रस्तुत की है। उनका मत है कि एक चक्रवर्त्ती अर्थात् एक चक्र राज्य करने वाला और दूसरा माण्डलिक कि जो मण्डल-मण्डल का ईश्वर (राजा) होता है (यजु० भा०—8.37)। चक्रवर्त्ती राज्य के अन्तर्गत शासन-सत्ता किसी एक व्यक्ति के हाथों में केन्द्रित नहीं होगी। इसमें

प्रशासन की प्राथमिक इकाई ग्राम है। इसके पश्चात् ग्रामों की संख्या के आधार पर दशेश, शतेश, सहस्रेश, दश सहस्रेश, लक्षाधिपति नाम के संगठन और उन संगठनों के अधिकारी होंगे। इनके द्वारा अपने-अपने इकाइयों की गतिविधियों की दैनिक सूचना उचित माध्यम द्वारा नीचे से ऊपर तक प्रेषित की जाएगी। तदुपरान्त यह सूचना लक्षग्रामों की राजसभा को प्राप्त होगी। यह राजसभा उन सूचनाओं एवं सम्पूर्ण भूगोल के वर्त्तमान् को महाराजसभा अर्थात् सार्वभौम चक्रवर्त्ती महाराजसभा को प्रदान करेगी।[173] इस प्रकार माण्डलिक राजाओं के स्तर होती हुई वह सूचना अन्त में चक्रवर्त्ती राजा तक पहुंचेगी। चक्रवर्त्ती राज्य का सम्पूर्ण प्रशासनिक ढाँचा एक पिरामिड-तुल्य है, जिसके शीर्ष पर चक्रवर्त्ती महाराज सभा और सबसे नीचे ग्राम की इकाई है। इनके मध्य में अनेक इकाइयाँ हैं, जो शक्ति के विकेन्द्रीकरण एवं सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर गठित हैं।

(v) चक्रवर्त्ती राज्य के उद्देश्य एवं कार्य :

स्वामी दयानन्द ने चक्रवर्ती राज्य के उद्देश्य एवं कार्यों की ओर संकेत करते हुए निर्दिष्ट किया है कि 'चक्रवर्त्ती राजा को मांडलिक वा महामाण्डलिक राजा, भृत्य गृहस्थ वा विरक्तों को प्रसन्न जौर शरणागत आए हुए मनुष्य की रक्षा करके धर्म-युक्त सार्वभौम राज्य का यथावत् पालन करना चाहिए।"[174] एक अन्य स्थल पर भी ऋषि ने लिखा है, कि, ' उत्तम, मध्य और निकृष्ट गुण, कर्म और स्वभाव के भेद से जो-जो राज्य हैं, वहाँ-वहाँ वैसे हो उत्तम, मध्यम, निकृष्ट, गुण, कर्म और स्वभाव के मनुष्यों को स्थापन कर ओर चक्रवर्त्ती राज्य करके सबको आनन्द भोगना-भोगवाना चाहिए।"[175] उपर्युक्त कथनों के आधार पर कहा जा सकता है कि अधीनस्थ राज्यों की प्रजा के सुख-दुख तथा हानि-लाभ का सम्पूर्ण दायित्व चक्रवर्त्ती राजा का है। वह धार्मिक एवं सांस्कृतिक सुधार तथा एकता, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय शांति-सुव्यवस्था, विकास, मैत्री, सहयोग तथा भ्रातृत्व की स्थापना-हेतु उत्तरदायी है।

वस्तुतः, दयानन्द ने अन्तर-राष्ट्रीय स्तर पर प्रभुता-सम्पन्न राज्यों के मध्य सम्भावित तनाव को देखते हुए ही विश्व-संगठन के रूप में चक्रवर्त्ती राज्य की कल्पना की थी।[176] यही नहीं, अपितु दयानन्द ने वैदिक चक्रवर्त्ती राज्य के आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक लक्ष्य को भी स्वीकृति दी है। वैदिक चक्रवर्त्ती राज्य के उद्देश्य का संकेत करते हुए राधा कमल मुखर्जी ने लिखा है कि, वैदिक चक्रवर्त्ती सम्राट की धारणा राजनीतिक मात्र नहीं वरन् सांस्कृतिक भी है। चक्रवर्त्ती सम्राट ही उथल-पुथल और विशृंखलता के मध्य धर्म-राज्य की स्थापना तथा धर्मशास्त्र की मूलभूत संहिता को लागू करता है। भारत का राजनीतिक दृष्टिकोण अनिवार्यतः आध्यात्मिक है।"[177] स्पष्ट है कि उपर्युक्त आदर्श के परिप्रेक्ष्य में ही दयानन्द ने चक्रवर्त्ती राज्य की संकल्पना प्रस्तुत की है। उनका यह राज्य किसी विश्वविजेता सम्राट की साम्राज्यवादी लिप्सा का प्रतिफल न होकर वैदिक धर्म-राज्य की अवधारणा का मूर्त्तरूप है।

दयानन्द को स्पष्टतः यह ज्ञात था कि संसार में सत्य और न्याय की स्थापना तभी हो सकती है, जब हमारे (भारतीयों के) हाथों में सार्वभौम चक्रवर्त्ती राज्य की बागडोर हो।[178] दयानन्द ने व्यक्ति-व्यक्ति और राज्य-राज्य के मध्य होने वाले पारस्परिक संघर्ष एवं तज्जनित भय की सम्भावना के सम्यक् समाधान-हेतु ही चक्रवर्त्ती राज्य की अवधारणा प्रस्तुत की है, जिसमें प्रत्येक छोटे-बड़े राज्य, स्वतन्त्र रहते हुए न्याय एवं सत्यपथ के अनुगामी हों।

अनेक अर्वाचीन पाश्चात्य विचारकों ने भी विश्व-राज्य (चक्रवर्त्ती-राज्य) की परिकल्पना की है। इसी प्रकार के एक विचारक एच० जी० वेल्स का मत है कि, "यदि मनुष्य को तबाही से बचाना है, तो समस्त राजकीय झण्डों के स्थान पर एकही सार्वभौम झण्डा लहराना चाहिए।"[179] परन्तु, ध्यातव्य है कि वेल्स के उपर्युक्त कथन में एक-तन्त्रीय व्यवस्था की झलक स्पष्टतः दीख पड़ती है, जबकि दयानन्द

के चक्रवर्त्ती राज्य की संकल्पना में एकतन्त्रीय, निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी को स्थान ही नहीं दिया गया है। माण्डलिक राज्य पराधीन एवं दास की स्थिति में न होकर चक्रवर्त्ती सम्राट के संरक्षण एवं निरीक्षण में सर्वतोन्मुखी विकास-हेतु स्वतन्त्र है।

ऐसा प्रतीत होता है कि दयानन्द इस विशेष संगठन द्वारा भूमण्डल के समस्त मनुष्यों को एक जाति (आर्य), एक धर्म (वैदिक), एक भाषा (हिन्दी), एक आचरण (वेदोक्त) तथा एक राष्ट्र (आर्यावर्त्त) में आबद्ध करना चाहते थे। स्वामी जी का यह प्रयास विश्व-राज्य, विश्व-सरकार एवं विश्व-नागरिकता की ओर उठाया गया सर्वप्रथम एवं सर्वथा स्तुत्य पग था। महर्षि-प्रतिपादित चक्रवर्त्ती राज्य की स्थापना के फलस्वरूप ही समस्त राग-द्वेष, स्पर्धा, अभाव, भय एवं संघर्ष की स्थिति का अन्त हो सकता है तथा विश्व में जातिगत, भाषायी, सांस्कृतिक एवं सांस्कारिक एकता की स्थापना सम्भव होगी। अन्ततः, विश्वमानवता महायुद्धों के त्रासद—स्थिति से त्राण भी प्राप्त कर सकेगी। दयानन्द ने चक्रवर्त्ती राज्य की संकल्पना एक 'विश्व-राज्य' या 'मध्यस्थ-राज्य' के रूप में उस काल में की थी, जब आधुनिक 'राष्ट्र-संघ' या 'संयुक्त राष्ट्र-संघ' की परिकल्पना भी न थी। वस्तुतः, चक्रवर्त्ती राज्य की अवधारणा दयानन्द की भविष्यवेधिनी चिन्तन-शक्ति का स्वतन्त्र एवं मौलिक परिणाम है।

निष्कर्ष :

स्वामी दयानन्द के राष्ट्रवाद के विविध आयामों - स्वदेशी, स्वभाषा (हिन्दी), स्वधर्म (वेदवाद), स्वराज्य तथा चक्रवर्त्ती आर्य राज्य—के विस्तृत विवेचन के पश्चात् यह स्पष्ट होता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय पुनर्जागरण-काल के समाजसेवी तथा धर्माचार्य जहाँ लोकैषणा और आत्मचिन्तन तक ही सीमित थे, वहीं दयानन्द ने मातृ भूमि की दुर्दशा से द्रवित होकर उसके कल्याण और मुक्ति-हेतु सार्थक चिन्तन प्रस्तुत किया है। उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद को जागृत करने के

लिए अपने ब्रह्मसुख का परित्याग कर दिया। उनके लिए राष्ट्र-मुक्ति ही परम धर्म था। एक संन्यासी द्वारा इस प्रकार का चिन्तन अभूतपूर्व था। उनके राष्ट्रवादी चिन्तन की सर्वप्रमुख विशेषता भारतीयता थी। इसीसे प्रभावित होकर मुंशी प्रेमचन्द्र ने कहा था कि, "दयानन्द भारतीयता का अवमूल्यन नहीं करना चाहते थे। भारत के शव पर प्रगतिवाद एवं पश्चिम के डिजाईन का भवन वे सहन नहीं कर सकते थे।"[180] दयानन्द के लिये आर्य जाति चुनी हुई जाति, भारत चुना हुआ देश और वेद चुनी हुई धार्मिक पुस्तक थी।[181] इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्द विशुद्ध भारतीय राष्ट्रवाद के जनक थे।

दयानन्द का राष्ट्रवाद मात्र सैद्धान्तिक ही नहीं, अपितु व्यावहारिक भी है। उसमें भारत के समग्रक्रान्ति का संदेश निहित है। वह विशुद्धतः आध्यात्मिक राष्ट्रवाद है। उसका सम्बन्ध बुद्धिवाद से है, भाग्यवाद से नहीं। दयानन्द के राष्ट्रवाद का भारतीय राष्ट्रवादी अवधारणा पर निम्नलिखित प्रभाव पड़ा :

1. इसने भारतीयों में स्वदेशप्रेम को सजीव किया।
2. राष्ट्र के लोगों में गौरव और आत्मसम्मान का भाव उत्पन्न किया।
3. एकता की भावना को सुदृढ़ किया।
4. भारतीयों में सद्गुणों को विकसित करने की प्रेरणा दी।
5. आपसी सहयोग, सद्भाव एवं सहानुभूति उत्पन्न की।
6. राष्ट्रीय धर्म एवं संस्कृति का विकास किया।
7. धार्मिक मिथ्याडम्बरों एवं सामाजिक दुष्प्रवृत्तियों के उन्मूलन का मार्ग प्रशस्त किया।
8. स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग की प्रेरणा दी।
9. एक राष्ट्र-भाषा को अपनाने की भावना पैदा की।
10. पाश्चात्य वैज्ञानिक आविष्कारों से उत्पन्न व्यामोह को समाप्त किया।
11. वेद के प्रति श्रद्धा और सम्मान का भाव जागृत किया।

12. साम्प्रदायिक मतभेदों को भुला कर वेदोक्त धर्म के अनुकरण का संदेश दिया।
13. स्वराज्य प्राप्ति-हेतु लोगों में बलिदान की भावना उत्पन्न किया।
14. नया जीवन-दर्शन दिया।
15. भारतीयों को उनके सच्चे स्वरूप से अवगत कराया।
16. एकाकी एवं आत्महीन जीवन को मिटाकर आशा का संचार किया।
17. स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को जन्म दिया।
18. प्रजातान्त्रिक भावना को प्रोत्साहित किया।
19. आध्यात्मिक शांति एवं राष्ट्र-प्रेम का मार्ग प्रशस्त किया।
20. उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के उन्मूलन को बल प्रदान किया।
21. विश्व-शांति एवं विश्व-मैत्री का पाठ पढ़ाया।
22. देशी राजाओं को संगठित होने की स्फूर्तिदायक प्रेरणा दी।
23. राष्ट्र-सेवा को मानव-सेवा का उच्च पद प्रदान किया।
24. स्वतन्त्रता संग्राम की भावना को गति प्रदान की।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि दयानन्द के राष्ट्रवाद ने वर्त्तमान स्वतन्त्र भारत की पृष्ठभूमि तैयार की।

पाद टिप्पणियाँ :

1. ए० अप्पादोराय—दि सब्स्टेन्स आँफ पोलिटिक्स—पृ० 15
2. गुरुदत्त—भारत में राष्ट्र--पृ० 1
3. भवानी लाल भारतीय—नवजागरण के पुरोधा० —पृ० 573
4. लाला लाजपत राय—हिन्दुओं को उन्नति के मार्ग में रुकावटें—पृ० 15-16
5. इसी पुस्तक के प्रथम अध्याय के अन्तर्गत 'भारत में नवजागरण का सूत्र-पात' द्रष्टव्य।
6. भवानी लाल भारतीय—महर्षि दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द—पृ० 305

7. सत्यकेतु विद्यालंकार (सं०) आर्यसमाज का इतिहास-भाग 1, पृ० 414
8. भवानी लाल भारतीय—नवजागरण के पुरोधा—पृ० 13
9. अरविन्द घोष—स्वामी दयानन्द और वेद—पृ० 13
10. गंगाराम गर्ग—वर्ल्ड परस्पेक्टिव ऑन स्वामी दयानन्द सरस्वती पृ० 127
11. सत्यकेतु विद्यालंकार (सं०) आर्यसमाज का इतिहास—भाग-4 पृ० 77
12, गंगाराम गर्ग—वर्ल्ड परस्पेक्टिव०—पृ० 229
13. रघुनन्दन शर्मा—वैदिक सम्पत्ति—पृ० 428

अमेरकी विद्वान् एण्ड्रो जेक्सम डेविस का मत है कि, "मुझे एक आग दिखाई पड़ती है, जो सर्वत्र फैली हुई है। यह आग सनातन आर्य-धर्म को स्वाभाविक पवित्र दशा में लाने के लिए आर्य समाज रूपी भट्ठी में से निकली है और भारत के परम योगी दयानन्द सरस्वती के हृदय में प्रकाशित हुई है .....हिन्दू और मुसलमान इस प्रचण्ड अग्नि को बुझाने के लिए दौड़े, ईसाईयों का साथ दिया, परन्तु यह ईश्वरीय आग और भी भड़क उठी और सर्वत्र फैल गयी।"

14. लाला लाजपत राय—दुखी भारत—323
15. विजेन्द्र पाल सिंह—भारतीय राष्ट्रवाद एवं आर्य समाज आन्दोलन—पृ० 120
16. सत्यकेतु विद्यालंकार (सं०) आर्य समाज का इतिहास—भाग-4, पृ० 93
17. स्वामी जगदीश्वरानन्द—दिव्य दयानन्द -पृ० 43
18. स० प्र०—पृ० 259
19. वही—पृ० 260—261
20. वही—पृ० 263
21. लक्ष्मी दत्त दीक्षित—स्वराज्य दर्शन—पृ० 70
22. भवानीलाल भारतीय – नवजागरण के दुरोधा०—पृ० 206
23. वही पृ० 323
24. वही—पृ० 517

25. सत्यकेतु विद्यालंकार (सं०)—आर्य समाज का इतिहास—भाग-1, पृ० 421, अंग्रेजी समाचार-पत्र 'टेट्समैन' की 14 अगस्त, सन् 1879 की रिपोर्ट के अनुसार, "पण्डित दयानन्द सरस्वती द्वारा लाहौर में स्थापित आर्य समाज के सब सदस्यों ने समाज-मन्दिर में एकत्र होकर यह निर्णय किया था कि वे अंग्रेजी वस्त्रों को धारण नहीं करेंगे और केवल ऐसे वस्त्र ही प्रयोग में लायेंगे, जो भारत में बने हों।"

26. वही—भाग 4, पृ० 94

27. डी० बाब्ले—दि आर्य समाज पृ० 137

28. डो० डी० बसु—कान्स्टीट्यूशनल लॉ ऑफ इण्डिया पृ० 392

29. लक्ष्मीनारायण गुप्त—हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन पृ० 13

30. सत्यकेतु विद्यालंकार (सं०) आर्य का इतिहास—भाग-5, पृ० 526

31, वही—पृ० 526

32. लक्ष्मी नारायण गुप्त—हिन्दी भाषा और साहित्य—पृ० 14

33. इन्द्र विद्यावाचस्पति—आर्यसमाज का इतिहास—भाग 1, पृ० 129-130

34, स० प्र०—पृ० 327

35. भवानी लाल भारतीय—महर्षि दयानन्द का राष्ट्रवाद—पृ० 8

36. भवानी लाल भारतीय—नवजागरण के पुरोवा० पृ० 187

37. वही—पृ० 186

38: सत्यकेतु विद्यालंकार (सं०) आर्यसमाज का इतिहास-भाग-4, पृ० 78-79

39. देवेन्द्र नाथ मुखोपाध्याय—महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र-भाग—1 पृ० 368

40. भवानी लाल भारतीय—नवजागरण के पुरोधा० पृ० 211

41. स० प्र०—भूमिका—पृ० 2

42. देवेन्द्र नाथ मुखोपाध्याय—महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र भाग-1 पृ० 3'8

43. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 1, पृ० 133
44. क्षेमचन्द्र सुमन—हिन्दी साहित्य को आर्य समाज की देन पृ० 15
45. खुशहाल चन्द्र—प्यारा ऋषि पृ० 73
46. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 523
47. ऋ० भा० भू०—पृ० 38
48. ऋ० द० स० के शा० और प्र०—(बम्बई-प्रवचन सं० 20)—पृ० 510
यही तथ्य ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 629
49. भवानी लाल भारतीय—नवजागरण के पुरोधा पृ० 488
50. उपदेश-मंजरी (पूना-प्रवचन-9) पृ० 72
51. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन सं० 9)—पृ० 371
(पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक की टिप्पणी)
52. स० प्र० पृ० 21
53. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 1, पृ० 213, 215
54. भवानी लाल भारतीय—नवजागरण के पुरोधा० पृ० 555 (सरस्वती अक्टूबर 1939 ई० में पं० धर्मदेव शास्त्री के लेख 'रोमन लिपि का मोह' से उद्धृत)
55. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 547
56. वही—पृ० 603
57. वही—पृ० 605
58. वही—पृ० 970
59- वही—पृ० 961—968
60. वही—पृ० 969—974
61. भवानी लाल भारतीय—नवजागरण के पुरोधा० पृ० 485
62. वही—पृ० 517
63. सत्यकेतु विद्यालंकार (सं०) - आर्य समाज का इतिहास—भाग 5, पृ० 541
64. वही—पृ० 537—538
65. रामतीर्थ भाटिया (सं०)—महर्षि दयानन्द के सर्वश्रेष्ठ भाषण—पृ० 6

66. रोमां रोला—रामकृष्ण परमहंस—पृ० 157

67. भवानी लाल भारतीय—महर्षि दयानन्द के भक्त, प्रशंसक और सत्संगी—पृ० 160

68. वेदप्रकाश गुप्त—दयानन्द-दर्शन—पृ० 2-3

मैक्समूलर ने लिखा है कि, "वेद के रचने वाले प्रकृति की शक्तियों को पूजा करते थे। उनके प्रकोपों से बचने के लिए यज्ञ किया करते थे तथा वैदिक ऋषि मूर्ख परन्तु श्रद्धालु उपासक थे।"

69. वी० पी० वर्मा—वैदिक राजनीति शास्त्र—पृ० 2-3

70. रामगोपाल शास्त्री वैद्य—क्या वेद में आर्यों और आदिवासियों के युद्धों का वर्णन है ? पृ० 6

71. वही—पृ०10

72. पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड—वेदों का यथार्थ स्वरूप—पृ० 25-26

73. वही—पृ० 25-26

74. टी० एल० वास्वानी—टार्च बीयरर्स—109

75. स० प्र० (स्वमन्तव्य०) —पृ० 405

76, ऋ० भा० भू०—पृ० 350 (ग्रन्थ प्रामाण्याप्रामाण्य विषय)

77. स० प्र०—पृ० 37 तथा 407 (स्वमन्तव्य०)

78. ऋ० भा० भू०—पृ० 354

79. वही—369 (भाष्यकरण शंका समाधानादि विषय)

80. स० प्र०—पृ० 189

81. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 1, पृ० 328—331

82. ऋ० भा० भू० परिशिष्ट—(सं०) युधिष्ठिर मीमांसक—पृ० 1-2

83. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 1, पृ० 277

84. उमाकान्त उपाध्याय (सं०)—महर्षि दयानन्द की देन—पृ० 57

85. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 3, पृ० 6 (पत्र सारांश 6)

86. वही—भाग 1, पृ० 62 (पत्र सारांश 14)

87. अरविन्द घोष—स्वामी दयानन्द और वेद—पृ० 27-28

88. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 3, पृ० 47, 91

89. आर्यो०—पृ० 15

90. ऋ० भा० भू०—पृ० 20

91. वही—पृ०—10-11

92. स० प्र०—पृ० 135

93. ऋ० द० स० के शा० और प्र०—(पूना-प्रवचन 5) पृ० 305—210

94 स० प्र०—पृ० 137

95. ऋ० भा० भू०—पृ० 44—47

96. वही—पृ० 85—93 तथा स० प्र०—पृ० 137

97. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन 5 तथा 7) पृ० 315, 345

98. ऋ० भा० भू०—पृ० 355-369

99. वही—पृ० 307—320

100. वही—पृ० 341-343, स० प्र०—पृ० 49-50, पूना-प्रबचन 3 पृ० 286

101. स० प्र० पृ० 50

102. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन 3) पृ० 285

103. वही (पूना-प्रवचन 5) पृ० 316

104. स० प्र०—पृ० 140-141

105. ऋ० भा० भू०—पृ० 384, 322 तथा स० प्र० पृ० 212

106. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (शास्त्रार्थ हुगली) पृ० 59

106A. वही (पूना-प्रवचन 4) पृ० 294 तथा हुगली शास्त्रार्थ—पृ० 64 ; आर्यो० 11

107. वही (पूना-प्रवचन 9) पृ० 270 ; ऋ० भा० भू०—पृ० 79-80

108. स० प्र० पृ० 407 (स्वमन्तव्य०) यज्ञ-विधान-हेतु द्रष्टव्य पंचमहायज्ञविधि पूना-प्रवचन 13, पृ० 417-419 स० प्र०—65-68 ; ऋ० भा० भू० पृ० 272-279 सं० वि०—पृ० 194-204 ; आर्यो०—पृ० 8

109. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (बम्बई-प्रवचन 6) पृ० 493 तथा स० प्र०—पृ० 194

110. ऋ० भा० भू०—पृ० 62-65, 72; हुगली शास्त्रार्थ—पृ० 62-64 आर्याभि०—पृ० 128, 138, 141

111. ऋ० द० स० के शा० और प्र०—(पूना-प्रवचन 5) पृ० 314

112. आर्याभि०—पृ० 132, 161

113. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (हुगली शास्त्रार्थ) पृ० 62-63

114. ऋ० भा० भु०—पृ० 70-71 तथा स० प्र० —पृ० 116-117

115. आर्यो०—पृ० 93-94

116. ऋ० द० स० शा० और प्रवचन (पूना-प्रवचन 1) पृ० 266 तथा बम्बई-प्रवचन-10) पृ० 499

117. आर्यो०—पृ० 4

118. ऋ० भा० भू०—पृ० 327-329

119. द० लघु ग्र० संग्रह (शिक्षापत्री-ध्वान्त-निवारण) पृ० 444

120. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन 5)—पृ० 316-317 वेद-विरुद्ध मत-खण्डन—पृ० 393-394 तथा शिक्षापत्री०—पृ० 459

121. पी० वी० कुलगेरि—दयानन्द सरस्वती पृ० 27-28

122. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय—महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र भाग I, पृ० 5

123. स्वामी जगदीश्वरानन्द—दिव्य दयानन्द पृ० 13

124. अरविन्द घोष—स्वामी दयानन्द और वेद पृ० 27-28

125. रोमां रोला—रामकृष्ण परमहंस पृ० 157

126. हरविलास शारदा (सं०)—दयानन्द कोमेमोरेशन वाल्यूम—पृ० 162-163

127. लाला लाजपत राय—महर्षि दयानन्द सरस्वती और उनका काम पृ० 3

128. भवानी लाल भारतीय—श्रद्धानन्द ग्रन्थावली—भाग 1, पृ० 76

129. भवानीलाल भारतीय—महर्षि दयानन्द का राष्ट्रवाद पृ० 6

130. गंगाराम गर्ग—वर्ल्ड परस्पेक्टिव०—पृ० 132-133

131. सत्यदेव विद्यालंकार—राष्ट्रवादी दयानन्द पृ० 24

132. लाला लाजपत राय—हिन्दुओं की उन्नति के मार्ग में रुकावटें पृ० 15

133. सत्यकेतु विद्यालंकार (सं०)—आर्यसमाज का इतिहास—भाग 1, पृ० 706

134. विजेन्द्रपाल सिंह—भारतीय राष्ट्रवाद०—पृ० 47

135. स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती—ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ स्वामी दयानन्द पृ० 261-262

136. पं० रामगोपाल शास्त्री—महर्षि दयानन्द की राष्ट्रीय विचारधारा

137. गुरुदत्त – महर्षि दयानन्द—पृ० 59

138. भवानी लाल भारतीय-नवजागरण के पुरोधा०—पृ० 192

139. देवेन्द्र नाथ मुखोपाध्याय महर्षि दया० स० का जीवन चरित्र-भाग 1, पृ० 201

140. रामतीर्थ भाटिया (सं०) महर्षि दयानन्द के सर्वश्रेष्ठ भाषण—पृ० 7

141. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 1, पृ० 41

142. स० प्र०—पृ० 180, 181, 187, 218-220; गोकरुणा०—पृ० 9-10 पूना-प्रवचन—पृ० 4 4, 415, 502, 507

143. स० प्र०—पृ० 181-182

144. वही—पृ० 153

145. ऋ० द० स० के शा० और प्र०—(पूना-प्रवचन 9) पृ० 375

146. आर्याभि०—पृ० 155

147. वही—पृ० 30

148. स० प्र०—पृ० 182

149. सत्यकेतु विद्यालंकार (सं०) आर्यसमाज का इतिहास—भाग 4, पृ० 75

150. स० प्र०—पृ० 345

151. वही—पृ० 335

152. वही—पृ० 153

153. सत्यकेतु विद्यालंकार (सं०) आर्य समाज का इतिहास—भाग 2, पृ० 615

154. स० प्र०—पृ० 187

155. वही—पृ० 188

156. लाला लाजपत राय—दुखी भारत—पृ० 305-306

157. शान्त स्वामी अनुभवानन्द—आर्यसमाज का परिचय—पृ० 9

158. स० प्र०—पृ० 269

159. ऋ० भा० भू० पृ० 103

160. इन्द्रदेव विद्यावाचस्पति—महर्षि दयानन्द का राज-धर्म—पृ० 4

161. पं० विभूमित्र शास्त्री—राष्ट्रीय क्रान्ति के सूत्रधार स्वामी द० सर०—पृ० 43-44

162. उमाकान्त उपाध्याय (सं०)—भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में आर्यसमाज की देन पृ० 68

163. रघुनन्दन शर्मा—वैदिक सम्पत्ति—पृ० 428

164. प्रियव्रत-वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त भाग 1, पृ० 265

165. प्रियव्रत—वैदिक राजनीति में राज्य की भूमिका—पृ० 13

166. स० प्र०—पृ० 187

167. 'आर्य' शब्द का उक्त अर्थ स० प्र०—पृ० 151-152; आर्याभि०—पृ० 22 आर्यो०—पृ० 7; ऋ० भा० भू०—पृ० 258, पूना प्रवचन पृ० 316 ऋ० भा०—1.130.8, 4.26.2, 7.18.6 के आधार पर।

168. ऋ० द० स० के शा० और प्र० (पूना-प्रवचन 8) पृ० 370 तथा पत्र-विज्ञापन—भाग 1, पृ० 144

169. स० प्र०—पृ० 151-152; आर्यो०—पृ० 7; पूना प्रवचन 8—पृ० 370 तथा मनु० I.141, I.136

170, ऋ० भा० भू०—पृ० 250

171. आर्याभि० पृ० 30, 72, 116

172. वही—पृ० 155 (यजु० 38.14)

173. स० प्र०—पृ० 101 (मनु० 7.114-117) विस्तृत जानकारी हेतु देखें—प्रस्तुत पुस्तक का 'स्थानीय स्वशासन' शीर्षक का अध्याय।

174. ऋ० भा—I.53.9

175. ऋ० भा० I.i08.9

176, दीवानचन्द्र—दि आर्यसमाज-व्हाट इट इज एण्ड व्हाट इट स्टैण्ड्स फॉर—पृ० 108

177. राधाकमल मुखर्जी—दि कल्चर एण्ड आर्ट ऑफ इण्डिया—पृ० 342

178. सत्यदेव विद्यालंकार-राष्ट्रवादी दयानन्द—पृ० 33

179. रघुनन्दन शर्मा—वैदिक सम्पत्ति—पृ० 307

180. रामतीर्थ भाटिया (सं०)—महर्षि दयानन्द के सर्वश्रेष्ठ भाषण—पृ० 7

181. इन्द्रविद्यावाचस्पति—महर्षि दयानन्द का जीवन चरित पृ० 70
(ब्रिटिश प्रधानमन्त्री रामजे मैक्डॉनल्ड द्वारा रचित पुस्तक 'दि अवेकनिंग ऑफ इण्डिया, सन् 1910 के पृ० 37 पर व्यक्त विचार)

: o :

अध्याय 13

: उपसंहार :

यद्यपि, किसी भी चिन्तक के सम्पूर्ण दर्शन का मूल्याङ्कन करना सहज और सरल कार्य नहीं होता है, तथापि प्रस्तुत ग्रन्थ में स्वामी दयानन्द के राजनीतिक दर्शन विषयक वर्णित और विवेचित मान्यताओं, व्यवस्थाओं एवं प्रतिस्थापनाओं के प्रकाश में निष्कर्ष स्वरूप उनके अवदानों का उल्लेख प्रासंगिक प्रतीत होता है।

स्वामी दयानन्द बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। विशुद्ध आध्यात्मिक विचारक होते हुए भी उन्होंने मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र—धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक—में अपनी अप्रतिम प्रतिभा का परिचय दिया है। अपने ब्रह्मसुख को चिन्ता छोड़कर उन्होंने मानव तथा राष्ट्र के चतुर्दिक् उन्नयन-हेतु मन, वचन तथा कर्म से अथक प्रयास किया है। यही कारण है कि आध्यात्मिक दयानन्द और राष्ट्रवादी दयानन्द में अन्तर कर पाना दुष्कर प्रतीत होता है। उन्होंने किसी देश, धर्म या जाति विशेष के लिए चिन्तन नहीं किया है, अपितु उनका चिन्तन समस्त मानव-जाति से सम्बन्धित है। वे विश्व-नागरिक थे। वे अपनी कृतियों से भी कहीं अधिक ऊँचे थे। धार्मिक व्यक्ति के रूप में सार्वजनिक जीवन में प्रविष्ट हुए और राष्ट्रवादी हो गए। वे शुद्धताग्राही थे। उनके लिए सत्य की उपासना ही सच्ची उपासना थी। धर्म के मिथ्याडम्बरों पर आक्रोश भरी उनकी कठोरता यथार्थ को उद्घाटित करने वाली सीधी-सादी शैली है। आध्यात्मिक एवं राष्ट्रवादी विचारों में पूर्णतया निमग्न दयानन्द ने तत्कालीन दुर्व्यवस्था एवं

अधोगति को समाप्त करने के लिए जिस भावावेगपूर्ण वाग्मिता तथा निर्भीकता से लेखन-प्रवचन किया, वह उनके अद्वितीय व्यक्तित्व का प्रतीक है।

आधुनिक भारतीय चिन्तन के इतिहास में दयानन्द ही एक मात्र ऐसे सन्त दार्शनिक हैं, जिन्होंने अपने को धर्म या समाज-सुधार तक ही सीमित न रखकर राष्ट्र-रक्षा एवं धर्म-राजनीति के संरक्षण के साथ ही साथ देश की स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता के प्रयास तक संयुक्त रखा है। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने यह प्रश्न किया है कि, "गौतम बुद्ध ने.....अनेक स्थानों पर परिभ्रमण करके और निर्वाण तत्त्व को प्रचरित करके लखूखा (लाखों) मनुष्यों के लिए कल्याण-पथ को उन्मुक्त किया था, परन्तु बुद्ध देव ने विच्छिन्न भारत को एकता के सूत्र में बाँधने के पक्ष में क्या कभी एक बात भी कही ? लम्बूद्रि ब्राह्मण कुल में जन्म ले कर शंकराचार्य ने.....वेदान्त सूत्र का अनुपम भाष्य रचकर वह संसार में अविनश्वर कीर्ति स्थापित कर..... क्या उन्होंने विभक्त और विच्छिन्न भारत में ऐक्य स्थापन के लिए कोई यत्न किया ? बंग-भूमि के प्रांचल भाग के गौरव श्री गौरांगदेव नवद्वीप में आविर्भूत हो कर बंगाल को भक्ति की तरंग में निमग्न कर गए..... परन्तु क्या उन्होंने भारत में भारतीयता स्थापन करने के लिए कभी एक बात भी कही ?"[1] इसी क्रम में दयानन्द की देन को प्रस्तुत करते हुए देवेन्द्रनाथ ने लिखा है कि, "आचार्य स्वामी दयानन्द ने हमारी युग-युग व्यापिनी नीरवता को भग करके, चिरन्तनी उदासीनता को छिन्न-भिन्न कर शास्त्र-संस्कार और धर्म-संस्कार के साथ-साथ जातीय एकता की आवश्यकता को भी प्रतिपादित किया.....इस बात को सुस्पष्ट रूप से जान लिया था कि जब तक स्वदेशी जनों में बल नहीं बढ़ेगा, स्वदेश में जातीयता प्रतिष्ठित नहीं होगी, जाति के अन्दर एकता-बन्धन दृढ़तर नहीं होगा, तब तक धर्म-संस्कार, शास्त्र-संस्कार, देशोन्नति, सामाजिक उन्नति आदि कुछ भी नहीं हो सकेगी।"[2]

बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के उपयुक्त कथन के परिप्रेक्ष्य में ही स्वामी दयानन्द के चिन्तन का मूल्यांकन करना समीचीन प्रतीत होता है। चूँकि स्वामी दयानन्द का ध्रुव विश्वास है कि भारत की राजनीतिक परतन्त्रता का सर्वप्रमुख कारण सामाजिक पतन है तथा सामाजिक अवनति का मूल कारण है—भारतीयों का वैदिक धर्म और संस्कृति से पथ-भ्रष्ट होना है, अतः राजनीतिक स्वतन्त्रता-हेतु सामाजिक सुधार और सामाजिक सुधार के लिए वैदिक धर्म का पुनरुद्धार होना चाहिए! दूसरे शब्दों में, दयानन्द स्वराज्य प्राप्ति-हेतु समाज को और समाज के परिशोधन के लिए वैदिक धर्म की महत्ता पर बल देते हैं। अतः, दयानन्द के उक्त मन्तव्य के परिप्रेक्ष्य में उनके अवदानों का उल्लेख अधोनिर्दिष्ट है।

(अ) दयानन्द का धार्मिक क्षेत्र में योगदान :

स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित धार्मिक मान्यताओं के फलस्वरूप धार्मिक क्षेत्र में प्रमुखतः निम्नलिखित प्रभाव पड़ा :

1. स्वामी दयानन्द ने 'धर्म' के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट कर उसे जड़-पूजा, जड़-विश्वास एवं जड़-सिद्धान्त से मुक्त किया। वे स्वदेश की एकता तथा सर्वांगीण विकास-हेतु समस्त भारतीयों को एक धर्म (वैदिक), एक भाषा (हिन्दी) तथा एक ही प्रकार के आचार-विचार को अंगीकार करने की शिक्षा देते हैं। इसीलिए उन्होंने धर्म को किसी सम्प्रदाय विशेष से न जोड़कर मनु-प्रतिपादित धृति क्षमा आदि दश लक्षणों से संयुक्त मानव के अभ्युदय और निःश्रेयस् का कारक माना है।[3] उनके लिए वेद-प्रतिपादित नियम ही धर्म हैं।
2. दयानन्द ने धर्म-क्षेत्र में विचार-स्वातन्त्र्य को मान्यता देते हुए 'गुरुडम' का पूर्णतः विरोध किया। वे मनु के तर्कानुकूल धर्म के अनुसंधान के पक्षधर थे।[4] निरुक्तकार यास्क से सहमत होने के कारण उन्होंने स्वीकार किया है कि, "प्रत्यक्षादि प्रमाणों से युक्त जो तर्क है, वही मनुष्यों के लिए ऋषि है।"[5] इसलिए उन्होंने यह

सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि धर्म में विश्वास और श्रद्धा के साथ-साथ तर्क-वितर्क का भी स्थान होना चाहिए। यदि धर्म में विवेक का समावेश नहीं है, तो वह मिथ्या है। दयानन्द को इस शिक्षा से धर्म में व्याप्त अन्धविश्वासों को समाप्त करने में सहायता मिली।

3. दयानन्द के सिद्धान्त के फलस्वरूप ही 'त्रैतवाद' की संकल्पना का विकास हुआ। दयानन्द ब्रह्म, जीव और प्रकृति के अस्तित्व को स्वीकार करते थे। उनकी मान्यता थी कि जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न स्वरूप है। तीनों अनादि हैं।[6]

4. महर्षि के काल में सायण, महीधर आदि भारतीय भाष्यकारों तथा उन्हीं को प्रमाण मान कर अन्य पौर्वात्य एवं पाश्चात्य वेद-विदों द्वारा वेद में बहुदेववाद, अवतारवाद, मूर्तिपूजा, बलि-हिंसा, इतिहास, अश्लीलता तथा 'हिनोथीज्म्' के अनर्गल आरोप एवं मान्यताएँ स्थापित की जा रही थीं। अतः, दयानन्द ने यास्क प्रतिपादित निरुक्त के सिद्धान्तों के आधार पर वेद-भाष्य किया, जिनमें समस्त वैदिक पदों को उनके यौगिक अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। इस प्रकार के वेद-भाष्य द्वारा उन्होंने वेदों के प्रति स्थापित मूढ़ एवं पूर्वाग्रही अवधारणाओं का तर्क-सम्मत प्रतिवाद करते हुए वेद को शाश्वत सत्य एवं पूर्णतः वैज्ञानिक ईश्वरीय ज्ञान सिद्ध किया।[7] उन्होंने वैदिक ऋचाओं को अध्यात्म के साथ-साथ वैज्ञानिक भौतिक उपलब्धियों का सूत्र सिद्ध किया। इससे एक ओर वेद पर लगाए गए लांछन समाप्त हुए तथा दूसरी ओर उस पर लोगों का खोया हुआ विश्वास पुनर्स्थापित करने में सहायता मिली। मनुष्य वेद की विरासत से अवगत हुआ।

5. दयानन्द ने धर्म के क्षेत्र में वेदाध्ययन-हेतु स्थापित वर्जनाओं का खण्डन करते हुए उसके अध्ययन-अध्यापन का अधिकार समस्त मानव-जाति को प्रदान किया। इस कार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा

करते हुए फ्रेन्च विद्वान् रोमां रोला ने लिखा है कि, "भारत के लिए वह दिन युग प्रवर्त्तक था, जिस दिन एक ब्राह्मण (दयानन्द) ने न केवल यह स्वीकार किया कि वेदों का ज्ञान पाप्त करने का अधिकार मनुष्य मात्र का है, जिनका पठन-पाठन उनसे पूर्व कट्टर ब्राह्मणों ने निषिद्ध कर दिया था, अपितु इस बात पर भी बल दिया कि वेदों का पढ़ना-पढ़ाना आर्यों का परम धर्म है।"[8]

6. दयानन्द ने वेद-मन्त्रों की राष्ट्र परक व्याख्या द्वारा वेद-भक्ति को देश-भक्ति का मूलाधार घोषित किया। वेदों की ओर लौट चलने का नारा देकर उन्होंने मानव को सत्पथ के अनुगमन की प्रेरणा दी।

7. वेद-मन्त्रों की वैज्ञानिक व्याख्या द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि भारतीय विज्ञान पाश्चात्य वैज्ञानिक आविष्कारों से सर्वथा श्रेष्ठ है। इससे लोगों की आत्महीनता की भावना समाप्त हो गयी। यही नहीं, अपितु दयानन्द के धार्मिक योगदान के फलस्वरूप ही आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का भी उदय हुआ।

(ब) दयानन्द का सामाजिक क्षेत्र में योगदान :

वैदिक धर्म और संस्कृति के पुनरुद्धार के साथ-साथ दयानन्द ने हिन्दू-समाज के सुधार का भी स्तुत्य कार्य किया है। वे सामाजिक कुरीतियों के मात्र कटु आलोचक ही नहीं, वरन् एक श्रेष्ठ एवं आदर्श सामाजिक विधान के संस्थापक भी थे। उन्होंने मुख्य रूप से समाज-सुधार के निम्नलिखित कार्य किए :

1. उन्होंने जन्म के आधार पर विभिन्न जातियों-उपजातियों में विभक्त हिन्दू-समाज को वैदिक वर्णाश्रम-धर्म के आधार पर पुनर्गठित करने की शिक्षा दी, जिसके अनुसार किसी भी स्त्री-पुरुष का वर्ण उसके जन्म से नहीं, अपितु गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर निर्धारित होगा।[9]

2. उन्होंने आर्य समाज के तत्त्वावधान में हिन्दू-समाज के अन्तर्गत शूद्र या म्लेच्छ कहे जाने के कारण उपेक्षित एवं पददलित व्यक्तियों के लिए 'शुद्धि-आन्दोलन' के रूप में एक अभिनव तथा क्रान्तिकारी योजना को कियान्वित किया, जिसके द्वारा उपेक्षित व्यक्तियों को वेदाध्ययन का अधिकार एवं आर्य कहलाने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता था।

3. दयानन्द ने स्पृश्यता के निवारण-हेतु मात्र उपदेश ही नहीं दिया है, अपितु अपने व्यक्तिगत जीवन में भी उसका पालन किया है। एक बार जब उन्हें अनूपशहर के उमेदा नाई द्वारा प्रदत्त भोजन को ग्रहण न करने का सुझाव कतिपय रूढ़िवादी ब्राह्मणों द्वारा दिया गया तब उस सुझाव को अस्वीकार करते हुए दयानन्द ने यह कहते हुए भोजन ग्रहण कर लिया था कि, "नहीं, यह रोटी तो (नाई की नहीं अपितु) गेहूँ की है, इसलिए इसे मैं अवश्य ग्रहण करूँगा।"[10] इसी प्रकार, एक बार एक संन्यासी कैलाश पर्वत द्वारा दयानन्द को यह सूचित किया गया कि वह उनसे मिलने उस शूद्र (कानपुर के मुंशी दरगाही लाल कायस्थ के घाट पर) के स्थान पर नहीं आएँगे। संन्यासी के मुख से ऐसे संकीर्ण विचार सुनकर दयानन्द ने व्यंगपूर्वक उत्तर देते हुए कहलाया—यदि शूद्र के स्थान पर आने में आपको आपत्ति है, तो म्लेच्छ (अंग्रेजों) के राज्य में क्यों रहते हो?[11] स्वामी दयानन्द के इसी प्रकार की अवधारणा से प्रभावित हो कर ही महात्मा गाँधी ने अस्पृश्यता के क्षेत्र में दयानन्द के योगदान को 'मूल्यवान बिरासत' की संज्ञा दी है।[12] यही नहीं, अपितु रोमां रोला ने भी दयानन्द की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि, "सबसे बढ़ कर वह अस्पृश्यता के घृणित अन्याय के अस्तित्व कदापि सहन न करते थे और उनसे बढ़कर अस्पृश्यों के, पददलित के अधिकारों का अन्य कोई समर्थक नहीं था।"[13]

4. दयानन्द ने स्पृश्यता के साथ ही साथ बाल, बहु, वृद्ध तथा अनमेल विवाह, सती-प्रथा, समुद्र-यात्रा-निषेध आदि जैसी सामाजिक कुरीतियों का भी प्रबल विरोध किया है।[14] इसी का परिणाम था कि कालान्तर में लोगों में इस प्रकार की मूढ़ धारणाओं का उल्लघंन करने का साहस उत्पन्न हुआ।

5. दयानन्द ने 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्' की काल्पनिक श्रुति के आधार पर स्त्रियों एवं शूद्रों पर आरोपित प्रतिबन्धों को तर्क एवं शास्त्रादि के आधार पर मूर्खतापूर्ण और निराधार सिद्ध करते हुए उन्हें वेदाधिकार प्रदान किया।

6. सामाजिक क्षेत्र में दयानन्द का सबसे बड़ा अवदान नारी-जाति को शिक्षा, सम्मान और पुरुषों को समान जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अधिकार एवं स्वतन्त्रता प्रदान करना है। नारी को ढ़ोगी साधु-संन्यासियों के प्रपंच से बचाने के लिए दयानन्द प्रायः यह कहा करते थे कि, "माता, मैं उन फकीरों में से नहीं हूँ, जो पुत्र देते हैं।"[15] यही नहीं, नारी के प्रति उनके हृदय में इतनी अगाध श्रद्धा थी कि एक बार निर्वस्त्र चार वर्षीय क्रीडा-निमग्न एक कन्या को देखकर दयानन्द का सिर उस जन्मदायिनी मातृशक्ति के समक्ष श्रद्धावनत हो गया था।[16] नारी के प्रति इसी श्रद्धा-भाव का परिणाम था कि उन्होंने प्राचीन भारत के इतिहास के उद्धरणों तथा अपने वेद-भाष्य में कतिपय मन्त्रों की व्याख्याओं द्वारा नारी-शिक्षा का पक्ष प्रस्तुत किया तथा नारी को गुण, कर्म एवं स्वभावानुसार पुरुषों के बराबर प्रशासन, न्याय तथा युद्ध आदि का अधिकार प्रदान किया है। जीवन का कोई ऐसा क्षत्र शेष नहीं है, जिसमें दयानन्द ने स्त्री-जाति को; अधिकार न दिया हो। दयानन्द ने नारी-शक्ति को पुनर्सम्मानित करके उसके प्रति 'नरकस्य द्वारम्' जैसी प्रतिगामी अवधारणा का खण्डन किया तथा 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः, को भारतीय संकल्पना

की पुनः स्थापना की। यह दयानन्द के सत्प्रयासों का ही सुफल है कि भारत की उपेक्षित नारी-शक्ति देश की स्वतन्त्रता और विकास में तभी से संलग्न है। दयानन्द की शिक्षाओं से ही प्रेरणा-प्राप्त कर स्वर्गीय दीवान बहादुर हर विलास शारदा ने तत्कालीन केन्द्रीय सभा में जो विधेयक प्रस्तुत किया था, वह आज भी 'शारदा-एक्ट' के नाम से सुप्रसिद्ध है।

स्वामी दयानन्द के समाज-सुधार से सम्बन्धित सम्पूर्ण कार्यों के आलोक में हमें अमेठी (जनपद सुलतानपुर, उ० प्र०) के स्वर्गीय महाराज, राजर्षि रणञ्जय सिंह के इस कथन में पूर्णतया सत्यता का आभास होता कि, "सशपथ कह सकता हूँ कि यदि दयानन्द न होते, तो इस समय हम शिखा-सूत्र से विहीन दिखाई देते ·····।"[17] वास्तव में, दयनन्द समाज-सुधार के क्षेत्र में अपने पूर्ववर्त्ती एवं परवर्त्ती समस्त-सुधारकों से अधिक प्रगतिशील तथा युग-धर्म के अनुकूल प्रतीत होते हैं।

(स) दयानन्द का शैक्षणिक क्षेत्र में योगदान :

1. दयानन्द ने अंग्रेजों द्वारा भारतीयों को आचार-विचार, रीति-नीति प्रवृत्ति-प्रकृति आदि में अंग्रेज बनाने हेतु स्थापित लार्ड मैकॉले की शिक्षा-व्यवस्था की आलोचना करते हुए भारतीय सभ्यता, संस्कृति एवं संस्कार से ओत-प्रोत वैदिक वाङ्मय एवं संस्कृत-साहित्य के पठन-पाठन पर बल दिया है। उन्होंने अपने ग्रन्थों-सत्यार्थप्रकाश, संस्कार-विधि, व्यवहारभानु, संस्कृत-वाक्य-प्रबोध आदि—में पाठ-योजना तथा विधि के साथ-साथ पाठ्यक्रम आदि का विस्तार से वर्णन किया है। अपने देशाटन-प्रसंग में स्वामी दयानन्द ने संस्कृत-भाषा के प्रचार-प्रसार-हेतु फर्रुखाबाद, मिर्जापुर, कासगंज, छलेसर, लखनऊ प्रभृति स्थानों पर वैदिक पाठशालाओं की स्थापना भी की; जबकि पुनर्जागरण के अन्य कर्णधार अंग्रेजी शिक्षा का समर्थन करते थे।

2. दयानन्द ने राज्य द्वारा अनिवार्य शिक्षा-व्यवस्था का प्रतिपादन करते हुए, यह व्यवस्था दी है कि जो अभिभावक अपने पुत्र या पुत्रियों को पाँच या आठ वर्ष की आयु में पाठशाला न भेजकर राज्य-नियम का उल्लंघन करें, उन्हें दण्डित भी किया जाना चाहिए। ध्यातव्य है कि महर्षि का राज्य-नियन्त्रित शिक्षा से अभिप्राय राज्य द्वारा अनिवार्य शिक्षा की उस व्यवस्था से है, जो वैदिक व्यवस्था तथा जनहित के अनुकूल हो, मात्र राज्य (राजा) के व्यक्तिगत हितों का ही संरक्षण न करे।

3. स्वामी दयानन्द ने विद्यालयों में राजा-प्रजा, धनी-निर्धन, स्त्री-पुरुष, जाति-वर्ग, ऊँच-नीच आदि के आधार पर होने वाले भेद-भाव की आलोचना की है। उनका मत है कि पाठशाला में सबको समान खान-पान, शिक्षा एवं आसन आदि की व्यवस्था होनी चाहिए, चाहे वह राजपरिवार का बच्चा हो या किसी दरिद्र का।

4. दयानन्द ने वर्ण-निर्धारण के सम्बन्ध में भी शिक्षा की महत्ता को स्वीकार किया है। उनका मत है कि विधिवत् शिक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात् ही विद्या एवं राजसभा द्वारा गुण, कर्म और स्वभाव के परीक्षोपरान्त ही आचार्यों की संस्तुति को ध्यान में रखते हुए वर्ण का निर्धारण किया जाना चाहिए। इस प्रकार दयानन्द ने शिक्षा को सामाजिक व्यवस्था का मेरुदण्ड घोषित किया है।

ध्यातव्य है कि दयानन्द ने भले ही वैदिक शिक्षा-प्रणाली तथा वेदादि आर्षग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन का पक्ष प्रस्तुत किया हो, परन्तु वे पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान के विरोधी नहीं थे। उनका स्पष्ट मत था कि किसी भी देश की भाषा में जो भी ज्ञान-विज्ञान मिले, उसे निस्संकोच ग्रहण कर लेना चाहिए। इसी सम्बन्ध में दयानन्द ने जोधपुर नरेश यशवन्त सिंह को एक पत्र में राजकुमार की शिक्षा-व्यवस्था के सन्दर्भ में देवनागरी-भाषा और संस्कृत के आर्षग्रन्थों के अध्ययन के साथ-साथ यह भी निर्दिष्ट किया कि, "पश्चात् यदि समय हो, तो अंग्रेजी भी,

जो कि ग्रामर और फिलॉसफी के ग्रन्थ हैं, पढ़ने चाहिए।"[18] दयानन्द की शिक्षाओं और उपदेशों के फलस्वरूप ही पूरे भारत में गुरुकुल विद्यालयों एवं डी० ए० वी० कालेजों की बाढ़ आ गयी है। इनमें वैदिक तथा संस्कृत-साहित्य के अतिरिक्त पाश्चात्य दर्शन, विज्ञान तथा इतिहास आदि के अध्ययन-अध्यापन की विधिवत् व्यवस्था है। दयानन्द पर मात्र वैदिक शिक्षा के समर्थक होने का आरोप निराधार एवं असत्य है। उन्होंने वैदिक शिक्षा को राष्ट्रीय एकता एवं जागरण के साथ-साथ स्वदेशी की भावना के परिप्रेक्ष्य में महत्ता प्रदान की है। आधुनिक युग में राष्ट्रीय शिक्षा-व्यवस्था के आदि प्रचारक दयानन्द ही थे।

(द) दयानन्द का आर्थिक क्षेत्र में योगदान :

स्वामी दयानन्द अपने युग की किसी भी समस्या से उदासीन नहीं थे। यही कारण है कि आध्यात्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में विभिन्न युगान्तरकारी योगदान के साथ ही साथ तत्कालीन भारत की दयनीय आर्थिक स्थिति के सुधार-हेतु भी उन्होंने अथक प्रयास किया है। देश को आर्थिक दृष्टि से उन्नत बनाने के सम्बन्ध में दयानन्द ने मूर्तिपूजा का खण्डन करते हुए एक प्रसंग में कहा था कि, मूर्तियों एवं मन्दिरों के निर्माण आदि में धन व्यय करने की अपेक्षा यदि कला-कौशल के विस्तार में किया जाता तो हजारों बेरोजगारों को रोजी मिलती।[19] स्पष्ट है कि दयानन्द देश के धन को अनुत्पादक कार्यों में व्यय करने के पक्ष में नहीं थे। अर्थ-व्यवस्था के क्षेत्र में प्रमुख योगदान निम्न-लिखित हैं :

1. दयानन्द ने धर्म पूर्वक धन-संग्रह के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर अर्थ-व्यवस्था के क्षेत्र में शोषण, बर्बरता एवं अधर्म की समाप्ति-हेतु प्रयास किया है। प्रकारान्तर से दयानन्द ने अंग्रेजों की शोषणवादी अर्थनीति के विरुद्ध इस सिद्धान्त द्वारा जन-भावना का निर्माण किया।

2, धर्मपूर्वक धन-संग्रह एवं प्रयोग के सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने राज्य के आय-व्यय के सूत्रों का प्रतिपादन कर देश को बजट-निर्माण का निर्देश किया है।

3. अर्थ-व्यवस्था के क्षेत्र में स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग को स्वीकृति प्रदान कर राष्ट्रवादी चेतना को बल प्रदान किया।

4. वेद-मन्त्रों के आधार पर भारतीय ज्ञान-विज्ञान को पाश्चात्य विज्ञान की तुलना में श्रेष्ठ सिद्ध करते हुए नौविमानादि यानों के निर्माण एवं प्रयोग आदि के सिद्धान्त को प्रतिपादित कर भारतीयों को दीन-हीन भावना एवं पाश्चात्य आविष्कारों के व्यामोह से मुक्त कराने का प्रयास किया है।

5, दयानन्द ही वह प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने देश की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए शिल्पोन्नति को ध्यान में रखकर भारतीय नवयुवकों को वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रशिक्षण के लिए विदेश भेजने की योजना बनाई तथा जर्मनी के प्रो० जी० वाइज से पत्र-व्यवहार भी किया है।

6. दयानन्द ने ही सर्वप्रथम देशाटन के विरुद्ध स्थापित वर्जनाओं का खण्डन करते हुए व्यापार-वृद्धि-हेतु अन्तर्देशीय आवागमन की संस्तुति प्रदान की है।

7. कृषि-कार्य के क्षेत्र में किसी कुशल कृषि वैज्ञानिक की भाँति दयानन्द ने कृषि-शिक्षा, भूमि-परीक्षण, उन्नतिशील बीज तथा उर्वरकों के प्रयोग के साथ ही साथ नहरों के निर्माण, वर्षा-हेतु यज्ञ करवाने एवं वन-सम्पदा के संरक्षण पर बल दिया है।

8. गोकृष्यादिरक्षिणीसभा का गठन कर स्वामी दयानन्द ने गो-रक्षण एवं संवर्द्धन के साथ-साथ कृषि एवं कृषकों की रक्षा आदि का प्रयास किया है। गवादि पशुओं की रक्षा के लिए उन्होंने वेदादि शास्त्रों द्वारा बलि, पशु-हिंसा, मांस-भक्षण आदि की आलोचना की, तथा जनमत-संग्रह के लिए हस्ताक्षर-अभियान भी चलाया।

इस कार्य से लोगों ने राष्ट्र की समृद्धि में पशुओं की महत्ता को समझ कर दयानन्द-प्रतिपादित सिद्धान्तों का समर्थन प्रारम्भ कर दिया।

अर्थ-व्यवस्था के क्षेत्र में दयानन्द के उपर्युक्त कार्यों को देख कर स्पष्ट हो जाता है कि नवजागरण काल के मनीषियों में मात्र दयानन्द ही ऐसे आध्यात्मिक पुरुष थे, जिन्होंने धर्म और धन दोनों के सम्यक् महत्त्व को स्थापित किया है। उन्होंने इस मान्यता को भी झुठला दिया कि साधु-संन्यासियों एवं ऋषियों-महर्षियों का सम्बन्ध मात्र अध्यात्म-चिन्तन से ही है।

(य) दयानन्द का राजनीतिक क्षेत्र में योगदान :

राजनीतिक परिधि से सर्वथा असम्पृक्त रहते हुए भी राजनीति के क्षेत्र में प्रभूत अवदान, दयानन्द जैसे सन्त दार्शनिक की सर्वप्रमुख विशेषता है। उनके राज-दर्शन का आधार वेद एवं आर्षग्रन्थों में निहित अभ्युदयवादी मान्यताएँ हैं। यह सत्य है कि महर्षि दयानन्द का युग तथा युग-चेतना वर्त्तमान युग की चेतना से भिन्न थी, परन्तु उनके राजनीतिक दर्शन में अनेक ऐसे शाश्वत तत्त्व निहित हैं, जो सार्वजनीन एवं सार्वकालिक होने के साथ ही साथ वर्त्तमान में भी सर्वथा उपयुक्त एवं अनुपालनीय हैं। दयानन्द के राजनीतिक योगदान को निम्नांकित उपशीर्षकों में प्रस्तुत किया जा सकता है—

(i) आधुनिक राजनीतिक चिन्तन में आर्षग्रन्थ प्रमाणवाद एवं ऐतिहासिक उपागम के प्रयोगकर्त्ता :

प्रख्यात फ्रांसीसी प्रकृतिविज्ञ जार्ज लुई बूफों (सन् 1707—1788 ई०) का यह कथन कि 'शैली ही व्यक्ति है'[20], दयानन्द के सम्बन्ध में पूर्णतया चरितार्थ होता है। स्वामी दयानन्द के कथन की स्पष्टता उनके चिन्तन की स्पष्टता का प्रतिफल है। उन्होंने अपने प्रत्युत्पन्नमतित्व एवं वर्षों की कठोर साधना से संचित ज्ञान और ध्यान द्वारा अपने

विचारों के सत्यापन-हेतु वेदादि आर्षग्रन्थों का प्रमाण प्रस्तुत कर दर्शन के क्षेत्र में अध्ययन के ऐतिहासिक उपागम के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनका अभिमत था कि राज्य या समाज के प्रारम्भिक स्वरूप और विकास के विभिन्न चरणों का अध्ययन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में ही किया जा सकता है। यही कारण है कि दयानन्द ने राज्य की उत्पत्ति, विकास, प्रकृति, क्षेत्र, कार्य, प्रकार, न्याय, अर्थ, रक्षा एवं राष्ट्रवादी चिन्तन के पक्ष-पोषण में पदे-पदे वेद तथा प्राचीन भारत के गौरवपूर्ण इतिहास का उद्धरण दिया है। वेदादि शास्त्र एवं इतिहास से उपलब्ध ज्ञान एवं अनुभवों के आधार पर ही उन्होंने अपने समस्त विचारों को श्रेणीबद्ध किया है। दार्शनिक दृष्टिकोण से इसे निगमनात्मक या आदर्शमूलक पद्धति भी कहा जा सकता है। दयानन्द की ऐतिहासिक पद्धति हमारी संस्कृति, सभ्यता, धर्म एवं दर्शन के मूलभूत उच्चादर्शों के आधार पर भविष्य के प्रति सचेष्ट एवं सजग करते हुए राष्ट्र-रक्षा एवं विकास का मार्गदर्शन कराती है।

(ii) आधुनिक भारत में धर्मानुप्राणित राजनीति के प्रथम प्रणेता :

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास साक्षी है कि पुनर्जागरण आन्दोलन में अग्रणी इटली के फ्लोरेन्स नगर के राजनीतिक विचारक मैकियावेली (सन् 1469—5527 ई०) के युग से ही राजनीति को धर्म एवं नैतिकता से पूर्णतया पृथक् करना प्रारम्भ कर दिया गया था। मैकियावेली का मत था कि, "राज्य किसी नैतिकता को नहीं जानता। जो कुछ वह करता है वह न तो नैतिक है और न अनैतिक; प्रत्युत वह नैतिकता रहित है।"[21] मैकियावेली तथा उसके परवर्त्ती हाब्स आदि विचारकों के इस प्रकार के चिन्तन का दुष्परिणाम यह हुआ कि शनैः-शनैः विश्व के अधिकांश राज्यों में परस्पर आचार-व्यवहार और नीति-रीति में छल-छद्म, धोखाधड़ी, अवसरवादिता, साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, शोषण, हिंसा, युद्धोन्माद आदि कुत्सित प्रवृत्तियों की वृद्धि होती

गयी। फलस्वरूप, आज विश्व-मानवता विनाश के कगार पर खड़ी है।

भारतीय राजनीतिक चिन्तन से आधुनिक इतिहास में स्वामी दयानन्द जैसा भविष्यदर्शी तत्त्ववेत्ता दार्शनिक धर्मविहीन राजनीति की दुखद परिणिति की सम्भावना से पूर्व ही परिचित था। इसीलिए उनका यह ध्रुव विश्वास था कि धर्म-नीति से पृथक् होकर राज-नीति सर्वथा स्वार्थ एवं कपट-नीति बन कर रह जाती है। अपने इसी विश्वास के फलस्वरूप दयानन्द ने राजनीति को वेद-प्रदत्त शास्त्र स्वीकार करते हुए, उसे राज्य-संचालन का वह धर्म माना है, जिससे मानव-जाति के समस्त लौकिक एवं पारलौकिक प्रयोजनों की पूर्ति सम्भव हो। यही कारण है कि उन्होंने 'राज' शब्द के साथ 'नीति' के स्थान पर 'धर्म' शब्द संयुक्त किया है। परन्तु, ध्यातव्य है कि दयानन्द ने 'धर्म' शब्द का प्रयोग धारण करने तथा अभ्युदय एवं निःश्रेयस के अर्थ में किया है, किसी सम्प्रदाय के अर्थ में नहीं।[42] वस्तुतः, जिस प्रकार आत्मा के अभाव में शरीर संज्ञा-शून्य होकर नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार धर्म-शून्य राजनोति भी नष्ट हो जाती है।[43] इसीलिए दयानन्द ने धर्मानुप्राणित राजनीति को ही स्वीकृति प्रदान को है। स्वामी जी की इसी मान्यता के पक्ष में अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए स्वामी समर्पणानन्द ने लिखा है कि, "जिस दिन ब्रह्मनीति में राजनीति आ मिली, उस दिन खण्ड भारस से भारत और भारत से फिर महाभारत-राज्य बन कर रहेगा।"[43A]

उपर्युक्त कथनों एवं समीक्षाओं के परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि यदि हमें राजनोति में समाविष्ट दोषों तथा भ्रष्टाचारों आदि को समाप्त कर मानव-मूल्यों को सुरक्षित रखना है, तो निश्चय ही दयानन्द प्रतिपादित धर्मानुप्राणित राजनीति के सिद्धान्त को व्यवहार-रूप में प्रयुक्त करना होगा। दयानन्द ने राजनीतिक सत्ता (क्षत्र) को आध्यात्मिक सत्ता (ब्रह्म) से समन्वित कर जिस वैदिक आदर्श को स्थापना की है, वह आज अनुपालनीय है।

(iii) मानववादी राजनीतिक दर्शन का प्रतिपादन :

पाँचवीं शताब्दी ईसापूर्व के प्रसिद्ध यूनानी मानववादी सोफिस्ट दार्शनिक प्रोटागोरस ने मानव के अस्तित्व और उसके सकारात्मक मूल्यों की महत्ता पर बल देते हुए यह उद्घोषित किया था कि, "मनुष्य ही प्रत्येक वस्तु का मापदण्ड है।"[24] अर्थात् मानववाद वह चिन्तन या जीवन-दृष्टि है, जिसके अन्तर्गत मानव की स्वतन्त्रता, सम्प्रभुता, आत्मचेतना, बौद्धिकता और आध्यात्मिकता का सम्यक् रूप से संरक्षण होता है। वस्तुतः, मानववाद वह सिद्धान्त, दृष्टिकोण या जीवन-पद्धति है, जिसमें मनुष्य की गरिमा और मूल्यवत्ता को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है और यह माना जाता है कि मनुष्य अपनी तर्कबुद्धि का प्रयोग करके तथा वैज्ञानिक पद्धति अपना कर आत्म साक्षात्कार करने में समर्थ है।[25] यह दृष्टिकोण मनुष्य के अस्तित्व या गौरव को आध्यात्मिक तत्त्वों के साथ-साथ मनुष्य को विवेकशील प्राणी मानकर उसके विवेक को सबसे मूल्यवान् तत्त्व समझता है।

मानववाद-सम्बन्धी उपर्युक्त मान्यता के परिप्रेक्ष्य में यदि दयानन्द के राज-दर्शन का मूल्यांकन किया जाय तो ज्ञात होगा कि दयानन्द सच्चे अर्थों में एक मानववादी विचारक थे। उनके विचारों को यदि किसी 'वाद' की संज्ञा देनी पड़े तो 'मानववाद' ही सर्वथा उपयुक्त होगा। दयानन्द का मानववाद टैगोर की भाँति इस दार्शनिक विश्वास पर आधारित था कि परमात्मा सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। उनका मानववाद गाँधी के मानववाद के तुल्य कोरा आध्यात्मिक न होकर वैज्ञानिक था। दयानन्द ऐसे मानववादी दार्शनिक थे, जिन्हें ईश्वर की सत्ता और मानव-सत्ता दोनों पर समान रूप से विश्वास था। वे मानवता को ईश्वर और मानव धर्म को सर्वश्रेष्ठ धर्म मानते हैं। इनके लिए धर्म कोई कर्मकाण्ड, सम्प्रदाय या मजहबी मान्यता नहीं है। अपितु वह है—सदा परहित के लिए स्वहित का त्याग करना।

दयानन्द के मानववाद की आधारशिला थी—मानव की त्रासद स्थिति। व्यक्ति की पीड़ा, निराशा, नास्तिभाव एवं पार्थक्य आदि का

दयानन्द के संवेदनशील हृदय पर पड़े प्रभाव के फलस्वरूप उत्पन्न वैचारिकी का नाम ही मानवाद है। दयानन्द के मानववादी अवधारणा की पुष्टि उनके मनुष्य की परिभाषा से हो जाती है, जिसके अनुसार, "मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुख और हानि-लाभ को समझे ।..... उसको कितना ही दारुण दुख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावे परन्तु इस मनुष्यपनरूप धर्म से पृथक् कभी न होवे।"[26] स्वामी दयानन्द के मानववाद को समझने-हेतु इस परिभाषा से उपयुक्त अन्य तर्क क्या हो सकता है ? वे मानववाद को ही आधुनिक युग का सर्वोत्तम आदर्श मानते थे।

स्वामी दयानन्द के चिन्तन का जन्म राष्ट्र और मानव के दलित, शोषित, परतन्त्र एवं दीन-हीन स्थिति से मुक्त होने के उपायों की खोज से हुआ है। उनके हृदय में राष्ट्र और व्यक्ति की दैन्यावस्था की असीम वेदना रहती थी। इसीलिए उन्होंने देश-भक्ति को मानव-धर्म का प्रथम सिद्धान्त माना है। मानवता के प्रतिमूर्ति दयानन्द ने इसीलिए क्रान्ति का समर्थन किया है। उनके मतानुसार पददलित जनता को विद्रोह का अधिकार है। वे भारत की ही नहीं, अपितु समस्त मानव-जाति की स्वतन्त्रता के आकांक्षी थे। मानववादी होने के कारण ही वे संकीर्ण राष्ट्रीयता के कट्टर आलोचक और विश्व-संघ (चक्रवर्त्ती सार्वभौम राज्य) के समर्थक थे। मानव-समस्या पर उनका दृष्टिकोण सार्व-भौमिक था उनका लक्ष्य विश्व में सुख, शांति, उन्नति और समृद्धि की स्थापना करना था। वे युद्ध को मात्र धर्म-युद्ध तक ही सीमित रखना चाहते थे। युद्ध का प्रयोग शांति के अन्य समस्त विकल्पों के विफल हो जाने पर ही किया जाना चाहिए। उन्होंने जिस विदेशनीति का समर्थन किया है, वह युद्ध की विभीषिका से मानव-जाति और वैदिक धर्म के रक्षार्थ शांति का समर्थन करती है।

दयानन्द आजीवन मानव-जीवन की उच्चता के लिए संघर्षरत रहे। वे आर्थिक शोषण, राजनीतिक दासता, सामाजिक एवं धार्मिक विकृता-

वस्था को समाप्त करने के उद्देश से हो मोक्ष-मार्ग का परित्याग कर मानव-सेवा और देश-सेवा में संलग्न हो गए। वे मानववादी थे, परन्तु उग्र व्यक्तिवादी नहीं। उनके मानववाद में स्वार्थवाद की गन्ध तक नहीं है। उनके मानववाद का सर्वोत्तम विकसित स्वरूप का नाम ही राष्ट्रवाद है। उनका वेद-प्रतिपादित वैज्ञानिक मानववाद अर्थनीति, धर्मनीति, विदेशनीति, राजनीति और समाजनीति में सर्वत्र परिव्याप्त है। उनका मानवबाद ऐसे समाज की रचना का दर्शन है, जिसमें आर्थिक न्याय, प्रत्येक स्त्री-पुरुष को स्वतन्त्रता और अवसर की समानता, उच्चनैतिक सांस्कृतिक विकास, आध्यात्मिक वैदिक मूल्यों की स्थापना, सहयोग, सद्भाव, विश्वबन्धुत्व की कामना और सत्कर्म की अभिलाषा निहित हो।

(iv) लोकप्रिय सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन :

राजनीति विज्ञान में सम्प्रभुता की अवधारणा का सर्वाधिक महत्त्व है। सम्प्रभुता 'राज्य' का एक आवश्यक तत्त्व है। सम्प्रभुता के विभिन्न रूप होते हैं, यथा—नाम मात्र की सम्प्रभुता, वैधानिक या कानूनी सम्प्रभुता, राजनीतिक सम्प्रभुता, सार्वजनिक या लोकप्रिय सम्प्रभुता, वैध तथा वस्तुतः सम्प्रभुता। इनमें से प्रजातान्त्रिक देशों में किसी न किसी रूप में लोकप्रिय या जन सम्प्रभुता का ही विशेषतः प्रचलन है। जब सम्प्रभुता (सर्वोच्च शक्ति) का अधिवास जनता या मतदाताओं में होता है, तब लोकप्रिय सम्प्रभुता कहा जाता है। इस सिद्धान्त का आविर्भाव 16 वीं और 17 वीं शताब्दी में हुआ और फ्रांस की राज्यक्रान्ति, अमरीकी स्वतन्तता-घोषणा तथा समस्त प्रजातान्त्रिक देशों में लोक-प्रभुता को लोकतन्त्र के पर्याय के रूप स्वीकार किया गया है।

स्वामी दयानन्द ने मूलतः धर्म (वेदोक्त) की सम्प्रभुता को स्वीकृति दी है, जिससे राजा और प्रजा दोनों अनुशासित होते हैं। परन्तु, राजा के निर्वाचन से लेकर सभासदों के चयन और राज्यकर्मियों की

नियुक्ति तक में प्रजा की सम्मति प्राप्त करने का निर्देश देकर दयानन्द ने लोकप्रिय सम्प्रभुता को ही मान्यता दी है। राज्य-शासन के प्रत्येक क्षेत्र में जनता की राजनीतिक सहभागिता और विधि-निर्माण में जनमत-संग्रह की व्यवस्था द्वारा प्रजा को ही महत्त्व दिया है। यही नहीं, अपितु किसान आदि जन सामान्य को 'राजाओं का राजा' कहकर दयानन्द ने यह स्थापित कर दिया है कि वास्तविक शक्ति प्रजा में ही निहित है। इस प्रकार उनके चिन्तन में जन सम्प्रभुता के सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतिपादन हुआ है।

(v) प्रजातन्त्रीय समिति राजतन्त्र का प्रतिपादन :

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में वैदिक युग से लेकर मनु, भीष्म तथा कौटिल्य आदि राज-शास्त्र प्रणेताओं द्वारा भी शासन के स्वरूप विषयक अवधारणा के रूप में सामान्यत: वंशानुगत राजतन्त्रीय व्यवस्था का ही अनुसमर्थन किया गया है। परन्तु, स्वामी दयानन्द ने राजत्व के दैवी सिद्धान्त तथा उसकी स्वेच्छाचारिता, निरंकुशता तथा वंशानुगतता का घोर विरोध करते हुए गुण, कर्म एवं स्वभाव की श्रेष्ठता के आधार पर प्रजा द्वारा निर्वाचित एवं वैधानिक (धर्म) रूप से सीमित राजतन्त्रीय व्यवस्था को ही मान्यता दी है। राजा का पद निर्वाचित अध्यक्ष का पद है तथा वह तीनों सभाओं की सहमति और स्वीकृति से ही कोई कार्य करने की क्षमता रखता है। अपराध में राजा एवं राजन्यवर्ग को प्रजा से अधिक दण्ड का विधान करते हुए दयानन्द ने प्रजा-हित के प्रतिकूल आचरण करने वाले राजा को प्रजा द्वारा पदच्युत किए जाने के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया है। राजा की शक्ति सभा एवं प्रजा की स्वीकृति पर निर्भर करती है।

यद्यपि, दयानन्द की राज्य-व्यवस्था का बाह्यरूप राजतन्त्रीय प्रतीत होता है, परन्तु स्थानीय-स्वशासन की व्यवस्था के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि वह वस्तुत: विकेन्द्रित लोकतन्त्रवाद की अव-

धारणा पर अवलम्बित है। महात्मा गाँधी से पूर्व स्थानीय स्तर पर राजनीतिक संस्थाओं को स्वायत्तता एवं स्वतन्त्रता का सर्वप्रथम प्रतिपादन दयानन्द ने ही किया है। यही नहीं, अपितु जहाँ महात्मा गाँधी के सर्वोदय की अवधारणा जॉन रस्किन और टालस्टाय जैसे पाश्चात्य विचारकों की प्रेरणा का परिणाम है, वहीं दयानन्द की यह विचारधारा वेद और मनुस्मृत्यादि आर्षग्रन्थों से प्रसूत विशुद्ध भारतीय है।

दयानन्द की सीमित राजतन्त्रीय प्रजातान्त्रिक अवधारणा को ब्रिटिश शासन-व्यवस्था के तुल्य समझने की भूल की जा सकती है, क्योंकि वहाँ पर भी राजतन्त्रीय, कुलीनतन्त्रीय एवं जनतन्त्रीय व्यवस्था पायी जाती है। परन्तु प्रथमतः दयानन्द के काल में ब्रिटेन में शासन-व्यवस्था का वह स्वरूप नहीं था, जो वर्त्तमान में है; द्वितीयतः यदि ब्रिटिश शासन-व्यवस्था से तुलना की भी जाय तो दयानन्द द्वारा प्रतिपादित सीमित (वैधानिक) राजतन्त्र ब्रिटिश राजतन्त्र की भाँति वंशानुगत नहीं है, दयानन्द-निर्दिष्ट तीनों सभाओं में से कोई भी ब्रिटिश लार्डसभा की भाँति कुलीनता एवं परम्परा के आधार पर न गठित है और न शक्तिहीन ही है तथा महर्षि के जनतान्त्रिक मूल्य एवं संस्थाएँ संख्या की बहुलता पर भी निर्भर नहीं है। वस्तुतः, दयानन्द की यह अवधारणा ब्रिटिश व्यवस्था से तत्त्वतः सर्वथा भिन्न और सत्य, धर्म एवं लोकतन्त्र में गुणात्मकता के सिद्धान्त पर आधारित है।

(vi) कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का प्रतिपादन :

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन के सम्पूर्ण इतिहास में अन्य किसी मनीषी ने राज्य के उद्देश्य एवं कार्य-क्षेत्र को इतना व्यापक एवं उदात्त स्वरूप प्रदान नहीं किया है, जितना कि स्वामी दयानन्द द्वारा प्रदान किया गया है। आधुनिक लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा भी मात्र भौतिक संसार की सर्वतोन्मुखी अभिवृद्धि तक ही सीमित है। दयानन्द का राज्य लौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकार के उद्देश्यों से संयुक्त है। प्रजा के व्यक्तिगत जीवन (विवाह आदि) से लेकर शिक्षा,

रक्षा, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक परम लक्ष्य तक राज्य का कार्य-क्षेत्र विस्तीर्ण है। दयानन्द के लिए राज-पद प्रतिष्ठा और भोग-हेतु नहीं, अपितु सेवा तथा त्याग-हेतु है। राजन्य वर्ग प्रजा का सेवक है, स्वामी नहीं है। दयानन्द ने प्रजा-हित में निरन्तर संलग्न रखने के उद्देश्य से ही ऐसी दिन-चर्या का विधान किया है, जिसमें राज-वर्ग को भोग-विलास और हास-परिहास आदि के लिए अवकाश ही नहीं है।

(vii) विधि-शासन एवं स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष न्याय-व्यवस्था का प्रतिपादन :

स्वामी दयानन्द के राजनीतिक दर्शन का एक प्रमुख अवदान विधि के शासन के सिद्धान्त का प्रतिपादन है। उनका यह सिद्धान्त इसलिए और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है कि उनके युग में विधि राजाओं अथवा अंग्रेज शासकों की इच्छा का प्रतिफल मात्र हुआ करती थीं। विधि-विहीनता के उस युग में भी दयानन्द ने व्यक्ति एवं उसकी इच्छाओं के शासन को पूर्णतया अस्वीकार करते हुए विधि-शासन के सिद्धान्त की घोषणा की है। उनका मत है कि विधि का निर्माण वेदादि शास्त्रों के अनुसार सभा और प्रजा-सहमति द्वारा किया जाना चाहिए तथा वह विधि किसी दशा में ईश्वरीय विधान के प्रतिकूल न हो। इस प्रकार की विधि का अनुपालन राजा और प्रजा द्वारा समभाव से किया जाना चाहिए। शासन विधि का होगा, व्यक्ति का नहीं तथा विधि का सबको समान संरक्षण प्राप्त होगा। विधि के समक्ष समस्त स्त्री-पुरुष तथा राजा-प्रजा समान होंगे। उसके उल्लंघन कर्त्ता में कोई भी अदण्ड्य नहीं होगा।

दयानन्द के राज-दर्शन में अत्यन्त व्यावहारिक एवं मनोवैज्ञानिक न्यायिक प्रक्रिया (साक्ष्य, शपथ, बहस, वकील आदि) का ही प्राविधान नहीं किया गया है, अपितु नारी की स्वाभाविक लज्जा एवं संकोच को

ध्यान में रखते हुए स्त्री का स्त्रियों द्वारा ही साक्ष्य-ग्रहण एवं न्याय का विधान किया गया है। दयानन्द की न्याय-प्रणाली में सम्यक् दण्ड की संकल्पना के साथ योग्यता, पद, प्रतिष्ठा, शिक्षा एवं सामाजिक स्थिति की विभिन्नता को दृष्टि में रखते हुए गुणात्मक और मात्रात्मक रूप से पृथक्-पृथक् कठोर दण्ड की भी व्यवस्था है। इस प्रकार दयानन्द की न्याय-व्यवस्था वर्तमान न्याय एवं शासन में व्याप्त भ्रष्टाचार को समूल समाप्त करने-हेतु अनुकरणीय है।

(viii) राष्ट्र-रक्षा पर बल :

दयानन्द के चिन्तन में देश की सुरक्षा पर विशेष बल दिया गया है। इस सन्दभ में उन्होंने रणनीति, युद्ध-प्रशिक्षण, तोप-बन्दूक आदि आग्नेयास्त्रों, प्रशिक्षित चतुरंगिणी सेना, युद्ध में स्त्रियों की सहभागिता आदि का उल्लेख करते हुए धर्म-युद्ध की अनुमति दी है, कूट-युद्ध की नहीं। दयानन्द ने राजनय और विदेशनीति-संचालन-हेतु निर्देशक तत्त्वों का भी सूत्रवत् संकेत किया है।

(x) राष्ट्रवादी अवधारणा का विकास :

भारतीय राजनीतिक चिन्तन के विकास में दयानन्द के राष्ट्रवादी दर्शन का सर्वाधिक योगदान है। राजनीतिक चेतना और राष्ट्रवादी अवधारणा से शून्य तत्कालीन भारतीयों के समक्ष उन्होंने भारत के अतीत की गौरवशाली परम्परा के स्वाभाविक स्वरूप को प्रस्तुत कर स्वदेशाभिमान एवं पौरुष का भारतीय जन-जीवन में संचार किया है। स्वभाषा, स्वदेशी, स्वराज्य तथा स्वधर्म (वैदिक) के चार स्तम्भों पर उन्होंने आधुनिक स्वतन्त्र भारत के निर्माण की रूपरेखा प्रस्तुत की है। उनका राष्ट्रवाद एक साथ ही राजनीतिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक राष्ट्रवाद है। उनके इस चिन्तन से प्रभावित हो कर ही कालान्तर में भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में स्वराज्य, स्वदेशी और स्वभाषा जैसे महत्त्वपूर्ण कारकों को संघर्ष का आधार बनाया गया।

दयानन्द ने आर्य-भाषा हिन्दी को राष्ट्रीय एकता के सूत्र का महत्त्वपूर्ण आधार माना था। महात्मा गाँधी भी अस्पृश्यता एवं भाषा के प्रश्न पर दयानन्द से प्रभावित थे। राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को मान्यता दिए जाने के पक्ष में उनका कथन था कि, "अगर आपका दृष्टि-क्षेत्र उत्तर में श्रीनगर तक, दक्षिण में कन्याकुमारी तक, पश्चिम में कँराची तक फैला है, जैसा कि होना चाहिए—तो आपको हिन्दी सीखनी ही होगी।"[27] बंगलौर में कर्नाटक हिन्दी दीक्षान्त-भाषण में महात्मा गाँधी द्वारा व्यक्त उपर्युक्त विचार दयानन्द की अवधारणा के समानान्तर ही है। वस्तुतः दयानन्द के राजनीतिक दर्शन ने भारतीय राष्ट्रवादी अवधारणा के विकास में ठीक उसी प्रकार प्रेरणा प्रदान की है, जिस प्रकार सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू के चिन्तन ने यूनान को, मैकियावेली ने इटली के पुनर्जागरण को, हाब्स तथा लॉक ने इंग्लैण्ड को, रूसो ने फ्रांस की राज्य-क्रांति को, हीगेल तथा काण्ट ने जर्मनी को तथा कार्ल मार्क्स के चिन्तन ने सोवियत रूस की क्रांति को प्रेरणा प्रदान की है। दयान्द के राष्ट्रवादी चिन्तन के प्रभावस्वरूप प्रत्येक भारतीय का राष्ट्रवाद जाग उठा।

(x) देशी राजाओं का सुधार :

दयानन्द का ध्रुव विश्वास था कि जब तक स्वदेशी राजाओं का चारित्रिक उन्नयन नहीं होगा, तब तक भारतीय स्वतन्त्रता के प्रयासों को अपेक्षित सफलता नहीं प्राप्त होगी, क्योंकि जैसा स्वभाव और चरित्र राजा का होता है, प्रजा का स्वभाव और चरित्र भी वैसा ही होता है। अपने 'यथा राजा तथा प्रजा' के विश्वास के आधार पर दयानन्द ने महाराणाओं की धरती राजस्थान को अपने चिन्तन की कर्मभूमि बनाया तथा उन्हें राज-धर्म के प्रति जागृत करने, दुर्व्यसनों से पृथक् करने एवं उनमें स्वदेश-प्रेम की भावना को उद्दीप्त करने में ही वहीं अपना प्राणोत्सर्ग भी कर दिया। यह उनके राष्ट्र-प्रेम का ज्वलन्त उदाहरण है। उनके पत्र-व्यवहार से ज्ञात होता है कि दयानन्द ने उदयपुर के महाराणा श्री सज्जन सिंह, शाहपुराधीश नाहर सिंह, राव

राजा मसूदा (अजमेर), जोधपुर नरेश यशवन्त सिंह एवं उनके अनुज कर्नल प्रताप सिंह, राव राजा तेज सिंह, झालावाड़ के राज राणा आदि को शासन-सम्बन्धी नियमों तथा दिन-चर्या एवं दुर्व्यसनों से पृथक् रहने-हेतु समय-समय पर अनेक पत्र लिखे थे, जिसका अपेक्षित प्रभाव भी पड़ा। इसके अतिरिक्त, काशी नरेश महाराजा ईश्वरी नारायण सिंह, बड़ौदा रिसायत के दिवान सर टी० माधवराव, जयपुर राज्य-कौंसिल के प्रभावी सदस्य तथा सचिव ठाकुर नन्द किशोर, उदयपुर स्टेट के मन्त्री पं० मोहनलाल विष्णुलाल पाण्ड्या, उदयपुर दरबार के सदस्य बारहट कृष्ण सिंह तथा कवि श्यामल दास, कविवर ऊमर दान जैसे विभिन्न राजाओं, राजपुरुषों को भी दयानन्द ने अपने उपदेशों एवं पत्रों से उद्बोधित किया था।

(xi) भारतीय स्वतन्त्रता की पृष्ठभूमि का निर्माण :

स्वामी दयानन्द ने भारत की स्वतन्त्रता-हेतु राष्ट्रीयता की अवधारणा को अपने स्वभाषा आदि के सिद्धान्त द्वारा एक गतिशील दर्शन दिया है। 'वेदों की ओर लौट चलने' तथा 'आर्यावर्त्त आर्यों के लिए है' का नारा देकर लगभग पचास वर्ष पश्चात् होने वाले राजनीतिक स्वराज्य के आन्दोलन को एक सशक्त आधार प्रदान किया है। उनके चिन्तन से प्रेरित एवं प्रभावित आर्यसमाजियों द्वारा भारत की स्वतन्त्रता की क्रान्ति में स्वर्णिम अध्याय का सृजन हुआ है। इसीलिए रोमां रोला ने लिखा है कि, "वस्तुतः, भारतीय राष्ट्रीय चेतना के पुनर्जागरण में, जो इस समय (1930 ई०) उस देश में अपने पूर्ण यौवन में दीख पड़ रही है, सबसे प्रबल प्रेरणा दयानन्द से प्राप्त हुई।"[38] अन्यत्र भी रोमां रोला ने स्पष्टतः लिखा है कि, "दयानन्द ने भारत के निष्प्राण शरीर में अपना अदम्य उत्साह, दृढ़ निश्चयात्मक संकल्प और सिंह जैसा रक्त प्रभावित कर उसे संजीवनी शक्ति दी है।[39] दयानन्द के राष्ट्रवादी चिन्तन से प्रभावित बिहार के राज्यपाल श्री अनन्त शयनम् आयंगर का मत था कि, "महात्मा गाँधी यदि देश के राष्ट्रपिता हैं, तो

स्वामी दयानन्द राष्ट्र के पितामह है।"[30] इन्द्र विद्यावाचस्पति का निष्कर्ष है कि, "यदि हम यह कहें कि सन् 1947 ई० के अगस्त मास की पन्द्रह तारीख को जिस स्वाधीनता-यज्ञ की पूर्ति हुई, उसका प्रारम्भ महर्षि दयानन्द ने किया था और अन्तिम आहुति महात्मा गाँधी ने दी थी, तो कोई अत्युक्ति न होगी।"[31] उपर्युक्त कथन इस तथ्य के साक्ष्य हैं कि दयानन्द ने ही भारतीय स्वतन्त्रता की पृष्ठभूमि निर्मित की थी। उन्होंने ही भारत के राष्ट्रीय जागरण की प्रथम दीप-शिखा प्रज्वलित की है।

(xii) स्वतन्त्रता-संग्राम-सेनानियों के जनक एवं प्रेरणा-स्रोत :

स्वामी दयानन्द भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के सेनानियों के जनक थे। यदि ,भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन के इतिहास का अध्ययन किया जाय, तो यह ज्ञात होता है कि उस काल के जिन नेताओं, देशभक्तों एवं क्रान्तिकारियों ने स्वतन्त्रता-हेतु आत्माहुति दी थी, उनमें अधिकांश पर दयानन्द के व्यक्तित्व एवं शिक्षाओं का प्रभाव पड़ा था। इस प्रकार के क्रांतिकारियों में श्याम जी कृष्ण वर्मा, स्वामी श्रद्धानन्द तथा लाला लाजपत राय उनके शिष्य एवं परम भक्त थे तथा इनके अतिरिक्त बाल गंगाधर तिलक, विपिन चन्द्र पाल, गेंदालाल दीक्षित, स्वामी श्री भवानी दयाल, भाई परमानन्द, भगत सिंह, रामप्रसाद विस्मिल, यशपाल, गणेश शंकर विद्यार्थी आदि क्रान्तिकारी-देशभक्तों ने आर्य समाज से ही देश-भक्ति की शिक्षा ग्रहण की थी। यही नहीं अपितु महात्मा गाँधी पर भी दयानन्द के चिन्तन का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। महात्मा गाँधी के गुरु गोपाल कृष्ण गोखले और गोखले के गुरु न्यायमूर्ति गोविन्द रानडे थे, जो दयानन्द के परम शिष्य ही नहीं, अपितु दयानन्द द्वारा स्थापित परोप-कारिणी सभा अजमेर के प्रतिष्ठत अधिकारी भी थे। अतः शिष्य परम्परा के अन्तर्गत दयानन्द गाँधी के गुरु के भी गुरु थे।

स्वामी दयानन्द ने स्वतन्त्रता-संग्राम और उसके सेनानियों का जो पथ-प्रदर्शन किया है, उसकी प्रशंसा और पुष्टि विभिन्न भारतीय एवं

पाश्चात्य विद्वानों एवं इतिहासकारों ने भी की है। प्रसिद्ध इतिहासकार जदुनाथ सरकार का मत है कि, "जब भारत के उत्थान का इतिहास लिखा जाएगा, तो 'नंगे फकीर' दयानन्द सरस्वती को उच्चासन पर बिठाया जाएगा।"[32] दयानन्द और आर्य समाज के कार्य एवं प्रभाव को स्पष्ट करते हुए पाश्चात्य विद्वान् बैलंटाइन शिरोल का निष्कर्ष था कि, "जहाँ-जहाँ आर्य समाज का जोर है, वहाँ राजद्रोह प्रबल है।"[33] महात्मा गाँधी की यह स्वीकृति है कि अनेक आर्य समाजी उनके सक्रिय कार्यकर्त्ता बन गए थे।[34] कांग्रेस द्वारा नियुक्त पं० मोतीलाल नेहरू तथा मौलाना हसरत मुहानी की एक रिपोर्ट के अनुसार सत्याग्रह में जेल जाने वाले सत्तर से नब्बे प्रतिशत लोग आर्य समाजी ही थे।[35] लाला लाजपत राय का कथन था कि, "स्वामी दयानन्द ने मुझे मेरी आत्मा का दान दिया। मैं इनका मानस-पुत्र होने के नाते उनका ऋणी हूँ।"[36] महर्षि के 'सत्यार्थ प्रकाश' में देश की दुर्दशा के मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी वर्णन को पढ़कर तथा दयानन्द की देशभक्ति की भावना को अनुभव कर सनातन धर्मानुयायी तथा देश-भक्त मदनमोहन मालवीय के भी नेत्र सजल हो उठते थे।[37] उपर्युक्त समस्त कथनों के प्रकाश में निस्संकोच कहा जा सकता है कि दयानन्द ने अपने राष्ट्रवादी विचारधारा द्वारा भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन एवं क्रान्तिकारियों को प्रेरणा एवं शक्ति प्रदान की है।

(xiii) विश्व-नागरिकता, विश्व-संगठन एवं विश्व-शान्ति के अग्रदूत :

दयानन्द के चिन्तन ने संकुचित राष्ट्रवाद की संकल्पना के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रवाद की विचारधारा का प्रतिपादन कर विश्व-नागरिकता, विश्व-संगठन एवं विश्व-शांति का संदेश दिया है। अन्तर्राष्ट्रवाद वह भावना है, जो व्यक्ति को अपने राज्य का ही सदस्य होने का गौरव नहीं प्रदान करती है, अपितु उसे विश्व नागरिक बना देती है। दयानन्द ने सार्वभौमिक भ्रातृत्व एवं प्रेम का संदेश देते हुए अपना

मन्तव्य स्पष्ट किया है कि, "……जैसा स्वदेश वालों के साथ मनुष्योन्नति के विषय में वर्त्तता हूँ, वैसा विदेशियों के साथ भी……।"[38] उन्होंने विश्व के पर्यावरण को शुद्ध कर प्राणिमात्र को जीवन देने के लिए रूढ़िवादी यज्ञ-पद्धतियों के वजाय वैज्ञानिक अग्निहोत्र-पद्धति को व्यावहारिकता प्रदान की। प्रदूषित संकल्प एवं विचारों तथा रूढ़िवादी चिन्तनग्रस्त मानवजाति को मुक्ति दिलाकर शिव-संकल्प के विशाल क्षेत्र में विचरण करने को अग्रसर किया। विश्वशांति-हेतु शिव-संकल्पमय अमृतरूपी वेदवाणी के अध्ययन-अध्यापन का सबको अधिकार प्रदान किया।[39]

स्पष्ट है कि दयानन्द की दृष्टि मात्र स्वदेश के भौगोलिक क्षितिज तक ही सीमित नहीं थी। उनकी राष्ट्रभक्ति में मिथ्या राष्ट्राभिमान को स्थान नहीं है, अपितु उसमें विश्व-बन्धुत्व का सिद्धान्त निहित है। दयानन्द प्रतिपादित चक्रवर्त्ती राज्य की अवधारणा वस्तुतः सार्वभौमिक विश्व-संगठन का ही प्रतीक है। वे सभी देशों की शांति, स्वतन्त्रता और उन्नति के पक्षधर थे।

स्वामी दयानन्द के राजनीतिक दर्शन के विभिन्न अवदानों के आलोक में यह निष्कर्ष निकलता है कि उनका सम्पूर्ण जीवन राष्ट्रमय था तथा उनका राज-दर्शन स्वतन्त्रता और स्वराज्य का दर्शन है। उनके चिन्तन में आर्य-संस्कारों, वेद के स्वाध्याय, आर्य-भाषा (हिन्दी) का समर्थन, स्वराज्य का प्राज्य विज्ञान, स्वदेशी के सदुविचार आदि के सिद्धान्तों की विशुद्ध सरणि प्रवाहित है। दयानन्द के विचारों ने भारत को सुदृढ़ और समुन्नत किया है तथा भविष्य में भी इनसे प्रेरणा प्राप्त होती रहेगी। दयानन्द का चिन्तन स्वप्न-दर्शन न होकर यथार्थ-दर्शन है।

निष्कर्ष :

आधुनिक युग में विचारधाराओं एवं मान्यताओं की बाढ़ सी आ गयी है। प्रजातन्त्रवाद, साम्राज्यवाद, पूँजीवाद, समाजवाद, निरपेक्षता-

वाद जैसी अनेकशः अवधारणाएँ मानव-मस्तिष्क को इतना उद्वेलित कर रही हैं, कि सही दिशा के चयन में जनसामान्य संकल्प-विकल्प की स्थिति में पड़ गया है। हम भारतीय सभ्यता, संस्कृति, संस्कार और गौरवशाली परम्पराओं से विमुख होकर पाश्चात्य मान्यताओं के वशीभूत होते जा रहे हैं, जो हमारे देशज संस्कारों से मेल नहीं खाती हैं। इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि सर्वत्र कुंठा, संत्रास, आतंक एवं मूल्यहीनता विद्यमान है। भारतीय धर्म और संस्कार के मूल स्रोत वेद को मात्र अंधविश्वासों, कर्मकाण्डों एवं भ्रामक मान्यताओं की पुस्तक माना जाता है।

अतः ऐसी विषम स्थिति में आज परमावश्यकता है दयानन्द के दर्शन के अनुगमन एवं अनुसरण की, जिससे वेदों को वैज्ञानिकता के धरातल पर स्थापित कर ज्ञान-विज्ञान के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को समाप्त किया जा सके। जातिवाद, सम्प्रदायवाद, भाषावाद, क्षेत्रवाद, आतंकवाद, चारित्रिक पतन एवं मानवता के अवमूल्यन को समाप्त कर, पुनः भाषा, भाव, धर्म एवं सांस्कृतिक एकता की स्थापना-हेतु दयानन्द के दर्शन का ग्रहण करना ही श्रेयस्कर है। उनके दर्शन में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक व्यवस्था के साथ ही साथ राष्ट्र-रक्षा, राष्ट्राभिमान, स्वावलम्बन तथा मानवताको सुदृढ़ एवं उन्नत बनाने की विलक्षण शक्ति निहित है। जाति, भाषा, सम्प्रदाय, रीति-नीति, धर्म एवं आदर्श की विभिन्नताओं से शतधा खण्ड-खण्ड हो रही राष्ट्रीयता की समस्या से ग्रस्त भारत एवं मानव-जाति को दयानन्द के राज-दर्शन से सम्यक् समाधान प्राप्त हो सकता है।

स्वतन्त्र भारत के संविधान में दयानन्द की अनेक मान्यताओं, यथा—अस्पृश्यता का निवारण, बाल-शोषण की समाप्ति, नारी अक्षमता की अवधारणा की समाप्ति, पुरुष-नारी की समानता-सिद्धान्त का प्रतिपादन, चौदह वर्ष के बच्चों-हेतु राज्य द्वारा अनिवार्य शिक्षा-

व्यवस्था, हिन्दी को राष्ट्र भाषा का स्थान प्रदान करना, मतदाताओं की आय की न्यूनतम सीमा अठारह वर्ष करना--आदि को स्थान दिया गया है, परन्तु उनके क्रियान्वयन की समुचित व्यवस्था का अभाव है। दयानन्द के राजनीतिक दर्शन में ऐसे अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्व अभी भी अवशिष्ट हैं, जिनके अनुसरण और अनुकरण की नितान्त आवश्यकता है। ऐसे तत्त्वों में राज्य के स्वरूप, राज्य और सरकार के कार्यों एवं लक्ष्यों को लौकिकता के साथ-साथ पारलौकिकता तक विस्तृत करना, अनुशासन-हेतु कठोर एवं सम्यक् दण्ड की व्यवस्था करना, राजपुरुषों को सामान्यजन की अपेक्षा अधिक दण्ड देना, विधि-शासन का वास्तविक प्रयोग, राज-पुरुषों-हेतु दिन-चर्या की संवैधानिक व्यवस्था, आदर्श विदेशनीति, राष्ट्रवादी तत्त्वों का व्यावहारिक प्रयोग आदि प्रमुख हैं, जिनको स्वीकार करने से भारतीयता की रक्षा और राष्ट्र के विकास में वृद्धि होगी। भारतीय संविधान में जिस धर्म निरपेक्षता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है, उसमें धर्म का तात्पर्य पूजा-विधान, धार्मिक कर्मकाण्ड एवं मान्यताओं आदि में अहस्तक्षेप तथा सरकारी धर्म के अभाव से है। परन्तु, 'धर्म' का यह अर्थ वैदिक मान्यता एवं दयानन्द की संकल्पना के विपरीत है। अतः धर्म को नैतिकता, सद्गुण, सत्य, न्याय आदि का प्रतिरूप मानते हुए धर्म सापेक्ष सिद्धान्त का प्रतिपादन होना चाहिए। ऐसा होने पर ही राजनीति को राजधर्म का स्थान प्राप्त होगा और राजनीति से स्वार्थ, धोखा-धड़ी एवं कूटनीतिक चातुर्य का पटाक्षेप सम्भव है।

सामान्यतः साधु-संन्यासियों से त्याग, तपस्या, ईश-वन्दना एवं परलोक चिन्तन की ही अपेक्षा की जाती है। राष्ट्रीय राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक समस्याओं के समाधान के परिप्रेक्ष्य में हमारी दृष्टि उनकी ओर नहीं जाती है। इस सन्दर्भ में स्वामी दयानन्द का राज-दर्शन अपवाद स्वरूप ही है। सांसारिकता से सर्वथा विरक्त दयानन्द के राजनीतिक विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने देश और समाज

की पतनोन्मुख स्थिति से पीड़ित एवं द्रवित होकर सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया और देश की स्वतन्त्रता, स्वराज्य एवं मानव-मूल्यों के संरक्षण के सन्दर्भ में प्रभूत चिन्तन किया, जो उन जैसे वीतराग संन्यासी से सामान्यतया अनपेक्षित था।

दयानन्द जैसे सतत् कर्मठ जीवन व्यतीत करने वाले राष्ट्र, समाज और मानवता के प्रति समर्पित व्यक्तित्व के चिन्तन का मूल्याङ्कन अत्यन्त दुष्कर कार्य है, तथापि दयानन्द के राजनीतिक दर्शन का उपर्युक्त पृष्ठों मे किया गया विवेचन इस सत्य की घोषणा के लिए पर्याप्त है कि उनका चिन्तन स्वराष्ट्र के सर्वांगीण उत्थान के साथ ही साथ विश्व-हित एवं शांति-हेतु प्रासंगिक एवं अनुपालनीय है। उनका राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का प्रतीक है। स्वामी दयानन्द जिस युग में उत्पन्न हुए थे, उससे आगे के युग का चिन्तन करने तथा तदर्थ सतत् प्रयत्नशील रहने के कारण ही उन्हें 'ऋषि' कहा जाता है। इनके विचार व्यावहारिक एवं यथार्थवादी हैं। यदि इसमें अव्यावहारिकता दीखती है, तो इसलिए कि हम पश्चिमी सभ्यता और ज्ञान-विज्ञान से प्रभावित होकर अपने मूलभूत आदर्शों एवं वेदिक मान्यताओं को विस्मृत करते जा रहे हैं। वस्तुतः, दयानन्द के राजनीतिक दर्शन के समादर और क्रियान्वयन में ही देश और विश्व का कल्याण निहित है।

पाद टिप्पणियाँ :

1. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय—ऋषि द० स० का जीवन चरित—भाग 1, भूमिका, पृ० 14-15
2. वही—पृ० 16
3. धर्म की परिभाषा एवं अर्थ के लिए इस पुस्तक का द्वितीय अध्याय देखें।
4. मनु०—12.106
5. ऋ० भा० भू०—पृ० 82
6. स० प्र०—पृ० 140; गंगाप्रसाद उपाध्याय—शंकर, रामनुज, दयानन्द—पृ० 27

7. प्रस्तुत पुस्तक के 'राष्ट्रवाद' अध्याय के अन्तर्गत 'स्वधर्म' (वेदवाद) का उपशीर्षक देखें ।

8. रोमां रोला – भारत का एक ऋषि—पृ० 20

9. प्रस्तुत पुस्तक के चतुर्थ अध्याय 'राज्य के उद्देश्य एवं कार्य' के अन्तर्गत वर्णाश्रम व्यवस्था का सुचारु संचालन देखें ।

10. स्वामी सत्यानन्द—श्री मद्दयानन्द प्रकाश—पृ० 103

11. भवानीलाल भारतीय—नवजागरण के पुरोधा० —पृ० 130-131

12. हरविलास शारदा (सं०)—दयानन्द कम्मोमोरेशन वाल्यूम—पृ० 1

13. रोमां रोला—दयानन्द एण्ड आर्यसमाज – पृ० 26

14. प्रस्तुत पुस्तक के राज्य के कार्य के अन्तर्गत वर्णाश्रम व्यवस्था तथा आर्थिक व्यवस्था अध्यायान्तर्गत 'व्यापार' शीर्षक को देखें ।

15. लाला जाजपत राय – महर्षि द० स० और उनका काम—पृ० 75

16. भवानीलाल भारतीय—नवजागरण के पुरोधा०—पृ० 439

17. रणञ्जय सिंह—ऋष्यागमन—पृ० 6 (सामाजिक क्षेत्र में महर्षि के योगदान के सन्दर्भ में अमेठी (सुलतानपुर, उ० प्र०) की आनन्दसभा के द्वितीय महोत्सव सं० 1920 में दिया गया भाषण)

18. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 781

19. भवानीलाल भारतीय—नवजागरण के पुरोधा०—पृ० 127-128

20. मदनलाल मधु (सं०)—समकालीनों की नजरों में मार्क्स और एंगेल्स—पृ० 71

21. जीवन महत्ता—राजनीतिक चिन्तन का इतिहास—330

22. प्रस्तुत पुस्तक के द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत धर्म और राजधर्म की अवधारणा देखें ।

23. प्रशांत कुमार वेदालंकार – धर्म का स्वरूप—पृ० 199

23A. स्वामी अग्निवेश—आर्यराट्र—पृ० 3

24. सुखवीर सिंह—ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थॉट—भाग I, पृ० 18

25. ओमप्रकाश गाबा – राजनीति विज्ञान-कोष—पृ० 135-136

26. स० प्र०—पृ० 404-405 (स्वमन्तव्य०)

27. महात्मा गाँधी—राष्ट्रभाषा का प्रश्न—पृ० 1

28. रोमां रोला—दयानन्द एण्ड आर्यसमाज—पृ० 28

29. वही—पृ० 23

30. रामगोपाल शास्त्री—महर्षि दयानन्द की राष्ट्रीय विचारधारा—पृ० 7

31. इन्द्रविद्यावाचस्पति—स्वराज्य संग्राम में आर्यसमाज का भाग—पृ० 1

32. हरविलास शारदा (सं०)—दयानन्द कम्मोमोरेशन वाल्यूम—पृ० 9

33. सत्यदेव विद्यालंकार—राष्ट्रवादी दयानन्द—पृ० 90

34. डी० वाब्ले—दि आर्यसमाज—पृ० 126

35. उमाकान्त उपाध्याय (सं०)—महर्षि दयानन्द की देन—पृ० 67

36. स्मारिका—पृ० 207 (अन्तर्राष्ट्रीय आर्यसमाज स्थापना शताब्दी समारोह 1975 ई०)

37. राजेन्द्र जिज्ञासु (सं०)—श्रद्धानन्द-ग्रन्थावली—भाग 8, पृ० 73

38. स० प्र०—भूमिका—पृ० 3

39. स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती (सं०)—महर्षि द० के स्वप्नों का भारत—पृ० 32 (कु० अनुपमा अय्यर के लेख से उद्धृत)

स्वामी दयानन्द के विश्व-मानवता के सम्बन्ध में प्रो० श्री प्रकाश ने लिखा है कि, "उन्होंने इसीलिए अपने द्वारा संगठित संस्था को भी नाम दिया, 'आर्यसमाज' और उन्होंने नारा उठाया 'विश्वमार्यम्' का। बिनोबा भावे ने तो बीसवीं शताब्दी में 'जय जगत्' को गढ़ा, पर महर्षि ने 100 वर्ष पूर्व ही अपनी अन्तर्राष्ट्रीयता का परिचय दिया था।"—दयानन्द: देश और आर्यसमाज—पृ० 9

—: o :—

: परिशिष्ट :

(अ) स्वामी दयानन्द की प्रजातान्त्रिक अवधारणा :

प्रजातन्त्र की अवधारणा को बीसवीं शताब्दी का 'युद्ध-घोष' कहा जाता है। ईसा से चार सौ बाईस वर्ष पूर्व यूनानी दार्शनिक वली ऑन ने लोकतन्त्र की परिभाषा देते हुए कहा था कि, "लोकतन्त्रीय वह होगा जो जनता का हो, जनता के द्वारा हो तथा जनता के लिए हो।"[1] इन्हीं शब्दों को आधुनिक युग में अमरीका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने लोकतन्त्र को जनता का, जनता द्वारा तथा जनता के लिए शासन के रूप में दुहराया। यह सत्य है कि उन्नीसवीं शताब्दी में युरोप के कतिपय देशों में प्रजासत्तात्मक व्यवस्था का प्रारम्भ हो चुका था, परन्तु भारत जैसे देश में, जो शताब्दियों से विदेशी सत्ता द्वारा शासित रहने के कारण अपनी राष्ट्रीय अस्मिता खो चुका था, प्रजातान्त्रिक संकल्पना स्वप्न-तुल्य थी। ऐसे समय में, एक काषाय वस्त्रधारी, तुरीयाश्रमी संन्यासी दयानन्द द्वारा राजनीति ही नहीं, अपितु मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लोकतान्त्रिक मूल्यों की स्थापना करना एक सुखद आश्चर्य ही है।

स्वामी दयानन्द के लिए जनतन्त्र शासन की मात्र एक विधा ही नही, वरन् जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टि भी है। लोकतन्त्र शासन और जीवन की लोकजयी नैतिक धारणा है। अपनी इसी मान्यता के परिप्रेक्ष्य में दयानन्द ने लोकतन्त्र को सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में स्थापित करने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।

उनके लिए प्रजातन्त्र युग-धर्म और मानव-धर्म के रूप में व्यवहृत होने वाला सूत्र है।

सामाजिक प्रजातन्त्र :

सामाजिक क्षेत्र में स्वामी दयानन्द ने रूढ़िगत कठोर जाति-व्यवस्था के स्थान पर गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर वर्ण-निर्धारण के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर सामाजिक लोकतन्त्र की नींव डाली, जिसके अन्तर्गत धर्माचरण से निकृष्ट (शूद्र) वर्ण अपने से श्रेष्ठ (ब्राह्मणादि) वर्ण को तथा अधर्माचरण से श्रेष्ठ वर्ण अपने से निकृष्ट वर्ण को प्राप्त होगा।[2] उन्होंने स्पृश्यास्पृश्य जैसी सामाजिक कुरीतियों की भर्त्सना करते हुए मुसलमान या ईसाई बन गए हिन्दुओं के पुनर्हिन्दूकरण-हेतु जो 'शुद्धि-आन्दोलन' चलाया, वह भी सामाजिक क्षेत्र में एक लोकतान्त्रिक क्रान्ति ही थी। उन्होंने स्त्री-पुरुष की समानता के आधार पर स्त्रियों को पुरुषों के बराबर शासन, न्याय, युद्ध, धर्म, अर्थ तथा समाज-व्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र में अधिकार एवं दायित्व-सम्पन्न कर लोकतन्त्र के मूल्य की स्थापना की है। वस्तुतः दयानन्द का लोकतान्त्रिक समाज ब्रिटिश विचारक डायसी द्वारा निर्धारित जनतन्त्रीय समाज के आदर्श के अनुरूप है। डायसी ने लोकतान्त्रिक समाज की व्याख्या करते हुए लिखा है कि, "लोकतन्त्र वह समाज है, जिसमें अधिकारों की साधारण क्षमता तथा अवसर की भावनाओं की तथा आदर्श की एकता पायी जाती है।"[3] दयानन्द का लोकतन्त्रीय समाज डायसी की परिभाषा की कसौटी पर खरा सिद्ध होता है।

आर्थिक प्रजातन्त्र :

आर्थिक क्षेत्र में स्वामी दयानन्द ने बिना किसी भेद-भाव के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता, क्षमता एवं रुचि के अनुसार वृत्ति, रोजगार तथा उद्योग आदि के चयन की स्वतन्त्रता प्रदान कर आर्थिक लोकतन्त्र के सिद्धान्त को भी अपने चिन्तन में स्वीकृति प्रदान की है। अर्थ-

व्यवस्था में संलग्न शिल्पियों, उद्यमियों, व्यापारियों, कृषकों एवं श्रमिकों के संरक्षण एवं अभिवृद्धि को राज्य का एक प्रमुख कार्य बताते हुए दयानन्द ने कर-प्राप्ति एवं प्रयोग में राज्य को उदार एवं जनकल्याणकारी नीति के अनुसरण का निर्देश कर आर्थिक लोकतन्त्र को सुदृढ़ बनाने का संकल्प प्रस्तुत किया है। कृषि-प्रधान भारत वर्ष के कृषकों को राजाओं का राजा घोषित कर उन्हें लोकतन्त्र का मेरुदण्ड स्वीकार किया है।

धार्मिक प्रजातन्त्र :

धार्मिक क्षेत्र में दयानन्द ने बिना किसी भेद-भाव के समस्त स्त्री-पुरुषों को वेदाध्ययन का अधिकार प्रदान कर प्रजातान्त्रिक व्यवस्था को क्रियान्वित किया है। हिन्दू धार्मिक व्यवस्था में जहाँ 'गुरुडम' और और 'महन्तवाद' का एकाधिकार था, दयानन्द ने आर्य समाज के संगठन का लोकतान्त्रिक विधान प्रस्तुत करते हुए चुनाव-सिद्धान्त का अपूर्व क्रान्तिकारी प्रयोग भी किया है। बौद्धकाल के पश्चात् भारत को प्रथम लोकतान्त्रिक धार्मिक संस्था आर्य समाज ही है। इन्द्रविद्यावाचस्पति ने दयानन्द के इस धार्मिक लोकतन्त्र के सम्बन्ध में लिखा है कि, "भारतवर्ष के लिए राजनीति में भी प्रजासत्तात्मकवाद नया था ..... स्वयं इंग्लैण्ड में भी पूरा प्रजासत्तात्मक शासन नहीं हुआ था .....इसे दयानन्द की बुद्धि का अद्भुत चमत्कार कहना चाहिए कि उन्होंने धर्म के क्षेत्र में उस सिद्धान्त का पूर्णता के साथ प्रयोग किया, जिसे अन्य धर्म तो क्या, राजनीति भी अपनाती हुई घबराती थी।"[4] वस्तुतः, भारतीय नवजागरण-काल में दयानन्द द्वारा धर्म-क्षेत्र में लोकतन्त्र का प्रयोग अभिनव था।

राजनीतिक प्रजातन्त्र :

स्वामी दयानन्द ने राजनीति और शासन के क्षेत्र में प्रजातान्त्रिक मूल्यों की पदे-पदे स्थापना की है। यद्यपि, उन्होंने पृथक् रूप से प्रजातन्त्र के सम्बन्ध में किसी स्वतन्त्र अध्याय अथवा पुस्तक की रचना नहीं

को है, पुनरपि उनके राजनीतिक दर्शन के सूक्ष्म विश्लेषण से निम्न-लिखित प्रजातान्त्रिक तत्त्व स्पष्ट हो जाते हैं :

1. प्रजातन्त्र का सर्वप्रधान लक्षण यह होता है कि राजसत्ता (सम्प्रभुता) प्रजा में निहित हो। दयानन्द के चिन्तन में यह तत्त्व पूर्णतया विद्यमान है। उनका मत है कि, "राजाओं के राजा किसान आदि परिश्रम करने वाले हैं और राजा उनका रक्षक है। जो प्रजा न हो तो राजा किसका और राजा न हो तो प्रजा किसकी कहावे? दोनों अपने-अपने काम में स्वतन्त्र और मिले हुए प्रीतियुक्त काम में परतन्त्र हैं।"[5] इस कथन से यह ध्वनित होता है कि राजा की शक्ति, सत्ता और अस्तित्व का अन्तिम स्रोत प्रजा ही है। राजा और प्रजा दोनों आत्म-सम्बन्धी कार्य करने-हेतु स्वतन्त्र हैं, परन्तु पर-सम्बन्धी कार्यों के सन्दर्भ में ईश्वरीय एवं मानवीय विधियों तथा परस्पर एक दूसरे से प्रतिबन्धित हैं।

2. प्रजातन्त्र में शासन के क्रिया-कलापों में जनता प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से भाग लेती है। वर्त्तमान युग में स्विट्जरलैण्ड आदि कुछ देशों के अतिरिक्त अधिकांशतः अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का ही प्रचलन है, जिसके अन्तर्गत जनता अपने निर्वाचित-प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन-कार्यों में हिस्सा लेती है। दयानन्द के चिन्तन में यह तत्त्व भी समग्रतः विद्यमान है। उन्होंने अपने प्रजातन्त्रवादी प्रवृत्ति के फलस्वरूप ही राजा के प्रचलित दैवी अथवा वंशानुगत सिद्धान्तों को अस्वीकार करते हुए निर्वाचित राजा के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। राजा का निर्वाचन एक ऐसी बैठक में किया जाएगा, जिसमें सम्पूर्ण प्रजा, सभासद् एवं राज-प्रजा-पुरुष भाग लेंगे। दयानन्द ने राजा के साथ-साथ सभा के सदस्यों का भी निर्वाचन गुण, कर्म, स्वभाव की श्रेष्ठता के अनुसार प्रजा द्वारा करने की व्यवस्था का प्रतिपादन किया है।[6] यह उनके राजनीतिक दूर-

दर्शिता एवं प्रजातन्त्रीय अभिरुचि का ही प्रमाण है कि उन्होंने दासता से संत्रस्त तत्कालीन भारत में राजा और सभासदस्यों के चयन का अधिकार प्रजा को देकर लोकप्रिय सम्प्रभुता को स्वीकृति प्रदान की है।

3. स्वामी दयानन्द ने प्रजा को मात्र राजा और सभासदों के चयन का ही अधिकार नहीं दिया है, अपितु अधिकारियों की नियुक्ति में भी प्रजा की सहमति को आवश्यक बताया है।[7] इसके पीछे दयानन्द का तर्क था कि राज्याधिारियों की नियुक्ति में प्रजा की सहमति होने से यह लाभ होगा कि अधिकारीगण की मनोदशा प्रजा-हित के अनुकूल बनी रहेगी, वे जन-भावना से अवगत रहेंगे तथा प्रजा भी उनका सहयोग करेगी। दयानन्द का यह सिद्धान्त वर्त्तमान लोकतन्त्र में अद्यतन प्रयुक्त नहीं है। इस दृष्टि से स्वामीजी की प्रजातान्त्रिक व्यवस्था वर्त्तमान प्रजातान्त्रिक व्यवस्था से भी विस्तृत है।

4. सार्वभौमिक मताधिकार का सिद्धान्त प्रजातन्त्रों की अनिवार्यता है। आर्य समाज के संगठन के सन्दर्भ में दयानन्द ने इस सिद्धान्त की ओर संकेत करते हुए यह व्यवस्था दी है कि, "अठारह वर्ष का कोई भी व्यक्ति आर्य समाज का सदस्य बन सकता है ..... निर्वाचन में भाग भी ले सकता है।"[8] स्पष्ट है कि दयानन्द ने सार्वजनिक वयस्क मताधिकार को प्रतिनिधित्व प्रणाली की स्थापना की है, जिसमें जाति, धर्म, भाषा, वर्ण, लिंग तथा स्थान आदि के भेद-भाव के बिना अठारह वर्ष की आयु प्राप्त समस्त स्त्री-पुरुष को मताधिकार प्राप्त है। उल्लेखनीय है कि दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना (10 अप्रैल, सन् 1875 ई०) में मताधिकार-हेतु अठारह वर्ष की आयु का जो निर्धारण किया था, उसकी व्यवस्था लगभग एक सौ चौदह वर्ष के पश्चात् सन् 1989 ई० में भारतीय संविधान में की गयी। वयस्क मताधिकार के सम्बन्ध में यह दयानन्द की दूरदर्शिता का प्रमाण है।

5. प्रजातान्त्रिक व्यवस्था निरंकुश एवं एकतन्त्रीय सर्वाधिकारवादी सत्ता का निषेध है। दयानन्द ने राजा के निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी अधिकार एवं आचरण को अस्वीकार कर 'एक व्यक्ति के शासन' का विरोध किया है। उनका मत था कि प्रजा से स्वतन्त्र राजन्य वर्ग प्रजा का नाश कर देता है। अतः एक व्यक्ति को राज्याधिकार न देकर सभा, राजा और प्रजा के पारस्परिक अवरोध एवं सन्तुलन के दृष्टिकोण से शासन व्यवस्था का संचालन किया जाना चाहिए।[9] राजतन्त्र सीमित एवं वैधानिक होना चाहिए। राजा श्रेष्ठ-शिष्ट पुरुषों को सभा की सहमति और स्वीकृति के साथ-साथ प्रजा की सहमति से ही शासन करेगा। दयानन्द ने राजा, सभा और प्रजा तीनों को एक दूसरे के अधीन रख कर आधुनिक प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त-शक्ति-पृथक्करण एवं अवरोध तथा संतुलन का भारतीय राजनीतिक चिन्तन में सर्वप्रथम एवं मौलिक प्रयोग किया है।

6. उत्तरदायी शासन प्रजातन्त्र की आवश्यकता है। दयानन्द का मत है कि शासन अपने कार्यों एवं व्यवहारों के लिए प्रजा के प्रति उत्तरदायी होगा। यदि शासन अन्यायी एवं आततायी है तथा वह प्रजा के संरक्षण एवं अभिवृद्धि के प्रतिकूल आचरण करता है, तो प्रजा को उसके विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार है।[10] दयानन्द का मत है कि आदर्श प्रजातान्त्रिक राज्य वही है, जिसमें प्रजा को चिन्तन एवं अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता हो। अपने इसी अधिकार द्वारा प्रजा अनुत्तरदायी शासन का विरोध अन्य समस्त विकल्पों के अप्रभावी होने पर करेगी।

7. दयानन्द के चिन्तन में राजन्यवर्ग को कर्त्तव्यों एवं दायित्वों के बोध-हेतु राजकीय शपथ के जनतन्त्रात्मक स्वरूप का भी प्रतिपादन किया है। उनका अभिमत है कि महाऐश्वर्य युक्त अभिषेक से क्षत्रिय (शासक-वर्ग) को प्रतिज्ञापूर्वक राज्याधिकार मिलता

है।[11] दयानन्द शपथ-व्यवस्था के माध्यम से शासक-वर्ग को कर्त्तव्य-बोध कराकर एक जनतन्त्रीय मूल्य की स्थापना करते हैं।

8. प्रजातान्त्रिक व्यवस्था 'विधि के शासन' पर अवलम्बित होती है। दयानन्द के चिन्तन में यह तत्त्व भी पूर्णतया परिलक्षित होता है। उन्होंने प्रजा के अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं की रक्षा-हेतु धर्मानुकूल विधि के शासन को मान्यता दी है। शासन विधि का होगा, किसी व्यक्ति विशेष की इच्छाओं का नहीं। विधि के स्रोत ईश्वरीय विधान (धर्म) एवं वेदादि आर्षग्रन्थ हैं। इस प्रकार की विधि के अनुपालन में व्यवधान उत्पन्न करने वाले स्त्री-पुरुष, माता-पिता, पुत्र-मित्र, गुरु-आचार्य एवं राजा-प्रजा को दण्डित करने के विधान का भी दयानन्द ने प्रतिपादन किया है।[12] ब्रिटिश शासित परतन्त्र भारत के विधि-विहीनता के युग में दयानन्द द्वारा विधि-शासन का अनुसमर्थन उनके कट्टर प्रजातान्त्रिक व्यक्तित्व का द्योतक है।

9. दयानन्द ने विधि-शासन की भाँति ही स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्याय-व्यवस्था का प्रतिपादन कर प्रजातन्त्र की रक्षा का भी उपाय निर्धारित किया है। न्याय-कार्य की पवित्रता एवं सम्यक् दण्ड की अवधारणा के साथ-साथ एक ही प्रकार के अपराध में पद, प्रतिष्ठा, शिक्षा आदि के आधार पर राजा-प्रजा एवं व्यक्ति-व्यक्ति में पृथक्-पृथक् गुणात्मक एवं मात्रात्मक दण्ड की भी व्यवस्था की है। उन्होंने अपराध की गुरुता, अपराधी की स्थिति एवं मनोवृत्ति तथा देश, काल और परिस्थिति के अनुसार दण्ड-विधान द्वारा न्याय को धर्म से संयुक्त किया है।[13] इस प्रकार आधुनिक युग में जनतन्त्रात्मक शासन-हेतु स्वीकृत न्यायपालिका को स्वतन्त्रता, निष्पक्षता और सर्वोच्चता के सिद्धान्त की सांगोपांग व्यवस्था दयानन्द के प्रजातन्त्रीय राजनीतिक दर्शन की विशेषता है।

10. प्रजातन्त्र के अन्यतम सिद्धान्त 'स्थानीय स्वशासन'[14] के सिद्धान्त का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन दयानन्द के राज-दर्शन में हुआ है।

ग्राम-पंचायत से चक्रवर्त्ती महाराज सभा तक शक्तियों का विभाजन लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण के आधार पर होगा। समस्त इकाइयों की स्वायत्तता एवं स्वतन्त्रता का संरक्षण महर्षि के प्रजातन्त्र का उद्देश्य है।

11. स्वशासन की अवधारणा का पूर्ण परिपाक स्वराज्य में ही सम्भव है। प्रजातन्त्र और स्वराज्य दोनों एक दूसरे के लिए आवश्यक है। दयानन्द का चिन्तन स्वराज्य की उद्घोषणा एवं प्रयास का चिन्तन है।[15] वे सुराज्य की तुलना में स्वराज्य को अधिक महत्व देते हैं। दयानन्द ही भारतीय राजनीति में स्वराज्य के प्रथम उद्घोषक एवं संदेशवाहक हैं।

12. दयानन्द के राजनीतिक दर्शन में आधुनिक संसदीय प्रजातन्त्र की कार्यवाही में व्यवहृत होने वाले 'निर्णायक मत' तथा 'गणपूर्ति' (कोरम) के सिद्धान्त का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[16] दयानन्द ने निर्णायक मत का अधिकार सभाध्यक्ष राजा को दिया है तथा सदन की कार्यवाही-हेतु न्यूनतम सदस्य संख्या 'तीन' निर्धारित किया है।

13. समानता का सिद्धान्त प्रजातन्त्र का प्राण होता है। दयानन्द ने वेदाध्ययन के क्षेत्र में स्त्रियों एवं शूद्रों को अधिकृत कर तथा पुरुष के समान नारी को भी राजनीति, अर्थनीति, धर्मनीति, युद्धनीति एवं समस्त ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अधिकार प्रदान कर समानता के सिद्धान्त का पूर्णतया प्रतिपादन किया है। यही नहीं, अपितु विधि के समक्ष समानता तथा विधि के समान संरक्षण की व्यवस्था को स्वीकृति प्रदान कर कानून की समानता जैसी अत्याधुनिक अवधारणा की भी पुष्टि की है।

14. दयानन्द के राजनीतिक दर्शन में अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के महत्वपूर्ण तत्त्वों का ही प्राविधान नहीं है, अपितु प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के 'प्रत्यावर्त्तन' एवं 'जनमत-संग्रह' की व्यवस्था को भी दयानन्द ने

स्वीकृति प्रदान की है। उन्होंने 'गोकृष्यादिरक्षिणी सभा' के संगठन सम्बन्धी नियम संख्या 11 में प्रतिनिधियों के प्रत्यावर्त्तन के सन्दर्भ में यह निर्देश दिया है कि, "प्रतिनिधि सभासदु अपने-अपने समुदायों के प्रतिनिधि होंगे और उन्हें अनेक समुदाय नियत करेंगे। कोई समुदाय जब चाहे, अपने प्रतिनिधि को बदल सकता है।"[17] इसी प्रकार विधि-निर्माण के क्षेत्र में राजा को निर्देशित करते हुए दयानन्द ने लिखा है कि, "……वह आज्ञा जो कि प्रजा के साथ सम्बन्ध रखती हो, सब में प्रजा की सम्मति लेवे और सर्वत्र प्रसिद्ध करके गुण-दोष समझे। पश्चात् गुणाढ्य नियमों को नियत और दोष-युक्तों का त्याग करे।"[18] इस प्रकार स्पष्ट है कि दयानन्द ने प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के उक्त दोनों महत्त्वपूर्ण तत्त्वों—प्रत्यावर्त्तन एव जनमत-संग्रह—के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर अपनी प्रजातान्त्रिक भावना का ज्वलन्त परिचय दिया है।

प्रजातन्त्र विषयक दयानन्द की समस्त मान्यताओं के आलोक में यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि उनके चिन्तन में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के समस्त महत्त्वपूर्ण कारकों एवं मूल्यों का पूर्णरूपेण समावेश है। यही कारण है कि लोकसभा अध्यक्ष बलराम जाखड़ ने दयानन्द को एक 'व्यावहारिक प्रजातांत्रिक दार्शनिक' माना है।[19] यदि सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाय, तो यह भी परिलक्षित होगा कि दयानन्द का प्रजातन्त्र आध्यात्मिकता, नैतिकता, बौद्धिकता एवं मानव-मूल्यों से संयुक्त होने के कारण वर्त्तमान प्रजातन्त्र से भी श्रेष्ठ है। उन्होंने संख्या पर आधारित प्रजातन्त्र को वास्तविक प्रजातन्त्र नहीं स्वीकार किया है। उन्होंने प्रजातन्त्र को गुणवत्ता पर आधारित कर अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है। अंग्रेजी शिक्षा और सभ्यता से अनभिज्ञ एवं अप्रभावित होते हुए भी दयानन्द ने प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादन मात्र ही नहीं किया है, अपितु आर्य समाज के संगठन-हेतु व्यवहृत भी किया है। उस काल के दृष्टिकोण से इसे एक

क्रांतिकारी पग ही कहा जाएगा। यह दयानन्द के चिन्तन की विलक्षणता एवं मौलिकता का द्योतक है।

पाद टिप्पणियाँ :

1. ज्ञान सिंह सन्धू (सं०)—राजनीति सिद्धान्त—पृ० 29।
2. संस्कार वि०—पृ० 133-134; स० प्र०—पृ० 59; ऋ० भा० भू०—पृ० 343 (मनु० 10.65 तथा आप० धर्मसूत्र—2.5.11.10, 11)
3. रघुकुल तिलक सहाय—लोकतन्त्र : स्वरूप एवं समस्याएँ—पृ० 11
4. इन्द्र बिद्यावाचस्पति—महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र—पृ० 161-162
5. स० प्र०—पृ० 108
6. राजा और सभा के चयन के सम्बन्ध में अध्याय 5 तथा 6 द्रष्टव्य।
7. राज्य-कर्मचारियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में अध्याय 7 द्रष्टव्य।
8. स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती (सं०)—महर्षि दयानन्द निर्वाण शती स्मृति-ग्रन्थ—पृ० 143 (डॉ० शान्तिदेव बाला का लेख)
9. राजा के एकतन्त्रीय एवं निरंकुश स्वरूप के सम्बन्ध में अध्याय 3 द्रष्टव्य।
10. ऋ० भा०—4.4.9 —"यदि राजा अन्याय करे, तो प्रजा उसका शीघ्र त्याग करे।"
    यजु० भा०—8.23 "यदि दोनों में से कोई अधर्म युक्त कार्यों को करे तो प्रजा राजा को तथा राजा प्रजा को दण्ड भी दे।"
11. राज्याभिषेक-हेतु अध्याय 5 तथा 6 द्रष्टव्य।
12. प्रस्तुत पुस्तक का अध्याय 9 द्रष्टव्य।
13. वही
14. प्रस्तुत पुस्तक का अध्याय 8 द्रष्टव्य।
15. प्रस्तुत पुस्तक का अध्याय 12 में 'स्वराज्य' की अवधारणा द्रष्टव्य।
16. कोरम तथा निर्णायक मत-हेतु अध्याय 6 द्रष्टव्य।
17. गोकरुणानिधि—पृ० 14
18. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 2, पृ० 631 (उदयपुर नरेश महाराज श्री सज्जन सिंह को लिखा पत्र)
19. गंगाराम गर्ग—वर्ल्ड परस्पेक्टिव ऑन स्वामी दयानन्द सरस्वती—पृ० 305

—: o :—

(ब) स्वामी दयानन्द पर साम्प्रदायिकता का आधारहीन आरोप :

साम्प्रदायिकता एक निम्नकोटि की विभाजनात्मक प्रवृत्ति है। दयानन्द ने लुप्तप्राय वैदिक धर्म की पुनर्स्थापना के लक्ष्य से तत्कालीन समाज में व्याप्त कुरीतियों, दुष्प्रवृत्तियों, धार्मिक अन्धविश्वासों, मिथ्या-डम्बरों आदि का जिस निर्भीकता एवं साहस से खण्डन किया है, कतिपय पूर्वाग्रही लेखकों, विद्वानों तथा धर्माचार्यों ने उनके इसी खण्डन-मण्डन को देख कर उन पर साम्प्रदायिक होने का आरोप लगाया है। परन्तु, स्वामी दयानन्द असंदिग्ध रूप में सभी प्रकार की साम्प्रदायिक कट्टरता से ऊपर थे।[1] वस्तुत, उनके खण्डन-मण्डन का प्रयोजन राष्ट्रीय एवं आध्यात्मिक एकता स्थापित करना था।

एक प्रसंग में दयानन्द ने स्वतः कहा था कि, "मैं तो संन्यासी हूँ। मैं दाढ़ो और चोटी के विवाद से ऊपर उठ कर सत्य और न्याय की ही बात करूँगा।"[2] उन्होंने स्पष्ट किया था कि—इस भारतवर्ष में नाना प्रकार के मतमतान्तर प्रचलित हैं वो भी, वे सब वेदों को मानते हैं इससे वेदशास्त्र रूपी समुद्र में यह सब नदी नाव पुनः मिला देने से धर्म एक्यता होगी। और धर्म एक्यता से सांसारिक और व्यावहारिक सुधारणा होगी।[3] स्पष्ट है कि दयानन्द चाहते थे कि साम्प्रदायिक मतभेद समाप्त कर और वैदिक धर्म को अंगीकार कर सभी लोग स्वदेश सुधार में संलग्न हो जाँय। 'सत्यार्थ प्रकाश' की भूमिका में भी द यानन्द ने अपती स्थिति स्पष्ट करते हुए लिखा है कि, "जो-जो सब मतों में सत्य-सत्य बातें हैं, वे-वे सब में अविरुद्ध होने से उनका स्वीकार करके जो-जो मतमतान्तरों में मिथ्या बाते हैं, उन-उन का खण्डन किया है··· ···· ··· जैसे इस देश के मत-मतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर यथा तथ्य प्रकाश करता हूँ, वैसे ही दूसरे देशस्थ वा मत वालों के साथ भी वर्त्तता हूँ। ···· ···· ····मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता तो जैसे आजकल के स्वमत की स्तुति-मण्डन और प्रचार

करते और दूसरे मत की निन्दा, हानि और बन्ध करने में तत्पर होते हैं वैसे मैं भी होता, परन्तु ऐसी बातें 'मनुष्यपन से बाहर हैं।"[4] इसी आशय का एक पत्र 11 अगस्त, सन् 1878 को इस्लाम मत के नेता मौलवी मुहम्मद कासिम साहब को भी लिखा था कि, "..... .....जैसा जैसा मैं इस्लाम मत का खण्डन करता हूँ, ईसाई मत का खण्डन भी कदापि उससे कम नहीं करता। यहाँ तक कि मैं अपने हिन्दुओं की वर्त्तमान धार्मिक अवस्था पर भी सहमति प्रकट नहीं करता।"[5]

स्वामी दयानन्द की स्वयं की स्वीकृति से स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें साम्प्रदायिक सिद्ध करना, उनके चिन्तन एवं व्यक्तित्व के प्रति अपनी अल्पज्ञता प्रमाणित करना है। राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन ने 7 अक्टूबर, सन् 1950 ई० को आर्य समाज चौक प्रयाग में एक व्याख्यान देते हुए कहा था कि, "मैं स्वामी दयानन्द जी को साम्प्रदायिक नहीं मानता। मेरे विचार में वे महान थे। उनका धर्म विस्तृत था।"[6] यही नहीं, अपितु मुस्लिम नेता सर सैय्यद अहमद खाँ की भी स्पष्टोक्ति है कि, "हमसे और स्वामी दयानन्द मरहूम से बहुत मुलाकात थी। हम हमेशा इनका निहायत अदब करते थे। क्योंकि ऐसे आलम और उम्दा शख्स से कि हर एक मजहब वाले को इनका अदब लाजिम था।"[7] दयानन्द के आकस्मिक निधन पर लाहौर के एक पत्र 'कोहेनूर' में व्यक्त उक्त इस्लाम नेता के विचार यह स्पष्ट करते हैं कि दयानन्द का सभी सम्प्रदाय और मजहब के लोगों से अच्छे सम्बन्ध थे। उन्हें साम्प्रदायिक नहीं माना जा सकता है।

वास्तव में दयानन्द सभी मतमतान्तरों के स्थान पर एक सार्वभौमिक धर्म की स्थापना के समर्थक थे। उन्होंने ही सर्वप्रथम मेला चान्दापुर तथा दिल्ली दरबार के अवसर पर प्रमुख धर्माचार्यों को एकत्रित करके 'सर्वधर्म सम्मेलन' द्वारा 'भावात्मक एकता' की स्थापना का प्रयास किया है। वे सर्वधर्म समन्वय के पक्षधर थे। उन्होंने वेदोचित सार्वभौम धर्म का संदेश दिया है तथा धर्म के क्षेत्र में वेद-ज्ञान,

शास्त्र-चर्चा, आध्यात्मिक चिन्तन द्वारा वेदों की ओर लौट चलने का मार्ग प्रशस्त कर सम्पूर्ण मानव जाति को साम्प्रदायिक भेद-भाव समाप्त कर सत्पथ के अनुगमन की प्रेरणा दी है। शुद्धि-आन्दोलन के माध्यम से लाखों मुस्लिमों एवं ईसाइयों को शुद्ध कर भारत के सनातन धर्म में प्रविष्ट किया। उल्लेखनीय है कि दयानन्द ने बम्बई और लाहौर में क्रमशः पारसी सज्जन डा० माणेक जी अदेर जी की वाटिका में तथा डा० रहीम खाँ की कोठी में सन् 1875 और 1877 ई० में आर्यसमाज की स्थापना की थी, यह उनके उदात्त धार्मिक अवधारणा का ही परिचायक है। यही नहीं, अपितु उन्होंने डा० अलीमर्दान खाँ द्वारा स्वयं को विष दिए जाने की आशंका का स्पष्टीकरण कर्नल प्रताप सिंह (अनुज जोधपुर नरेश यशवन्त सिंह) के पूछने पर भी नहीं किया, जिससे उस पर कोई अभियोग न चलाया जाय। अपने विषदाता मुस्लिम के प्राण-रक्षार्थ दयानन्द के मौन से भी स्पष्ट हो जाता है कि उनके हृदय में हिन्दू-मुसलमान की साम्प्रदायिक भावना रंच मात्र भी नहीं थी। अतः दयानन्द पर लगाया जाने वाला साम्प्रदायिकता का आरोप सर्वथा अनर्गल, आधारहीन तथा मिथ्या है।

पाद टिप्पणियाँ :

1. के० सी० यादव तथा के० एस० आर्य—आर्यसमाज एण्ड दि फ्रीडम मूवमेन्ट—भाग 1, पृ० 14
2. भवानीलाल भारतीय—नवजागरण के पुरोधा०—पृ० 429
3. वही - पृ० 245
4. स० प्र०—भूमिका—पृ० 3
5. ऋ० द० स० के प० और वि०—भाग 1, पृ० 187
6. विभुमित्र शास्त्री—राष्ट्रीय क्रान्ति के सूत्रधार स्वामी दयानन्द—पृ० 44
7. इन्द्र विद्यावाचस्पति—महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र—पृ० 157

—: o :—

: सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची :

(क) स्वामी दयानन्द प्रणीत साहित्य :

1. आर्याभिविनय—सावित्री देवी बगड़िया ट्रस्ट, कलकत्ता—1983 ई०
2. आर्योद्देश्यरत्नमाला—रामलाल कपूर ट्रस्ट, लाहौर—1945 ई०
3. ऋग्वेद-भाष्य (1 से 7 मण्डल तक) सार्वदेशिक आर्य प्र० स० नई दिल्ली, दयानन्दाब्द—148-149
4. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका—वैदिक यन्त्रालय, अजमेर (12वाँ संस्करण) 1984 ई०
5. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका परिशिष्ट—(सं० युधिष्ठिर मीमांसक) राम लाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर—1967 ई०
6. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन—भाग 1 तथा 2, (सं० पं० भगवद्दत्त) रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़—सन् 1981-1982
7. ऋषि दयानन्द सरस्वती को लिखे पत्र और विज्ञापन—भाग 1 तथा 2, (सं०—पं० युधिष्ठिर मीमांसक) रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़—1982-1983 ई०
8. ऋषि दयानन्द सरस्वती के शास्त्रार्थ और प्रवचन (सं०—डॉ० भवानी लाल भारतीय तथा पं० युधिष्ठिर मीमांसक) सावित्री देवी बगड़िया ट्रस्ट, कलकत्ता—1982 ई०
9. गोकरुणानिधि—वैदिक यन्त्रालय, अजमेर—वि० सं० 1994
10. दयानन्दीय लघु ग्रन्थ-संग्रह (सं०—युधिष्ठिर मीमांसक) रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़—1975 ई०
11. पूना-प्रवचन (उपदेश मञ्जरी)—(सं०—डॉ० भवानीलाल भारतीय) वैदिक यन्त्रालय, अजमेर—1976 ई०
12. महर्षि दयानन्द के सर्वश्रेष्ठ भाषण (सं० —रामतीर्थ भाटिया) दिल्ली, 1976 ई०
13. यजुर्वेद-भाष्य (सम्पूर्ण) —सार्वदेशिक आर्य प्र० स०, नई दिल्ली
14. व्यवहारभानु—वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, 1944 ई०

15. सत्यार्थ प्रकाश—आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट (33वाँ संस्करण) दिल्ली, मार्च, 1986 ई०
16. संस्कृत वाक्य प्रबोध—रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, 1969 ई०
17. संस्कार-विधि-सार्वदेशिक आर्य प्र० स०, नई दिल्ली, सं० वि० 2034

(ख) प्राचीन भारतीय साहित्य :

18. ऋग्वेद-संहिता—हिन्दी जनुवाद सहित—जयदेव विद्यालकार, अजमेर
19. अर्थशास्त्र—आर० शामशास्त्री (चतुर्थ संस्करण) 1951 ई०
20. कामन्दक नीतिसार—आनन्द आश्रम सिरीज. 1958 ई०
21. मनुस्मृति—प्रो० सुरेन्द्र कुमार का भाष्य—आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली 1981 ई०
22. महाभारत—हिन्दी अनुवाद सहित रामनारायण दत्त शास्त्री, गीता प्रेस, गोरखपुर
23. याज्ञवल्क्य स्मृति—अनु० उमेशचन्द्र पाण्डेय—चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, 1967 ई०
24. शुक्रनीतिसार—पं० गंगा प्रसाद शास्त्री—हिन्दी अनुवाद सहित

(ग) अन्य साहित्य

25. अग्निवेश, स्वामी-आर्य-राष्ट्र (राजधर्म प्रकाशन) नई दिल्ली, 1980 ई०
26. अनुभवानन्द, शान्तस्वामी—आर्य समाज का परिचय (ट्रैक्ट प्रकाशन) कलकत्ता, दयानन्दाब्द 105
27. अप्पादोराय, ए०—इण्डियन पोलिटिकल थिंकिंग इन दि ट्वन्टीन्थ सेन्चुरी फ्राम नौरोजी टू नेहरू (ऑक्सफोर्ड प्रेस) कलकत्ता, 1979 ई०
28. अप्पादोराय, ए० डाकुमेण्टस् ऑन पोलिटिकल थॉट इन मार्डन इण्डिया (भाग 1 तथा 2) बम्बई 1976 तथा 1981 ई०
29. अप्पादोराय, ए०—दि सब्सटेन्स ऑफ पोलिटिक्स—(ऑक्सफोर्ड प्रेस) नई दिल्ली, 1978 ई०
30. अरोड़ा, वी० के०—दि सोशल एण्ड पोलिटिकल फिलॉसफी ऑफ स्वामी विवेकानन्द, कलकत्ता, 1968 ई०
31. आनन्द, खुशहाल चन्द्र—प्यारा ऋषि (आर्य प्रा० प्र० स०, पंजाब) 1945 ई०
32. ईबन्स्टीन, विलियम—ग्रेट पोलिटिकल थिंकर्स (ऑक्सफोर्ड प्रेस, दिल्ली) (तृतीय संस्करण)—1975

33. ईस्टन, डेविड—ए फ्रेम वर्क फॉर पोलिटिकल एनालिसिस. नई दिल्ली) 1965 ई०
34. उपाध्याय, उमाकान्त (सं०) भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में आर्य समाज की देन, कलकत्ता
35. उपाध्याय, उमाकान्त (सं०) महर्षि दयानन्द की देन—(आर्य समाज कलकत्ता) 1975 ई०
36. उपाध्याय, गंगाप्रसाद—राजाराम मोहन राय, केशब चन्द्र सेन, स्वामी दयानन्द—(कला प्रेस, प्रयाग) 1954 ई०
37. उपाध्याय, गंगाप्रसाद—राष्ट्र निर्माता स्वामी दयानन्द (वैदिक प्रकाशन, इलाहाबाद) 1970 ई०
38. उपाध्याय, गंगाप्रसाद—शंकर, रामानुज, दयानन्द (कला प्रेस, इलाहाबाद) 1950 ई०
39. ऐप्टर, डेविड ई० —इन्ट्रोडक्शन टू पोलिटिकल एनालिसिस (मैसाचूट्स) 1977 ई०
40. करुणाकरन, के० पी०—रिलीजन एण्ड पोलिटिकल अवेकनिंग इन इण्डिया (मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ) 1969 ई०
41. काणे, पाण्डुरंग वामन —धर्मशास्त्र का इतिहास (अनु० अर्जुन चौबे काश्यप) भाग 1, 3, 5 (हिन्दी समिति, लखनऊ) 1973 ई०
42. कुलगेरि, पी० बी०—दयानन्द सरस्वती (अनु०—वामन दीक्षित) महाराष्ट्र, 1975 ई०
43. गर्ग, गंगाराम—वर्ल्ड परस्पेक्टिव ऑन स्वामी दयानन्द सरस्वती— (कान्सेप्ट प्रकाशन, नई दिल्ली) 1984 ई०
44. गावा, ओमप्रकाश—राजनीति विज्ञान-कोश—(बी० आर० प्रकाश, दिल्ली)
45. गाँधी महात्मा—राष्ट्रभाषा का प्रश्न —(राष्ट्रीय साहित्य प्रकाशन, दिल्ली) 1943 ई०
46. गुप्त, वेदप्रकाश —दयानन्द-दर्शन—, प्रकाशन प्रतिष्ठान, मेरठ,)
47. गुप्त, लक्ष्मीनारायण—हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन —(लखनऊ विश्वविद्यालय) सं० 2018
48. गुरुदत्त —भारत में राष्ट्र—(शाश्वत संस्कृति परिषद, दिल्ली) 1969 ई०
49. गुरुदत्त —महर्षि दयानन्द—(भारतीय साहित्य सदन, नई दिल्ली) 1934 ई०
50. घोष, अरबिन्द—हमारी स्वतन्त्रा कैसी हो ? (अनु० देवनारायण द्विवेदी) (बनारस सीटी) 1934 ई०

51. घोष, अरविन्द—स्वामी दयानन्द और वेद (अनु० प्रेमचन्द्र विद्याभास्कर) (गोविन्द राम हासानन्द, नई दिल्ली) वि० सं० 2007
52. चमूपति—टेन् प्रिन्सपुल्स ऑफ आर्यसमाज—(आर्य प्र० स० पंजाब) 1964 ई०
53. चौबे, ब्रजबिहारी—दि न्यू वैदिक सेलेक्शन (भाग 1) (भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली) 1980 ई०
54. जोर्डन्स, जे० टी० एफ०—जयानन्द सरस्वती : हिज लाइफ एण्ड आइडियाज (ऑक्सफोड प्रेस, दिल्ली) 1978 ई०
55. जौहरी, मनोरमा—पोलिटिक्स एण्ड इथिक्स इन इन्शिएन्ट इण्डिया— (भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी) 1968 ई०
56. टैगोर, रवीन्द्रनाथ—नेशनलिज्म—(मैकमिलन, लन्दन) 1937 ई०
57. ठाकुर, एल० डी० —प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन — (हिन्दी-समिति, लखनऊ) 1965 ई०
58. दिनकर, रामधारी सिंह—संस्कृति के चार अध्याय – (राजपाल प्रकाशन, दिल्ली)
59. दिवान चन्द्र—दि आर्यसमाज : व्हाट इट इज एण्ड व्हाट इट स्टैण्डस् फॉर —(आर्य प्र० स० लाहौर) 1942 ई०
60. दीक्षित, लक्ष्मीकान्त —स्वराज्य-दर्शन—(सार्वदेशिक प्रकाशन, दिल्ली) 1947 ई०
61. नाथ, वीरेन्द्र—जुडाशियल एडमिनिस्ट्रेशन इन एन्शिएन्ट इण्डिया— (जानकी प्रकाशन, पटना) 1979 ई०
62. नार्मन, ई० बोवो तथा राबर्ट एल० साइमन—दि इण्डीवीजुएल एण्ड दि पोलिटिकल आर्डर—(प्रन्टिस हाल, न्यूजर्सी)
63. नेहरू, पं० जवाहरलाल—दि डिस्कवरी ऑफ इण्डिया—(दि सिगनेट प्रेस, कलकत्ता) 1946 ई०
64. परमेश्वरन, सी० —दयानन्द एण्ड इण्डियन प्राब्लम —(गुरुदत्त भवन, लाहौर) 1944 ई०
65. प्रसाद, बेनी—थ्योरी ऑफ गवर्नमेण्ट इन एन्शिएण्ट इण्डिया—(सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद) 1974 ई०
66. प्लेटो—दि रिपब्लिक (अनु०—डेसमण्ड ली-द्वितीय संस्करण)—(पिंग्थून बुक्स, लन्दन) 1944 ई०

67. पाण्डेय, धनपति—दि आर्यसमाज एण्ड इण्डियन नेशनलिज्म (1875-1920 ई०) (नई दिल्ली) 1972 ई०

68. पाण्डेय, श्यामलाल—वेद कालीन राज्य-व्यवस्था—(हिन्दी-समिति लखनऊ) 1971 ई०

69. पारीक, राधेश्याम—कान्ट्रीब्यूशन ऑफ आर्यसमाज इन दि मेकिंग ऑफ माडर्न इण्डिया, (सार्वदेशिक आ० प्र० स०, नई दिल्ली) 1973 ई०

70. फोरमैन हेनरी—दि आर्यसमाज : इट्स टीचिंग एण्ड एन इस्टीमेट ऑफ इट—(इलाहाबाद) 1887 ई०

71. बसु, डी० डी०—कान्स्टीट्यूशनल लॉ ऑफ इण्डिया (नई दिल्ली) 1980 ई०

72. ब्लूम, विलियम टी०—ट्योरीज ऑफ दि पोलिटिकल सिस्टम (नई दिल्ली) 1981 ई०

73. बार्कर, अर्नेस्ट—सामाजिक तथा राजनीतिक शास्त्र के सिद्धान्त—(अनु०—बोधराज मिश्र) (हरियाना हिन्दी ग्रन्थ अकाकमी, चण्डीगढ़) 1972 ई०

74. ब्राइस, जेम्स—माडर्न डिमॉक्रेसीज—(भाग 2) (मैकमिलन, लन्दन) 1921 ई०

75. भारतीय, भवानीलाल—नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती (वैदिक पुस्तकालय, अजमेर) 1983 ई०

76. भारतीय, भवानीलाल—महर्षि दयानन्द का राष्ट्रवाद—(आर्य साहित्य प्रकाशन, जयपुर) सं०—2013

77. भारतीय, भवानीलाल—महर्षि दयानन्द और राजा राम मोहन राय—(आर्य प्रकाशन पुस्तकालय, आगरा)

78, भारतीय, भवानीलाल—महर्षि दयानन्द और स्वामी विवेकान्द—(सार्वदेशिक का० प्र० स०, नई दिल्ली) सं० 2030

79. भारतीय, भवानीलाल—महर्षि दयानन्द के भक्त, प्रशंसक और सत्संगी—(लखीमपुर खीरी) 1986 ई०

80. भारतीय, भवानीलाल तथा राजेन्द्र जिज्ञासु (सं०)—स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली (भाग 1-11) (गोविन्द राम हासानन्द, दिल्ली) 1987 ई०

81. मजूमदार, वि० वि०—हिस्ट्री ऑफ इण्डियन सोशल एण्ड पोलिटिकल आइडियाज फ्राम राममोहन टू दयानन्द (बुकलैण्ड, कलकत्ता) 1967 ई०

82. मजूमदार, वि० बि०—प्रिन्सपुल्स ऑफ पोलिटिकल साइन्स एण्ड गवर्नमेण्ट —(मण्डल ब्रदर्स, कलकत्ता) 1961 ई०

83. मधु, मदनलाल (सं०)—समकालीनों की नजर में मार्क्स और एंगल्स— (प्रगति प्रकाशन) मास्को

84. महता, जीवन—राजनीतिक चिन्तन का इतिहास (साहित्य भवन, आगरा) 1986 ई०

85. मल्होत्रा, शान्ता—पोलिटिकल थॉट ऑफ स्वामी दयानन्द - (वार्य स्वाध्याय केन्द्र. नई दिल्ली) 1980 ई०

86. माओत्से तुंग—माओत्सेतुंग की चुनी हुई फौजी रचनाएँ—(करेन्ट बुक डिपो, कानपुर) 1971 ई०

87. मालीवाल, ब्रह्मनाथ – स्थल युद्ध-कला—(चन्द्रप्रकाश एण्ड ब्रदर्स, हापुड़) 1982 ई०

88. मुखर्जी, राधाकमल—दि कल्चर एण्ड आर्ट ऑफ इण्डिया (लन्दन) 1959 ई०

89. मुखोपाध्याय, देवेन्द्रनाथ—आदर्श सुधारक दयानन्द (अनु०-स्वामी अनुभवानन्द)—गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली 1951 ई०

90. मुखोपाध्याय, देवेन्द्रनाथ—दयानन्द चरित (अनु०—घासी राम) (गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली) सं० वि० 1989

91. मुखोपाध्याय, देवेन्द्रनाथ—महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र— भाग 1 (अनु०-घासीराम) (आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर) सं० वि० 2001

92. मैक्डॉनल्ड, ए० सी०—वेस्टर्न पोलिटिकठ थ्योरीज—भाग 1 (न्यूयार्क) 1968 ई०

93. यादव, के० सी० तथा के० एस० आर्य—आर्यसमाज एण्ड दि फ्रीडम मुवमेन्ट भाग 1 (1875-1918 ई०) (मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली) 1988 ई०

94. राम, मंशा—पौराणिक पोल-प्रकाश (द्वितीय संस्करण)—(भगवती प्रकाशन, दिल्ली) 1987 ई०

95. राय, लाला लाजपत—ए हिस्ट्री ऑफ आर्यसमाज—(ओरिएण्ट लॉग मैन्स, बम्बई) 1967 ई०

96. राय, लाला लाजपत—दुखी भारत—(इण्डियन प्रेस, प्रयाग) 1928 ई०

97. राय, लाला लाजपत—महर्षि दयानन्द सरस्वती और उनका काम—(सार्वदेशिक आ० प्र० स०, नई दिल्ली) 955 ई०
98. राय, लाला लाजपत—हिन्दुओं की उन्नति के मार्ग में रुकावटें—(अभ्युदय प्रेस, प्रयाग) 1917 ई०
99. रोला, रोमां—दयानन्द एण्ड आर्यसमाज—(सार्व० आ० प्र० स०, नई दिल्ली) 1983 ई०
100. रोमा, रोलां—भारत का एक ऋषि (अनु०-रघुनन्दन प्रसाद पाठक)—(सार्व० आ० प्र० स०, नई दिल्ली) सं० 2018
101. रोला, रोमां—रामकृष्ण परमहंस अनु० धनराज विद्यालंकार) द्वितीय संस्करण. (लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद) 1971 ई०
102 लास्की, हेराल्ड जे० —राजनीति के मूल तत्त्व—(जार्ज एण्ड अनविन, लन्दन) 1951 ई०
103. वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद—माडर्न इण्डियन पोलिटिकल थॉट—(अनु० डॉ० सत्यनारायण दुबे) आगरा, 1975 ई०
104. वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद—वैदिक राजनीति शास्त्र—(बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना) 1975 ई०
105. वर्मा, एस० पी० -आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त—विकास प्र० (नई दिल्ली) 1980 ई०
106. वाब्ले, दत्तात्रेय—इन्ट्रोडक्शन टू माडर्न इण्डिया एण्ड हिन्दूइज्म—(अपोलो प्रकाशन, जयपुर) 1962 ई०
107. वाब्ले, दत्तात्रेय—दि आर्यसमाज (हिन्दू बिदाउट हिन्दूइज्म)—(विकास प्र० - नई दिल्ली) 1983 ई०
108. वाब्ले, दत्तात्रेय —राष्ट्रीय एकता व चरित्र—(नेशनल प्रेस, अजमेर) 1959 ई०
109 वास्वानी, टी० एल—टार्च बियरर (ज्योतिर्मय-अनु०-धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री) द्वितीय संस्करण, (वेद मन्दिर दिल्ली) सं० 2035
110. विद्यावचस्पति, इन्द्र—आर्यसमाज का इतिहास—भाग 1, 2 (सार्व० आ० प्र० स०, दिल्ली) 1957 ई०
111. विद्यावाचस्पति, इन्द्र—महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र—(विजय पुस्तक भण्डार, दिल्ली) 1950 ई०
112. विद्यावाचस्पति, इन्द्र—स्वराज्य-संग्राम में आर्यसमाज का भाग—(सार्वदेशिक प्रेस, दिल्ली)

113. विद्यावाचस्पति, इन्द्रदेव—ऋषि दयानन्द और राजधर्म—(पीलीभीत) 1964 ई०

114. विद्यालंकार, जयचन्द—भारतीय इतिहास की मीमांसा—(हिन्दी भवन, इलाहाबाद) 1960 ई०

115. विद्यालंकार, सत्यकेतु (सं०)—आयसमाज का इतिहास—भाग 1-5 (आर्य स्वाध्याय केन्द्र, नई दिल्ली) 1982-1986 ई०

116. विद्यालंकार, सत्यदेव—राष्ट्रवादी दयानन्द—(इन्दौर तथा नई दिल्ली) 1946 ई०

117. विद्यामार्तण्ड, पं० धर्मदेव—वेदों का यथार्थ स्वरूप—(जन ज्ञान प्र०, नई दिल्ली) सं० 2031

118. वेदालंकार, प्रशान्त कुमार—महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित राज्य-व्यवस्था—(गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली)1975 ई०

119. वेदालंकार, प्रशान्त कुमार—धर्म का स्वरूप—(गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली) 1982 ई०

120. वेदवाचस्पति, प्रियव्रत—वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त—भाग 1-3—(मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ) 1983 ई०

121. वेदवाचस्पति, प्रियव्रत—वैदिक राजनीति में राज्य की भूमिका—(मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ) 1982 ई०

122. वेपर, सो० एल०—राजदर्शन का स्वाध्याय—(किताब महल, इलाहाबाद) 1973 ई०

123. वैद्य, रामगोपाल शास्त्री—क्या वेद में आर्यों और आदिवासियों के युद्धों का वर्णन है ?—(नई दिल्ली) 1970 ई०

124. शरण, परमात्मा—प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ—(मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ) 1979 ई०

125. शर्मा, पं० रघुनन्दन—वैदिक सम्पत्ति (छठा संस्करण) (बम्बई) 1970 ई०

126. शर्मा, वीरेन्द्र—भारत के पुनर्निर्माण में गाँधी जी का योगदान—(श्री पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली) 1984 ई०

127. शारदा, हरविलास—लाइफ ऑफ दयानन्द सरस्वती—(अजमेर) 1957 ई०

128. शारदा, हरविलास (सं०)—दयानन्द कम्मोमोरेशन वाल्यूम (अजमेर) 1933 ई०

128A. ज्वलन्त कुमार—राष्ट्रीय एकता और दयानन्द—(इलाहाबाद) 1987
129. शास्त्री, दयाशंकर—लोगाक्षिभाष्कर कृत अर्ध-संग्रह— (साहित्य भण्डार, मेरठ) सं० 2028
130. शास्त्री, पं० रामगोपाल—महर्षि दयानन्द की राष्ट्रीय विचारधारा— (भारतीय लोक समिति, दिल्ली) 1962 ई०
131. शास्त्री, पं० विभुमित्र—राष्ट्रीय क्रान्ति के सूत्रधार—स्वामी दयानन्द सरस्वती (नालान्दा) 1973 ई०
132. सन्धू, ज्ञान सिंह (सं०)--राजनीति सिद्धान्त—(दिल्ली) 1988 ई०
133. सरस्वती, स्वामी सत्यप्रकाश - आर्यसमाज संघर्ष और समस्याएँ— (इलाहाबाद) 1987 ई०
134. सरस्वती, स्वामी सत्यप्रकाश—आर्यसमाज : सिद्धान्त और प्रगति (रायबरेली) 1988 ई०
135. सरस्वती, स्वामी सत्यप्रकाश—ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ दि फिलॉसफी ऑफ दयानन्द, (लखीमपुर खीरी) 1984 ई०
136. सरस्वती, स्वामी सत्यप्रकाश—प्रभु के मार्ग पर (इलाहाबाद) 1981 ई०
137. सरस्वती, स्वामी सत्यप्रकाश—स्पीचेज, राइटिंग्स एण्ड एड्रेसेज्— भाग-1-2 (इलाहाबाद) 1981 ई०
138. सरस्वती, स्वामी सत्यप्रकाश (सं०)—महर्षि दयानन्द निर्वाण शती स्मृति ग्रन्थ (अजमेर) 1983 ई०
139. सरस्वती, स्वामी सत्यप्रकाश (सं०)—महर्षि दयानन्द समग्र क्रान्ति के अग्रदूत—(इलाहाबाद) 1985 ई०
140. सरस्वती, सत्यप्रकाश (सं०)—महर्षि दयानन्द के स्वप्नो का भारत— (इलाहाबाद) 1985 ई०
141. सत्यानन्द, स्वामी—श्री मद्दयानन्द-प्रकाश—नई दिल्ली) सं० 2033
142. सामधर, आर० एन०—राजा राम मोहन राय, एशियन प्रकाशन— (नई दिल्ली) 1982
143. सिंह, रणञ्जय—ऋष्यागमन—(अमेठी) सं० वि० 1920
144. सिंह, विजेन्द्रपाल—भारतीय राष्ट्रवाद एवं आर्यसमाज आन्दोलन— (वि० भू० प्रकाशन साहबाबाद) 1977 ई०
145. सिंह, सी० वी०—भारतीय राजनीति में स्वराज्य पार्टी की भूमिका (रचना प्रकाशन, गोरखपुर) 1979 ई०

146. सिंह, सुखवीर – ए हिष्ट्री ऑफ पोलिटिकल थॉट—भाग 1 (रस्तोगी प्रकाशन मेरठ) 1973 ई०
147. सुनन, क्षेमचन्द्र —हिन्दी साहित्य को आर्यसमाज की देन (मधुर प्रकाशन दिल्ली) 1970 ई०
148. सहाय, रघुकुल तिलक —लोकतन्त्र : स्वरूप एवं समस्याएँ (हिन्दी ग्रन्थ अकादमो, लखनऊ) 1972 ई०
149 श्री प्रकाश —दयानन्द देश और आर्यसमाज (इलाहाबाद) 1984 ई०
150. हाब्स, थामस—लेवियायन (इन्ट्रोडक्शन बाई० ए० डी० लिण्डसे) (एव्रीमेन एडिशन) 1914 ई०

(घ) पत्र-पत्रिकाएँ :

1. दि इण्डियन जर्नल ऑफ पोलिटिकल साइन्स, जनवरी-मार्च 1978 ई० अंक XXXIX, भागलपुर, बिहार
2. वेदवाणी—वर्ष 41, अंक 4, 1 जनवरी 1989, बहालगढ़, सोनीपत, हरयाणा
3 स्मारिका अन्तर्राष्ट्रीय आर्यसमाज स्थापना शताब्दी समारोह, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली, दिसम्बर, 1975 ई०

—: ० :—



ग्रन्थकार परिचय

डा० लाल साहब सिंह का जन्म उत्तर प्रदेश राज्य के आजमगढ़ जनपदान्तर्गत मस्तवानी ग्राम में तीन मार्च सन् उन्नीस सौ अट्ठावन ई० को हुआ। राजनीति विज्ञान में एम० ए० (प्रथम श्रेणी) गोरखपुर विश्वविद्यालय से सन् 1979 ई० में तथा पी-एच० डी० की उपाधि सन् 1989 ई० में अवध विश्वविद्यालय फैजाबाद से 'स्वामी दयानन्द का राजनीतिक दर्शन' विषय पर ग्रहण की। सन् 1981 ई० से रणवीर रणञ्जय पोस्टग्रेजुएट कालेज, अमेठी, सुलतानपुर में राजनीति विज्ञान विभाग में प्रवक्ता-पद पर सेवारत। दयानन्द के राजनीतिक दर्शन से सम्बन्धित शोध-पूर्ण लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित।